शुभारम्भ

डॉ नेमीचन्दजी जैन के साहित्य-क्षेत्र मे रचना-काल का शुभारम्भ सन् १९४६ मे होने से १९९६ मे ५० वर्ष हो रहे है। इस अवधि मे उनका लेखन-क्रम/अनुष्ठान निरन्तर/अनवरत प्रगति/विकास की ओर अग्रसर है। विशेषत विगत २५ वर्षों से तो वे अविराम लिखते हुए नये-नये कीर्तिमान स्थापित करते आ रहे है।

पचास वर्षों मे मात्र पचास कृतियॉ उनके व्यापक लेखन मे-से साकार हो रही है। इनका यदि पृष्ठाकन किया जाए तो वह लगभग २,५०० तक पहुॅच जाता है। ये मौलिक कृतियॉ छोटी-बडी होने पर भी अपनी-अपनी विशिष्टताएँ लिये हुए है। इनमे सम्बद्ध विषय को जानने/समझने के लिए पर्याप्त/प्रचुर साम्रगी है।

मानव-जीवन मे, समाज और सस्कृति मे साहित्य की अपनी महत्ता है। वह इन कृतियो मे परिलक्षित होती है। आत्महित और लोकहित मे जो आधारभूत एकता है, वह इन कृतियो मे विविधता होने पर भी समायी हुई है। जीवन के शाश्वत मूल्यो पर आधारित होने से ये कृतियाँ रचनात्मक/विधायक है और तलस्पर्शी/मर्मस्पर्शी होने से मौलिक हैं ही।

अत्यन्त स्वाभिमानपूर्वक स्वाधीन/स्वतन्त्रोन्मुख हो कर/ रह कर वे आगे बढ रहे है। जीवन के परम/चरम सत्य को साध्य मान कर अपनी कृतियो मे उसे साधन बना कर वे साधना मे तत्पर है। उनकी लेखनी से आविष्कृत कृतियाँ अक्षरता/अमरता से आलोकित हो रही है। इनके स्वाध्याय से हम भी अक्षरता/अमरता का अनुभव कर सकते है।

प्रस्तुत पुस्तिका मे उनकी पचास मौलिक कृतियो/रचनाओ/पुस्तको मे-से चयनित अश है विचार-कणिकाएँ है। यह पुस्तिका गागर मे सागर नही है, यह सागर मे-से गागर, सिन्धु बिन्दु है। ५० कृतियो की माला के सुमनो मे जो महक है, सुगध है, चमक-दमक है, ताजगी ते है, यहॉ उसका स्पर्श है, सकेत है, यह तो प्रसादी और बानगी है। इसमे सदर्भित कृति प्रतीकात्मक अश है। आशिक होने पर भी कृतियो मे जो आलोक है, उसकी आभा इसमे है। कृतियो की झाँकी की झलक है और उनमे व्याप्त प्रतिभा की प्रभा है। चयनित अश ओर अग्रसर होने का यह साकेतिक प्रयास है, शुभारम्भ है कि ५० कृतियो के २,५०० पृष्ठो मे-से इतना-सा समय-सीमा मे चयन किया गया है, तो ५० वर्षो मे लिखित १० हजार पृष्ठो मे-से काफी कुछ 'चयन' किया जा सकता है।

(शेष पृष्ठ २ पर)

च य नि का

(डॉ. नेमीचन्द जैन की
पचास मौलिक कृतियों में-से चयनित अंश)

मै वहीं हूँ, जहाँ मुझे होना चाहिये

इन दिनो 'मैं' को अखण्ड-अक्षत रखना बडा मुश्किल है; लेकिन भीड़ में 'मैं' बना रहता हूँ। मैं भीतर से सुबहोशाम कूडा-करकट बुहार फेकता हूँ। आत्म-निरीक्षण ही नहीं, आत्म-परीक्षण तथा आत्म-शोधन के क्षण भी एक दिन मे अनेक बार आते हैं। असली विकास इन्हीं मे होता है। मैं वहीं हूँ, जहाँ मुझे होना चाहिये।

- नेमीचन्द जैन

चयन :

प्रेमचन्द जैन

हीरा भैया प्रकाशन, इन्दौर

जो अनुष्ठान/आयोजन षष्टिपूर्ति (३ दिसम्बर, १९८६) की अवधि मे किया जाना चाहिये था, उसके अब शुभारम्भ का अर्थ है एक दशक पिछड जाना। इसकी पूर्ति के लिए बडी तत्परता/ तीव्रता की आवश्यकता है। षष्टिपूर्ति-वर्ष (६० वॉ वर्ष) और अमृत वर्ष (७५ वाँ वर्ष) के मध्य मे जो ७० वॉ वर्ष है, वह अपने आप मे सभी दृष्टियो से प्रासंगिक है। इसे तैयारी का आधार-वर्ष बना कर एक दशक के अभाव की पूर्ति को अर्द्ध दशक की अवधि मे पूर्ति का साधन/माध्यम बनाया जा सकता है। ७० वे वर्ष मे कृतियो की संख्या ७० तक तो पहुॅचनी ही चाहिये, ताकि अमृत वर्ष के शुभारम्भ के पूर्व ही कृतियो का 'शतक' सार्थक हो सके। १०० कृतियो के लोकार्पण की योजना अमृत वर्ष (७५ वे वर्ष) के शुभारम्भ के पूर्व ही कार्यान्वित होनी चाहिये।

हमारी यह अपेक्षा अवश्य रहेगी कि वे १०० कृतियो की शीर्ष कृति- १०१ वी कृति शिखर कृति के रूप मे अवश्य प्रदान कर अनुग्रहीत करेंगे, जो २१ वी शताब्दी के शुभारम्भ का संदेशवाहक हो, क्योकि उनका अमृत वर्ष (७५ वाँ वर्ष) सन् २००१ के अन्तर्गत होगा। 'जैनधर्म इक्कीसवीं शताब्दी' मे उन्होंने इसकी ओर ध्यान अवश्य आकर्षित किया है। उनकी कृतियो का स्वर प्राय अगामी शताब्दी से अनुगॅुजित है ही। उनमे २१ वीं शताब्दी का/के लिए चिन्तन प्रत्यक्ष/परोक्ष रूम मे देखा जा सकता है। वे २० वी शताब्दी की दशा को २१ वी शताब्दी की 'दिशा' देने मे अपने लेखकीय प्रयास के माध्यम से अविराम अग्रसर है। वे पीछे मुड कर नही देखते, आगे-और-आगे देखने मे ही वे अपनी लेखनी की सार्थकता का अनुभव करते है। प्रार्थना है, वे 'तीर्थंकर' और 'शाकाहार-क्रान्ति' का संपादन करते हुए अहिसा और शाकाहार की मशाल थामे हुए चिरायु हो।

३ दिसम्बर, १९९६ को ७० वें वर्ष-प्रवेश के निमित्त यह अनुज की अग्रज के प्रति मात्र भावनाजलि / आदरांजलि है।

३ दिसम्बर, १९९६

- प्रेमचन्द जैन

चयनिका (डॉ. नेंमीचन्द जैन की पचास मौलिक कृतियो में-से चयनित अश), **चयनकर्ता - प्रेमचन्द जैन © हीरा भैया प्रकाशन**; प्रकाशन **हीरा भैया प्रकाशन, ६५, पत्रकार कॉलोनी, कनाड़िया मार्ग इन्दौर-४५२००१**, (म.प्र) मुद्रण : **नई दुनिया प्रिन्टरी, बाबू लाभचन्द छजलानी मार्ग, इन्दौर-४५२००९** (म.प्र.), टाईप सैटिंग **प्रतीति टाईपोग्राफ़िक्स, इन्दौर ४५२००१** (म.प्र.); प्रथम संस्करण : **३ दिसम्बर १९९६ ; मूल्य : सात रुपये।**

च य नि का

जैनधर्म प्राचीन/प्रगतिशील

जैनधर्म की प्राचीनता के साथ ही इस बात को भी स्वीकार कर लिया गया है कि वह एक परम्परावादी धर्म न हो कर पुरुषार्थमूलक और प्रगतिशील धर्म रहा है तथा राष्ट्रीय चेतना के विकास मे उसकी एक महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। विज्ञान के क्षेत्र मे उसके परमाणुवादी सूक्ष्म चिन्तन को कभी नही भुलाया जा सकता।

जैनधर्म आत्मान्वेषण का धर्म है, चित्तशुद्धि का पराक्रम है, आत्मोपलब्धि का अभिक्रम है।

यह तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर-जैसे आत्मजितो का धर्म है, उनका जो स्वयं को जीतने के लिए अनुक्षण जगे रहते है। यह जनधर्म है, जनगण-मन-धर्म है, विश्वधर्म है।

तीर्थंकर · आत्मविज्ञानी

तीर्थंकर-परम्परा ने प्रखर घाटवाली भव नदी के तट पर घाट तो सुस्थापित किये ही, साथ ही ज्ञान-विज्ञान और सदाचार की सुसज्जित नौकाएँ भी डाल दी। उन्होंने जीवन के सम्यक्त्व का उपदेश दिया और निर्मलता के लिए मन को कैसे जीता जाए इसका एक ज्ञान-शास्त्र दिया। उन्होंने युग-जीवन को परखा-जोखा, लोक-जीवन को गहरे मे उतर कर जाना, आत्मान्वेषण किया और तद्नुरूप धर्म को समझाया।

तीर्थंकर अर्थात् आत्मविज्ञानी, वह कृतित्व जिसने आत्मा को उसकी संपूर्णता, उसकी सफलता मे उपलब्ध कर लिया है। तीर्थंकर प्रयोग-पुरुष थे, उनके जीवन खुली वैधशालाएँ थीं, जहाँ से हम आत्मा के सूर्य और चन्द्र-ग्रहण ताप-शीत भलीभाँति देख सकते थे, देख सकते है। आत्म-नभ की पूरी खोज़बीन करने वाले महापुरुष थे 'तीर्थंकर'। 'तीर्थ' शब्द एक लोक-प्रचलित शब्द है, किन्तु 'तीर्थंकर' एक गहरी व्यजन वाला शब्द है। वह 'सकलज्ञेयज्ञायक तदपि निजानन्दरसलीन' का संक्षिप्त शब्द-संस्करण है।

महावीर : लोकनायक

वर्द्धमान महावीर का उदय लोकशक्ति का उदय था। शक्ति की यह हिलोर व्यक्ति से लेकर समाज के हर छोटे-वड़े अवयव तक पहुँच गयी थी। निराशा के वादल हट गये थे और

लोक एक नयी शक्ति और स्फूर्ति का अनुभव कर रहे थे। धर्म के क्षेत्र मे तर्कसगत ओर वैज्ञानिक चिन्तन की प्रतिष्ठा हुई, स्नेह, परस्पर विश्वास और सहयोग की भावना को स्थान मिला। राजतन्त्र अधिक मानवीय बने, प्रजा ने एक-दूसरे पर विश्वास द्वारा सहअस्तित्व की वास्तविकता और उपयोगिता को समझना आरम्भ कर दिया। अन्तर्विरोधो के बीच भी निर्बाध, निरापद और शान्ति से जीने की कला लोगो को आने लगी। महावीर इसी कला के संस्थापक पुरुष है। उन्होंने प्राणिमात्र को आखिरी सॉस तक स्वाधीन बने रहने की, बोलने की, काम करने की, जीने की और सोचने की स्वाधीनता का सही मार्ग बताया। इससे केवल मनुष्य ही नहीं प्राणिमात्र को आत्मोदय की प्रेरणा और उमग हुई।

(वैशाली के राजकुमार तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर) △

बहुआयामी महामन्त्र

णमोकार महामन्त्र अनन्त बहुमूल्य संभावनाओ का पुँज है। वह आनन्द का अजस्र स्रोत है। वह आत्मावलोकन/आत्मसाक्षात्कार का मूल आधार है। हम इसे समय-सार कहेगे। खयाल रखे, शरीर मात्र शरीर ही नही है, वह अध्यात्म की सूक्ष्मतन्तुक प्रयोगशाला भी है। णमोकार के माध्यम से हम देह मे देहातीत हो सकते हैं। देह देह भले ही हो, किन्तु भला हम इस तथ्य को केसे भुला सकते है कि वह विदेह (आत्मा) का परम सिहासन भी है ? यदि हम सम्प्रदायातीत चित्त से, परिपूर्ण आस्था ओर विश्वास के साथ, इस महामन्त्र को अपनी नसो और श्वासोच्छ्‌वास मे अंकुरित करते है, तो विश्व का ऐसा कुछ भी नही हे, जो दुर्लभ, दुर्लघ्य अथवा अलभ्य हो। एकाग्र मन से इसकी अनासक्त आराधना करे, और जाने कि सदियो से यात्रा कर रहे इस बहुआयामी महामन्त्र मे शक्तियो के कितने महान् और आश्चर्यजनक स्रोत सुप्त हे। उन्हे जगाये, ओर पाये उसे जिसके लिए योगिजन साधना करते हे।

संप्रदायातीत/सार्वभौम

णमोकार मन्त्र जैनो का सम्प्रदायातीत सार्वभौम मन्त्र है, किन्तु इसके सबन्ध मे गहन जानकारी का अभाव हे। हम इसके शरीर-रचना-विज्ञान (अनाटॉमी) को नहीं जानते हे। मन्त्र का सबसे बड़ा काम अनादिकालीन मूर्च्छा को तोडना है। णमोकार मन्त्र मूर्च्छा को भग करता है और अनासक्त बनाता है। णमोकार एक विलक्षण मन्त्र हे जिसमे तन्त्र, मन्त्र, अध्यात्म, चिकित्सा, मनोविज्ञान, दर्शन, तर्क, ध्वनिविज्ञान भाषा-शास्त्र, लिपि-विज्ञान, ज्योतिष इत्यादि गर्भित हे। यह श्रुतज्ञान का सार/नवनीत है। णमोकार मन्त्र मे हम आत्मावलोकन/आत्मानुसधान मे जा सकते हे। वही इसका महत्त्व/गोरव/महिमा है। णमोकार शक्ति-जागृति का महामन्त्र है। वह सोयी हुई शक्तियो को जगाता हे, उन्हे स्फूर्त

करता है। इसमे अद्भुत शामक शक्ति है। णमोकार हमे शब्द-से-अशब्द की ओर ले जाता है। यह हमे पारदृष्टि प्रदान करता है। यह अन्तर्मुख होने की सूक्ष्म प्रक्रिया है। णमोकार मन्त्र के जाप से हम प्रकृति से जुड़ते है, उन कोटि-कोटि महान् और उन्नत आत्माओ से जुडते है, जिन्होंने शताब्दियो-पूर्व इसका जाप किया था और स्वय मे अलख जगाया था। णमोकार मन्त्र की तहो मे हमे चमत्कारो से हट कर वैज्ञानिकताओ का भी अनुसधान करना चाहिये। इसके विधि-विधान को जानना-समझना परमावश्यक है। णमोकार मे पाँच पद है, जिनके रग है क्रमश श्वेत, रक्त, पीत, नील, श्याम। हमे चाहिये कि ध्यान मे हम श्वास की कलम से शून्य की पाटी पर क्रमश इन रगो से इन पदो को लिखते जाएँ और निरन्तर इन्हे गहराते जाएँ। हम 'अक्षर' ध्यान से 'अक्षर' बने तभी इस महामन्त्र का उपकार हम पर हो सकता है। णमोकार की प्रथमाक्षरियो 'असिआउसा' का जाप भी उचित और समीचीन है। णमोकार महामन्त्र विघ्नविदारक तो है ही, शान्त/सुस्थिर/समृद्ध स्थिति मे यह आत्मदर्शन की ओर भी ले जाता है ।

सतत् विकासशील

णमोकार मन्त्र बहुआयामी है। इसके कई आयाम हैं। यह एक पुँज है। बहुत-सी बातो का एक परिवार है। यह मन्त्र हमारे जीवन मे सर्वांश स्पर्श करता है। आत्मोन्मुखता को उद्घाटित करना ही इस मन्त्र की सब मे बडी शक्ति है। इस मन्त्र मे व्यक्ति-शुद्धि के सारे तत्त्व पडे हुए है। जीवन-शोधन की पूरी योजना इसमे अन्तर्निहित है। णमोकार मन्त्र की ध्वनियो मे ओप है, बल है, आत्मविश्वास है। बीजाक्षरो के रूप मे इसमे जो अग्नि बीज निहित है, उनकी ऊर्जा निश्चित रूप से आत्मजागृति के लिए फलदायी है। आज हमारे जीवन मे णमोकार मन्त्र अपनी तेजस्विता /ओजस्विता के साथ इसलिए प्रकट नही हो रहा है कि हम प्राय चमत्कारो मे उलझ जाते है। चमत्कार तो सयोगजन्य है। इस मन्त्र के सबन्ध मे विज्ञान-परक शोधक-वृत्ति की आवश्यकता है। जब तक हम इस मन्त्र को आधुनिक सदर्भ/ वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य मे जानने/समझने का प्रयास नही करेगे, तब तक हममे इसकी विराटता और भव्यता के दर्शन नही हो सकेगे। णमोकार एक सतत् विकासशील महामन्त्र है। यह मन्त्र जड (स्टेटिक) नही है, गत्यात्मक (डायनेमिक) है। यह तो निरन्तर विकासशील है, जैसे बीज मे वृक्ष समाया हुआ है। इस महामन्त्र मे अनन्त-असख्य अन्तहीन शक्तियाँ निहित है, गर्भित है। कोई साधक इसकी सूचना दे जाता है, तो इतना ही पर्याप्त है कि हम इसकी साधना करके आत्मोपलब्धि के अपने ध्येय तक निरन्तर/ अविराम बढ़ते जाएँ।

(बहुआयामी महामन्त्र णमोकार) △

सोऽहम् से बना है ॐ

सोऽहम् का अर्थ है- मै वह हूँ। मै परमात्मा हूँ। इस भावनात्मक सेतु के कारण सोऽहम् एक अत्यन्त शक्तिशाली मन्त्र बन गया है। सोऽहम् का विकास हुआ 'स' कार और 'ह' कार हटे, फलस्वरूप ॐ अस्तित्व मे आया। ध्वनि-विज्ञान की दृष्टि से यह व्युत्पत्ति काफी तर्क-सगत है।

रत्नत्रय

जैनशास्त्रो मे ॐ की एक अन्य निष्पत्ति भी उपलब्ध है। अ-ज्ञान, उ-दर्शन, तथा म्-चारित्र के प्रतीक वर्ण है। इन तीनो वर्णों से निष्पन्न ॐकार 'तत्त्वार्थसूत्र' का प्रथम सूत्र 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग·' का साराश है। इस तरह ॐकार की उपासना का सीधा-सादा अर्थ है मोक्षमार्ग का अनुगमन।

प्रार्थनीय

ॐ दाता है। वह सरल ऐश्वर्य-संपन्न है। उसके खजाने में क्या नही है ? भीतर-बाहर की तमाम नेमते और दौलते उसके कोष में है, इसीलिए योगियो ने उसे 'कामद और मोक्षद' कहा है। ॐ कामनाओ की अभिपूर्ति मे तो समर्थ है ही, उनसे मुक्ति दिलाने की क्षमता भी उसमे है। वह कल्पवृक्ष है, अत प्रार्थनीय है।

निष्कामता

ॐ स्वयं मे एक महान् संदेश है। वह स्वाभाविकता, निरपेक्षता और स्वाधीनता का वार्तावह है। जो निष्काम कर्म करता है वह ॐ है - ॐ का सच्चा आराधक है। इस तरह ॐ का अर्थ हुआ- कामना-रहित हो कर अनवरत कर्मरत रहना। निष्काम कर्तव्य और ॐ समानार्थी है।

समन्वय

अनेकान्त दृष्टि से ॐ के प्रारंभ मे '३' का अंक अनेकानीक भेद व्यवहार का निपेधक और अभेद निश्चय का द्योतक है। इन दोनो के मध्य जो रेखा है, वह व्यवहार-निश्चय का सेतुवन्ध है -सापेक्षता की सूचक सांख्य दर्शन वस्तु को नित्य और बौद्ध आदि अनित्य मानते है। ॐ की मध्यरेखा इन दोनो मान्यताओ को समन्वित करती है।

अहिंसा-जीवन्त

ॐ अहिंसा का जीवन्त/सर्वोत्तम प्रतीक है। इसका 'अ' न घातयति, 'उ' न हन्ति तथा 'म्' न हन्यते के प्रतीक अक्षर है। इसके उच्चारण-मात्र मे अहिसक जीवन-शैली झंकृत है।

नमन-सामर्थ्य

ॐ आत्मा का कम्पन है, जो भीतर जर्रे-जर्रे मे होता है। सारे स्वर खो जाते है, आवाजे तितर-वितर हो जाती है, रोम-रोम मे एक महासंगीत झंकृत हो उठता है इसलिए कहा है कि जो अहम् को जानता है, वही ॐ को जानता है। वस्तुत ॐ को जानना ही अहम् के पार जाना है, नमन के लिए समर्थ होना है।

(ॐ १०० तथ्य) △

सही पहचान

मदान्ध वे ही हो सकते है जिनकी आँखे अन्दर की, बाहर की, बन्द हो जाती हैं, और यदि आँखो मे सम्यक्त्व और औचित्य का अजन अँजा हुआ है तो किसी गलतफहमी का कभी कोई प्रश्न ही नही है। जब हम वस्तु की बुनियादी हैसियत जानने लगते है, तब कोई गलतफ़हमी न तो पैदा होती है और न ही पैदा की जाती है। मद या अहकार का सबसे बडा इलाज है 'वस्तु-स्वरूप' की सही पहचान।

स्वाध्याय

जैसे हम लोहे को खूब गर्म करने के बाद उसे ठडा करते है और इस प्रक्रिया की पुनरावृत्तियो से अधिक प्रहारक/शक्ति-सपन्न बनाते है, ठीक वैसे हम स्वाध्याय के माध्यम से अपनी शक्तियो को समृद्ध/सुदृढ करते है। इस प्रक्रिया को 'टेम्परिग' कहते है। स्वाध्याय विचारो को 'टेम्पर' देने की क्रिया है, जिससे चरित्र मे निर्मलता, साहस, सम्यक्त्व, दृढता इत्यादि उत्पन्न होते है और मनुष्य को एक बेहतर मनुष्य के रूप मे आगे आने का मौका मिलता है।

आधुनिकता

आधुनिकता एक ऐसी करारी चुनौती है जिसे बहुत सावधानी से झेलना है और बहुत अनासक्त चित्त से उसके और परम्परा के बीच एक समीचीन सतुलन बिठाना है। दोनो के बीच हुआ एक रचनात्मक समायोजन व्यक्ति और समाज दोनो के लिए हितकारी सिद्ध हो सकता है।

अज्ञान अभिशाप; ज्ञान वरदान

हम अज्ञान का हर पर्दा छिन्न-भिन्न करे और सम्यक्त्व की अगवानी के लिए अपनी भुजाएँ उन्मुक्त रखे। स्वाध्याय अध्ययन अनुसधान. समीक्षा सत्संग, सावधानी से हम जो पा सकते है वह हम प्रमाद असावधानी और सुस्ती से नहीं पा सकते। जो लोग यह मान लेते है कि जो मै जानता हूँ उतना ही है और वही अन्तिम है। वे अँधेरे मे बने रहते है और अपने

अज्ञान को कभी दूर नही कर पाते, किन्तु जो यह जानते है कि ज्ञान-के-क्षेत्र मे न कोई अन्तिम है और न कोई अन्तिम हो सकता है, अत खोजते रहो, चलते रहो, पाते रहो, पहुँचाते रहो और अपनी झोली का मुँह अधिक पाने के लिए कभी बन्द मत करो। ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र उदारता, विनम्रता, निश्छलता, और सातत्य के क्षेत्र है। वहाँ व्यर्थता के लिए कोई स्थान नही है। अज्ञान से बड़ा कोई अभिशाप नही है, और ज्ञान से बडा कोई वरदान नहीं है।

(जहर अमृत चुनौतियाँ) △

पहला काम : स्वयं को जानना

'मै क्या हूँ, कौन हूँ, -इस परिचय से वचित व्यक्ति जब अन्यो के अते-पते तो जानने लगता है, किन्तु स्वयं का पता भूल बैठता है तो अपने सामने एक बहुत भीषण तवाही खड़ी कर लेता है, इसलिए सब से पहला काम होना चाहिये-स्वयं को जानना, स्वय को पहचानना।

सर्वोत्तम जीवन-शैली है- परिचय सद्गुणो से, अच्छाइयो से, मंगलमय से, और अपरिचय दुर्गुणो से, बुराइयो से, अमंगलकारी से, हम अपरिचय/अज्ञान की दीवारे धराशायी करे और इर्द-गिर्द पर से गर्द हटाते हुए स्वयं को जानने की शुरूआत करे।

घटना एकल नहीं

याद रखे, कोई घटना एकल नही होती। वह अपने आगे-पीछे उपघटनाओ का एक झुण्ड ले कर चलती है। कोई घटना अकेली नहीं है, चमत्कार भी नही है, आकस्मिक भी नही है, तथा अकारण भी नही, अत उसकी शान्त चित्त से समीक्षा वहुत आवश्यक है। चिन्ता और समीक्षा मे फर्क है। चिन्तित हो कर हम उलझते हैं और समीक्षक हो कर सावधान/व्यवस्थित होते है, अत समीक्षा करे, चिन्तित न हो

उपयोग का विशिष्ट अर्थ

'उपयोग' जैनधर्म का एक विशिष्ट पारिभापिक शव्द है, जिसका अर्थ है जीव की वह भावना जो वस्तु-ग्रहण के लिए प्रवृत्त होती है। उपयोग चेतना का रूपान्तरण (परिणति है)। यह द्विविध है- दर्शन, ज्ञान/दर्शन अनुभव है, वह शव्दातीत और अव्याख्येय है। ज्ञान चेतना का वाह्य प्रतिभास है- यह शव्द की पकड मे है, अत व्याख्येय है। उपयोग एकाग्रता की प्रतिध्वनि है, या एकाग्रता उपयोग की यह ठीक से कह पाना संभव नही है, हाँ इतना तय है कि उपयोग एकाग्र होकर वडा-से-वडा काम आसान कर सकता है। उपयोग को अचचल रखना वहुत वडा तप है-किसी दुर्द्धर साधना का शुभारम्भ है।

उपयोग शुभ और शुद्ध

धर्म और पुण्य मे अन्तर है। हम प्राय पुण्य मे तो अपना उपयोग जोतते है, उसे धर्म मे प्रवृत्त करने मे चूक जाते है। पुण्य व्रत, पूजन आदि है (शुभ उपयोग)। धर्म मोह और क्षोभ-रहित आत्मपरिणति शुद्ध उपयोग है। जव हम शुभ-अशुभ उपयोग का उपयोग करते है तब ससार घडते है और जव शुद्ध उपयोग का उपयोग करते है तब परम आनन्द के मान-सरोवर मे डुवकियाँ ले रहे होते है। उपयोग के उदर मे वरदान भी है, अभिशाप भी। सवाल सिर्फ चयन और पुरुषार्थ का है।

सेवा. एक उदात्त जीवन-मूल्य

सेवा एक पवित्र कार्य है, जिसका स्वरूप इन दिनो दूषित हुआ है। हमे उसके परम्परित उज्ज्वल नैतिक/आत्मीय स्वरूप को पुन प्रकट करना है। आज सेवा की जगह स्वार्थ ने ले ली है, अत हमे इसे स्वार्थ के डंक से वचाना होगा और एक उदात्त जीवन-मूल्य के रूप मे प्रतिष्ठित करना होगा।

जागरूकता

जीवन का चाहे जो क्षेत्र हो, जागरूकता हर कदम पर एक शुभाषीश सिद्ध होती है और व्यक्ति के आसपास एक अभेद्य कवच बनाये रखती है।

(अपरिचय) △

जिन/जैन का अर्थ

'जिन' वे महानुभाव है, जिन्होंने क्रोध, मान, माया और लोभ कषायो को जीत कर अर्हन्तत्व प्राप्त किया है। 'जिन' का शव्दार्थ-जो खुद को जीतता है (जयति इति जिन)। जैन शव्द जिन शब्द का विकास है।

जो 'जिन' द्वारा प्रवर्तित जीवन-शैली का अनुगामी है वह- 'जैन' है। जो इन्द्रिय-जय के लिए प्रतिवद्ध है, वह 'जैन' है। जो इन्द्रियो पर विजय पाने वाले अथवा पा चुके महानुभावो द्वारा उपदिष्ट मार्ग पर चल रहा है- अणुत /सपूर्णत वह 'जैन' है।

जैनधर्म जीवन-पद्धति

जिस जीवन-पद्धति को 'जिन' ने जी कर प्रवर्तित/पुष्ट किया है वह जीवन-पद्धति 'जैनधर्म' है। इस तरह जैनधर्म इन्द्रिय-जय के माध्यम से ससार के दु खो पर विजय प्राप्त करने. तथा 'मै देह मे हूँ, मै देह नही हूँ', जैसे तथ्यो की साधना को जीवन्त करने का मार्ग है।

तीर्थंकर : कालजयी व्यक्तित्व

'तीर्थंकर' जैन परम्परा का विशिष्ट शब्द है, जिसका अर्थ है वह महामानव जिसने स्वय तो इस विषम संसार-सागर को पार किया ही, अन्यो को भी उसे पार करने की कला से सुपरिचित कराया। 'तीर्थंकर' अर्थात् वे कालजयी व्यक्तित्व, जिन्होने 'था' और 'गा' की काल-सीमाओ को व्यर्थ कर स्वय को 'है' मे अवस्थित/दृढीभूत किया है।

जैनधर्म : आत्मधर्म

जैनधर्म आत्मधर्म है। अहिसा इसकी भाषा है और अनेकान्त इसकी परिभाषा। आत्मा को जानना, उसे उसकी स्वाभाविकता मे पहचानना और उत्तरोत्तर उपलब्ध करना जैन सिद्धान्त की बुनियाद है। जैनधर्म का कथन है देह और विदेह (आत्मा) एक नही है। देह भिन्न है, आत्मा भिन्न है। देह सीढी है, आत्मा मजिल है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र मार्ग है, दु.ख-परिमोक्ष मार्ग-फल है।

जैनधर्म की नींव

जैनधर्म आचार मे अहिसा, चिन्तन मे अनेकान्त, वाणी मे स्याद्वाद और समाज मे अपरिग्रह के निष्कलुष प्रवर्तन का शंखघोष करता है। अहिसा के मन, वचन और काया से परिपालन से शत्रुताएँ शान्त होती है और अतरग मे मैत्रीभाव के झरने सहज ही खुल पडते है। करुणा धर्म की नीव है। धर्मात्मा आत्मकल्याण के साथ विश्वकल्याण की निर्मल साधना भी करता है। 'सब जीवो के साथ समतामूलक मित्रता' जैनधर्म की नीव की पहली ईंट है।

सार्थक सारांश

जैनधर्म का सार्थक साराश इस तरह है हम कर्ता नही है, मात्र साक्षी है, सृष्टा नही है, सिर्फ दृष्टा है। हम देखते नही है, हमे दीख पडता है, देखने मे रागद्वेष सुलग उठते है और दीख पडने मे मुक्ति का मार्ग प्रशस्त होता है।

(जैनधर्म · १०० तथ्य) △

जैनधर्म : विज्ञान और धर्म

आज जबकि हम इक्कीसवी शताब्दी के प्रवेश-द्वार पर खडे है, हमे चाहिये कि धर्मतन्त्र की स्पष्ट और बेलाग समीक्षा करे। धर्मतन्त्र के निर्माणक तत्व है - दर्शन, अध्यात्म, नीतिशास्त्र, चतु.संघ (समाज), व्यक्ति। हमे चाहिये कि हम इनमे-से हर एक पर विचार करे और देखें कि विगत के संदर्भ मे इन सबके अनागत क्या हो सकते है- अन्य शब्दो मे हम इस तथ्य की खोजबीन करे कि इनका 'कल' क्या था और 'आगामी कल' क्या होगा ?

विज्ञान और धर्म - विशेषत जैनधर्म सवन्धो को निर्धारित करने का काम, आने वाले वर्षो मे हमे पूरी मुस्तैदी से कर डालना चाहिये। ऐसे सैकडो क्षेत्र और तथ्य है, जिन्हे विज्ञान-के-तल पर प्रवर्तित/प्रतिपादित करने की आवश्यकता है। प्रमाणो द्वारा ही हम जैनधर्म के आध्यात्मिक निष्कर्षों की पुष्टि कर सकते है।

इस तरह जरूरी हुआ है इस क्षण कि हम आने वाली सदी के लिए अपने अस्तित्व को मात्र अस्तित्व ही न रहने दे, वरन् व्यक्तित्व मे भी रूपान्तरित करे।

जैनधर्म/समाज • इक्कीसवीं सदी में

आज जव मूल्यगत परिवर्तनो से हमारे तमाम रिश्ते प्रभावित हुए है, तव आने वाली सदी मे होने वाले वैज्ञानिक परिवर्तनो का प्रभाव उन पर न हो यह कैसे सभव है ? अत हमें सहज ही और तुरन्त ही इन वदलते सवन्धो पर पुनर्विचार के लिए तैयार हो जाना होगा। इक्कीसवी शताब्दी के आरभ का श्रावक/श्रमण कैसा होगा, इसका अन्दाज हम इस तथ्य से ही लगा सकेगे कि १९०१ मे जो श्रावक या श्रमण था वह १९५० मे कैसा था और जो श्रावक या श्रमण १९५१ था उसकी स्थिति १९९६ मे क्या है ? वहुत स्पष्ट है कि इस वीच श्रावक/श्रमण का चेहरा काफी वदला है।

इधर विज्ञान ने कुछ और-और सभावनाएँ खड़ी की है। वह मनुष्य की उम्र वढाने के प्रयोग भी कर रहा है। उम्र /आयु का मतलव अव सिर्फ गिनी हुई साँसे या वर्ष नही है, उसका और अर्थ भी है। कहा जाता है कि मनुष्य अपनी उम्र के एक तिहाई भाग को नीद मे काट देता है, किन्तु यदि क्षति-ग्रस्त कोशिकाओ की मरम्मत नींद के अलावा किसी और स्थिति मे की जा सके तो उसका एक तिहाई वक्त या इसका कोई भाग वचाया जा सकता है। यदि इस हिस्से का उपयोग वह अधिक काम करने मे करता है तो निश्चय ही यह माना जाएगा कि उसकी उम्र मे वृद्धि हुई है। यदि आज कोई दो सौ वर्षों का काम ७० वर्षों मे सपन्न कर लेता हो तो यद्यपि उसकी पार्थिक उम्र ७० वर्ष होगी, किन्तु विचार की दुनिया मे उसे २०० वर्ष माना जाएगा। जो आदमी ७० वर्ष जी कर आस्रव-वन्ध कर रहा था वही आदमी यदि अधिक घूमता या जागता है या काम करता है तो जो आस्रव-वन्ध दो सौ वर्षो मे करता था उतना/ सव वह ७० वर्षो मे ही कर लेगा। निर्जरा पर भी सभवतया यही स्थिति लागू होगी। वस्तुत संदर्भ जितने वढ़ेगे, जटिलताएँ भी उतनी ही वढ जाएँगी, हमे इसी रफ्तार मे अधिक प्रखर और सामयिक होने की आवश्यकता होगी।

क्या हम आने वाली शताब्दी मे इन सारी स्थितियो पर विचार करने के बाद ही पाँव रखना पसन्द नही करेगे, या फिर समय जिस तरह हमे विवश करेगा लगातार वैसा करते चले जाएँगे ?

हम जानते हैं कि विज्ञान के कदम बहुत तेज है। उनकी रफ्तार हमारी कल्पना से परे है। साफ है अगली सदी मे कागज नही होगे (शास्त्रो का क्या होगा ?) कम्प्यूटरो (संगणको) का इस्तेमाल धडल्ले से होने लगेगा, आकाश मे जगह-जगह कृत्रिम सूर्य दमकने लगेगे (तब रात्रि-भोज की स्थिति क्या होगी ?), रासायनिक अस्त्रो के कारण युद्धो के चेहरे बदल जाएँगे, समृद्धियो की वजह से लोग लगातार गरीब होते जाएँगे। अन्तरिक्ष मे बस्तियाँ बस जाएँगी, पग-पग पर यन्त्र होगे, रोबोट होगे। 'रोबोट पण्डित' हमारे कर्मकाण्ड अधिक सफलतापूर्वक सपन्न करा सकेगे। तरह-तरह के खाद्य पदार्थ होगे; किस्म-किस्म की दवाइयाँ होगी (बीमारियाँ भी), आनुवाशिकीय अभियान्त्रिकी के कारण हमारी जीव-सबन्धी मान्यताओ को करारी चुनोतियो का सामना करना पडेगा, हमारी कई पुरानी धारणाएँ तेजाब-के-घोल मे तडपने को होगी- तो क्या इस सब से पहले हम अपने घर की साल- सभाल की जिम्मेदारी से चूक जाएँगे और खोजना नहीं चाहेगे कि कहाँ किस कोने मे कोई ऐसा दीपक जल रहा है जिसकी रोशनी मे हम इन सारी बदली हुई स्थितियो के समाधान पा सकते है ?

(जैनधर्म इक्कीसवी शताब्दी)

है, एक साफ-सुधरी वैश्विक (ग्लोवल) दृष्टि का उदय तब हममे होता है। इस तरह सामायिक व्यक्ति को तो शुद्ध करती ही है, उसके जरिये वह समाज को भी स्वच्छ बनाती है।

वस्तुत यह आध्यात्मिक विकास का सर्वप्रथम सोपान या मूलाधार है। जैसे किसान वावनी (बुवाई) से पहले अपना खेत तैयार करता है, वैसे ही सामायिक-के-द्वारा एक साधक अपना खेत (शरीर) तैयार करता है।

(जीवन-पीयूष) △

स्वाध्याय की प्रक्रिया

स्वाध्याय से जो अन्तर्दृष्टि बनती है उसकी गहराई, उपयोगिता और निर्मलता को शब्दो मे प्रकट करना संभव नही है। स्वाध्याय मे हम समग्र हो कर किसी वात को समझने-बूझने का यत्न करते है, वहाँ कोई दवाव या लाचारी नही होती, इसीलिए हम स्वाध्याय की भावनात्मकता के साथ उसकी कर्मनिष्ठा के भी पक्षधर है। स्वाध्याय से प्राप्त आलोक को हमे अपने क्रिया-कलाप मे प्रतिविम्वित करना चाहिये। स्वाध्याय के वाद की यह साहजिक क्रिया है। हमे चाहिये कि जो कुछ हमारे अतरग मे सुलगे, स्फूरित हो उसकी गर्मी और सुखद रोशनी का लाभ समाज को दे, और सच यह है कि आप दे या न दे, यदि आप सच्चे स्वाध्यायी हैं तो आप मे उठी रोशनी समाज तक पहुँच ही जाएगी। सूरज को और स्वाध्याय को क्षितिज पर उदित सूरज को सकीर्णता की हथेली से ढाँकना सम्भव नहीं होता, उसकी मृदु रश्मियाँ इस या उस मार्ग से अपने एक गन्तव्य तक अवश्य पहुँच जाती है। इसलिए स्वाध्याय के साथ हम नयी भूमियो और भूमिकाओ को खोजे और उसके वाद आत्मोत्थान करते हुए समाज को उसका देय दे। जोत पर जोत प्रज्ज्वलित हो ज्ञान का ऐसा अभिक्रम स्वाध्याय की प्रक्रिया मे अन्तनिर्हित है। सम्यक्त्व के स्वाध्याय [illegible] उपाय रत्नत्रय-सहित आत्मा का अनुभव सम्यक्त्व की अनुभूति है। [illegible] है और कोई तन्त्र-मन्त्र नही है जो आत्मोदय की निर्मल दशा [illegible] हो।

स्वाध्याय : ग्रन्थ/निर्ग्रन्थ

जब हम ग्रन्थ-स्वाध्याय मे-से निष्णात हुए [illegible] तब सच मानिये भेद-विज्ञान के तमाम वैभव [illegible] अन्तहीन ज्ञानलोक मे कृतकृत्य हो उठते हैं।

(जिन [illegible])

अ-युद्ध संस्कृति के प्रणेता

बाहुबली ने अ-युद्ध का मार्ग आविष्कृत किया। वे शान्ति के शिल्पी बने। अ-युद्ध यानी अहिसा। उन्होने अहिसक सस्कृति का सृजन/शिल्पन/प्रवर्तन किया। बाहुबली विश्व के प्रथम महापुरुष थे, जिन्होने सार्वजनिक अहिसा का मंगल पाठ ससार को दिया। उन्होंने जनता-जर्नादन को युद्ध की भट्टी मे झोंकने से इनकार कर दिया। मानव-सभ्यता के शैशव मे ही स्पष्ट कर दिया कि सघर्ष ज्यादातर वैयात्तिक होते है, और फिर उनकी लपटे फैल कर सारे समाज को भस्म कर डालती है। बाहुबली ने हिसा की असख्य आशकाओ मे बीच अहिसा का शंखनाद किया। सिद्ध किया कि अहिसा जननी है सुख की, शान्ति की, समृद्धि की, बन्धुत्व की। वे प्रथम पुरुष थे जिन्होंने युद्ध से युद्ध किया। अ-युद्ध की सत्ता को स्थापित किया। इस प्रकार उन्होने निरीहों की रक्षा की और अ-युद्ध सस्कृति को जन्म दिया।

(अ-युद्ध पुरुष) △

युग-प्रवर्तक

ऋषभनाथ, भरत और बाहुबली क्रमश परम साधना, सेवा और शान्ति की प्रतीक विभूतियाँ है, जो हमे उन उदात्त जीवन-मूल्यो के पुनरुज्जीवन की प्रेरणा देती है, जो आज लुप्तप्राय: है, और जिनके अभावमे आज चारो ओर असंतोष और आक्रोश है।

उदात्त योगदान

भगवान् ऋषभनाथ ने श्रमधर्म और श्रमणधर्म का प्रवर्तक किया। 'श्रम' श्रावको के लिए और 'श्रामण्य' श्रमणो के लिए। प्रवृत्तों के लिए श्रम और निवृत्तो के लिए श्रामण्य/तप। उन्होंने चतु सघ बनाया। इस संघ मे साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका थे। संघ मे नर-नारी को समान महत्त्व दिया गया। भगवान् के वैराग्य की घटना जहाँ एक ओर उनकी कला-प्रियता की परिचायिका भी है वही वह समृद्धियो मे निर्लिप्तता की ओर आने का संदेश देती है। वह इस बात की परिचायिका भी है कि उनके समय मे मनुष्य ने न सिर्फ आर्थिक ऊँचाइयो को उपलब्ध किया था अपितु आध्यात्मिक ऊँचाइयों को भी प्राप्त किया था। भारत का चक्रवर्तित्व और बाहुबली की घोर तपश्नर्या उनके इसी द्विविध विकास के सूचक हैं।

आलोक त्रिभुज

लाखों वर्ष हुए जब प्रजापति भगवान् ऋषभनाथ ने हमारी इस धरती को धन्य किया था। उनके पुत्रो मे-से भरत के नाम से इस महान् देश का नामकरण भारत हुआ और प्रथम मोक्षगामी बाहुबली ने युद्ध-जैसी विभीषिका को एक अहिंसक और दार्शनिक मोड

दिया। इस आलोक त्रिभुज-आदिनाथ, भरत, बाहुबली मे न केवल इस देश अपितु पूरे विश्वधर्म की व्याख्या सभव है उसे समझा जा सकता है।

(मानव-सस्कृति के आदि-पुरस्कर्ता भगवान् ऋषभनाथ) △

मेरी भावना : लोक भावना

समय और सामायिक मे 'सम्' और 'अय्' दोनो है। पहले स्थिति फिर गति। सामायिक स्थिति/गति दोनो है। पहले हम स्वय मे सुस्थित/अडिग होते है और फिर अपरपार वेग मे आत्मोन्मुख हो निकलते हैं। हमारे पग-का-वेग, उसकी रफ्तार बढ जाती है वस्तु-स्वरूप की खोज-यात्रा मे। सहनशीलता प्रकट होने लगती है रोम-रोम मे। इष्ट-अनिष्ट की खाइयाँ पार कर हमारा चित्त समत्व मे गहरे उतरने लगता है। मृत्यु और जीवन के अर्थ बदल जाते है हमारी मनीषा मे। मृत्यु मृत्यु नही होती, जीवन होती है। हम उसके जर्रे-जर्रे को जानने लगते हैं और खोजते लगते है उस सातत्य को जो जीवन का सातत्य है और जहाँ मृत्यु की स्पष्ट मृत्यु है। रागद्वेष का तो वहाँ सवाल ही नही है। मेरी भावना के सिर्फ ग्यारह छन्दो की निरापद गलियो से गुजर कर हम ऐसे परम तपोवन मे होते है।

जैनत्व : रचनात्मक दिशा

जिसका मन उजला है, तन उजला है, वचन उजला है, उसे कुछ और करने की जरूरत ही कहाँ रहती है ? जिसकी कथनी-करनी मे एकता है, उसे भला और क्या चाहिये ? जिन-वाणी ऐसे ही सपूतो को जन्म देना चाहती है। हमारे जैनत्व को एक नयी रचनात्मक दिशा और रोशनी प्रदान कर सकती है।

(मेरी भावना) △

'भक्तामर' का श्लोक : गहरा कुआ

कुआ जितना ऊँडा होता है, जल उतना ही मधुर, निर्मल और विश्वसनीय होता है। जल की निर्मलता, मिठास और शीतलता कुए की गहराई पर निर्भर करती है। स्तोत्रादि के सबन्ध मे भी ऐसा ही है। इनमे आप जितने गहरे जाएँगे, स्वानुभूति की मिठास और वैमल्य उतने ही अधिक आपकी अजलि मे सिमिट जाएँगे। 'भक्तामर' का हर श्लोक एक गहरा कुआ है। इसमे आप जितने गहरे अपना चित्त-पात्र दर्शन की डोर से बाँधकर डालेंगे उतना ही निर्मल/मीठा जल आपको मिलेगा। मानतुग ने जिस निर्मलता ने श्लोक-सृष्टि की है यदि उस/उतनी, गहरी/निष्कलुष पतित-पावनी /निष्काम भूमिका पर बैठ कर हम रसास्वाद लेंगे तो अनायास ही जीवन के ऐसे किसी तुग शिखर पर जा पहुँचेगे जहाँ प्रकाश के अलावा कुछ होगा ही नहीं। 'सही पहुँच, सही गन्तव्य' के सूत्र पर हमे, वस्तुत, चलना होगा ताकि हम अपनी सपूर्ण यात्रा निर्बाध सपन्न कर सके।

उदाहरणार्थ भक्तामर का १६ वे श्लोक पर आइये। इसके प्रथम शब्दोच्चार के साथ ही आपका ध्यान उस दीप की ओर चला जाता है जो आपकी काया मे आठो याम पूरी अखण्डता मे वल रहा हे। यह दीपक तीनो लोको को उजागर करने वाला है। आप है ऐसे दीपक, मे हूँ ऐसा दीपक, वे हे ऐसे दीपक। ध्यान उस परम आराध्य की ओर जाता है, किन्तु यह वीतरागा भक्ति जिसमे ध्यान 'उस ओर, इस ओर, दोनो ओर' पूरी अप्रमत्तता मे जाता है। उस ओर से प्रत्यावर्तित ध्यान जव इस ओर आता है तव फिर एक ऐसा दीया अपनी परम ज्योति में प्रज्ज्वलित दीख पडता है जिसमे न तेल है, न बाती है, न काजल है। इस तरह इस श्लोक मे वर्णित दीपक उस परम ज्योति का परम प्रतीक है जो अन्तिम सत्य है।

भक्तामर मे जिन प्रतीको और रूपको का प्रयोग हुआ है, वे भी महत्व के हैं। इनके माध्यम से जैनधर्म के बुनियादी सिद्धान्त तो विवेचित है ही, आत्मबोध के लिए भी राजमार्ग खुल गया है।

(भक्तामर स्तोत्र) △

पर्युषण की सत्ता/महत्ता

पर्युषण निर्मल आध्यात्मिक शक्तियो को उद्घाटित करने वाला पर्व है। जिस छैनी पर जग लग जाती है, पर्युषण भेद-विज्ञान की उस छैनी पर शाण देने का पर्व है। वह स्थूल और सूक्ष्म; आत्म और अनात्म को अलग-अलग करने वाला पर्व है। उसकी अपनी सत्ता और महत्ता है। पर्युषण भीतरी बनावट को समझने-सँवारने का पर्व है। आन्तरिक रचना की सूक्ष्म समझ द्वारा स्वयं की मौलिकताओ को उघाडने और उन्हे माँजने-सॅवारने का पर्व है।

आजीवन चलने वाला पर्व

पर्युषण जीवन-भर चलने वाला पर्व है। दस दिन तो इम्तहान और परख के है कि हमने विगत पर्युषण का अपने और दूसरो के जीवन को उठाने मे कितना/क्या उपयोग किया ? हम अपनी जिन्दगी के चिराग पर जहाँ भी कोई काजल आ लगा हो उसे इन दिनो मे खिरा कर रोशनी को बढा सकते है। पर्युषण मे हम जीवन के जिन दस संस्कारो का उपयोग या अभ्यास करते है, यथार्थ मे वे जीवन से अहंकार के क्रमबद्ध निर्वासन की ही तगडी तजबीज है, इसीलिए क्षमा से उठते-उठते हम दशलक्षण महल की नवी सीढी आकिचन्य पर पैर रखते-रखते ब्रह्मचर्य (वसुधैव कुटुबम्यु) जो कि देहलीज है, का आचरण अपने जीवन मे स्वाभाविक-रूप मे उतरता हुआ पाते है। संक्षेप में, पर्युषण व्यक्ति और लोक के लिए एक आध्यात्मिक अनुष्ठान है।

(पर्युषण : उष पान जीवन का) △

स्याद्वाद विश्लेषण, अनेकान्त संश्लेषण

स्याद्वाद और अनेकान्त चिन्तन की प्रक्रिया है, ये स्वत ज्ञान नही है, ज्ञान तक पहुँचने के सुविचारित माध्यम हैं। ये सम्यक्त्व-बोध-रूपी रथ के सुदृढ चक्र है। स्याद्वाद विश्लेषण है, अनेकान्त सश्लेषण, एक तथ्यो को उद्घाटन की स्थिति है, एक इस तरह से जाने हुए तथ्यो की सौन्दर्य-रचना का साधना है। स्याद्वाद विज्ञान है, अनेकान्त कला है। इसलिए सप्तकोणी विज्ञान पहले आया है, और अनेकधर्मा अनेकान्त तदुपरान्त। विज्ञान तथ्यो का मर्म खोल रहा है और उन तथ्यो को जोड कर एक सुन्दर/सुघड प्रतिमा तैयार कर रहा है। जो लोग स्याद्वाद और अनेकान्त को एक रूप मान कर चलते है वे भूल करते है,वास्तव मे स्याद्वाद औरअनेकान्तवादएक ही सिक्के के दो पक्ष है स्याद्वादमुख हैं,अनेकान्त रक्त-सचार।

जीवन का मंगलाचरण

विना किसी शास्त्रीयता मे प्रवेश किये हम कह सकते है कि स्याद्वाद और अनेकान्तवाद अपनी अधिकाधिक सपूर्णता मे व्यवहृत हो कर एक सुखद प्रजातात्रिक जीवन का मगलाचरण बन सकते है।

(एकान्त अपना-अपना अनेकान्त सबका) △

सफल और सत्यनिष्ठ नेतृत्व

'आज' और 'अभी' मे ठहरना वहुत कठिन काम है। ज्यादातर लोग 'वीते कल' या 'आगामी कल' मे ठहरे होते है- 'आज' मे रुकना-ठहरना उनके लिए एक क्षणाश को भी सभव नही होता, किन्तु एक सफल और सत्यनिष्ठ नेतृत्व 'आज' और 'अभी' मे ठहरता है- वहाँ पडाव डालता है - उनसे विचार-विमर्श करता है और उनकी नाड़ी पर हाथ रखने के वाद ही अपने अगले पडाव का निर्धारण करता है। ऐसे विलक्षण व्यक्ति के लिए सपूर्ण भविष्य उत्तरोत्तर प्रखर 'आज' होता रहता है। वह 'आज' हो रहे 'कल' को अपनी योजनाओ की वुनियाद वनाता है और अत्यन्त जागरूक चित्त से आगे वढता है।

साध्य-साधन-शुद्धि

न केवल हमारा साध्य पवित्र और उत्तम हो अपितु हमारा साधन भी उतना ही प्रामाणिक, नैतिक, उज्ज्वल और साफ-सुथरा हो। साधन यदि पवित्र होगा तो ऐसा कोई कारण नही है कि सिद्धि या साध्य कलुषित हो। सिद्धि-की-शुद्धि, साधन-की-शुद्धि पर निर्भर करती है।

उपकार और सहअस्तित्व

हम उपकार और सहअस्तित्व की भावना की अनुपस्थिति मे एक पल भी सुख से नही

बिता सकते, इसलिए विज्ञान के निरन्तर प्रवेश मे हमे परस्पर उपकार की भावना से शास्त्र को खोजना चाहिये और उसे जीवन मे उँडेलना चाहिये।

(हम अन्धे . पाँच अन्धे) △

अहिंसा : सर्वोपरि

अहिसा जैनधर्म का निचोड है। सार है। नवनीत है। वह न हो तो जैनाचार अर्थहीन है। अहिसा सिरमौर है जैन आचार-धर्म की।अहिसा जैन जीवन-पद्धति की प्राण है। वही सर्वस्व है। जैनो का ऐसा कोई काम नही हो सकता, जहाँ वह अनुपस्थित हो। इस प्रकार अहिसा सर्वोपरि है। वह शीर्षस्थ है। अहिसा के अभाव मे जैनाचार एक पग भी आगे नही बढ सकता।

जीवन-पद्धति

अहिंसा भारतीय जीवन की मुख्य आधार-भूमि है, जैनाचार की जननी है। उसके परिपालन में सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य का परिपालन स्वयमेव सन्निहित है। अहिसक जीवन-पद्धति के कई पहलू हैं। हमारा सोचना तो अहिसक हो ही, हमारे शब्द, हमारा व्यवहार भी अहिसामूल हो। हम जो बोले, या हम जो / जब करे उस सबमे प्राणिमात्र के प्रति एक व्यापक शुभकामना हो। अशुभ तो हम किसी का कभी सोचे ही नही।

विश्व की माता

अहिसा जगज्जननी-विश्व की माता है, अहिसा आनन्द का सर्वोपरि मार्ग है। अहिसा सब धर्मों का सार है, सब व्रतो मे श्रेष्ठतम है।

(अहिसा है हमारी माँ) △

यह कैसा सर्वांगीण विकास

आश्चर्यजनक है जिस देश को अहिसा, करुणा, दया और भाईचारे का सदेश दुनिया को देना चाहिये, वह अब माँस, मछली और अण्डो का प्रमुख निर्यातक देश बनता जा रहा है, और बडी गर्वोक्ति कर रहा है कि उसका सर्वांगीण/बहुमुखीन विकास हो रहा है।

आत्मघाती

हम जिस अर्थव्यवस्था की ओर अन्धाधुन्ध गति से कदम बढ़ा रहे है वह आगे जा कर आत्मघाती सिद्ध होने वाली है। निजीकरण (प्राइवेटाइजेशन), उदारीकरण (लिबरेलाइजेशन),विश्वीकरण (ग्लोबेलाइजेशन) जैसे शब्द लगते आकर्षक है, किन्तु

देश की समृद्धि को उखाड फेकने वाले है। ये प्रवृत्तियाँ राष्ट्रीय समृद्धि मे कुछ जोडेगी, ऐसा सोचना सिर्फ भ्रम है, एक दु स्वप्न।

अहिसा के अर्थ-तन्त्र मे जीवन की गुणवत्ता

कुल मिला कर जीवन की जिस गुणवत्ता को हम हिसा के रास्ते चल कर गँवा वैठे है, उसे लौटाने के लिए अहिसा-का-मार्ग फिर पकडना होगा। हमे यह जानना होगा कि हिसा-के-अर्थतन्त्र मे मनुष्य (प्राणिमात्र) गौण और अन्य वस्तुएँ मुख्य हैं।

(अहिसा का अर्थशास्त्र) △

महावीर को वन्धन-मुक्त रखे

महावीरत्व की वर्णमाला को जो प्राँजल-निर्मल हृदय से ग्रहण करते है, उनके सामने न तो कोई उलझन ही वची रहती है और न ही कोई द्वन्द्व शेष रह जाता है, धन तो ऐसे साधको के लिए अत्यन्त गौण हो जाता है। उनकी तमाम मूर्च्छाएँ शान्त हो पडती है, किन्तु दुर्भाग्य यह है कि जिस महामनीषी के जीवन मे दौलते और दौलतमन्द शून्य हुए थे, आज उसी के नाम पर दौलते इकट्ठा हो रही है, वडे-वड़े प्रासाद और दुर्ग खडे हो रहे है और उनमे उसे कैद किया जा रहा है। क्या ऐसा कुछ सभव है कि हम महावीर को वन्धन-मुक्त रखे और उन्हे पूरे जगत् का वनाये ?

महावीर का क्रान्ति-पाठ

महावीर सम्यक्त्व पुरुष थे/है। वे उत्तम पौरुष मे जीवन्त थे। 'मै कौन हूँ', 'मै क्या हो सकता हूँ' इस पर महावीर क्रान्ति टिकी हुई थी। आज हमारी झूटी क्रान्ति 'वह कौन है', 'वह कैसा है', 'वह क्या करता है/कर सकता है' की थोथी -खोखली नींव पर टिकी हुई है। जव तक हम 'मै' को नही पकडते, आत्मालोचन और आत्मावलोकन नहीं करते, कोई क्रान्ति नहीं हो सकती। क्रान्ति का अक्षर-ज्ञान पहले स्वय को होना चाहिये। हम कर इसके विल्कुल विपरीत रहे हैं। दूसरो को क्रान्ति-पाठ दे रहे है। स्वय किनारा कस रहे है। जव भी ऐसा कर रहे है तो मान कर चलिये कि कही कुछ नही हो रहा है, इसलिए महावीर जो करना-करना चाह रहे है वह पूरपार 'मै' से संवन्धित है। उत्तम पुरुष का 'उत्तम' केवल व्याकरण का कोई निष्प्राण शब्द नहा है वह पुरुष की हर श्रेष्ठता से जुड़ा हुआ है।

महावीर की भाषा-क्रान्ति

महावीर की भाषा-क्रान्ति को समझने के लिए दो शब्दो को समझने की जरूरत है 'ज्ञान' और 'समझ'। 'जानना' समझना नहीं है, 'नोइंग इट इज नॉट अन्डरस्टेंडिंग'। ज्ञान और सम्यग्ज्ञान मे नोइंग और अन्डरस्टेंडिंग का फर्क है। ज्ञान मे हम जानते है, समझते नहीं

है; सम्यक्ज्ञान मे हम जानते भी है और समझते भी है। समझना कई बार भाषा की अनुपस्थिति मे भी घटित होता है। वह गहरी चीज है। मर्म की पकड उसके सपूर्ण आयामो मे समझ है, शब्द की या परिस्थिति की पकड केवल एक ही आयाम मे ज्ञान है। महावीर ने अन्डर स्टेडिग की ओर ध्यान दिया, और यह परम्परित भाषा या शस्त्र से सभव नही था। इसके लिए साफ-सुधरा जीवन-तल चाहिये था। महावीर की भाषा-क्रान्ति की सबसे बडी विशिष्टता यही है कि उसने लोक जीवन की समझ को पुनरुज्जीवित किया। शास्त्रको खारिज किया और सम्यग्ज्ञान को प्रचलित किया। आज के अभिशप्त आम आदमी को भी महावीर मे एक सहज स्थिति का अनुभव हो सकता है।

(प्रणाम महावीर) △

जैन आहार और अहिंसा का चोली-दामन-सा रिश्ता

जैन जन आहार की मर्यादाओ और विशेषताओ, उसकी वैज्ञानिकताओ और गुणवत्ताओ को विस्तृत करने लगा है। पीडादायी यह है कि वह ऐसा करने मे स्वय को गौरवान्वित तथा अद्यतन/आधुनिक मान रहा है।

अहिसा प्रीति है। आत्मीयता है। सहअस्तित्व है। मनुष्य के मनुष्यत्व प्रदान करने वाला एक अद्वितीय आधार है। उसने ही मनुष्य को प्राणिजगत् का सिरमौर बनाया है। जैन आहार मे अहिसा हवा की तरह सर्वत्र व्याप्त है। हिंसक का मतलब हिसा की शत-प्रतिशत अनुपस्थिति नही है, बल्कि उसका मतलब है हिसा का क्रमश न्यूनीकरण, उसकी प्रयत्नपूर्वक उत्तरोत्तर अनुपस्थिति। हमे यह अच्छी तरह से समझने की आवश्यकता है कि जैन आहार और अहिसा का चोली-दामन-सा रिश्ता है।

जैनाचार मे आहार पर बडी गहराई और सिलसिले से विचार हुआ है। उसमे श्रावक/श्रमण दोनो के आहार की यथाप्रसग/समीचीन विवेचना की गयी है।

(जैन आहार विज्ञान और कला) △

वरक़-निर्माण की संपूर्ण प्रक्रिया क्रूर, हिंसा, अपावन, वर्बर

वरक-निर्माण की सपूर्ण प्रक्रिया क्रूर, हिसक, अपावन और वर्वर है, अत उन लोगो को जो अहिसा मे आस्था रखते है ओर 'अहिसा परम धर्म है' इस तरह का नारा अपने ध्वज पर अंकित करते हे, उन्हे किसी भी स्थिति मे वरक का उपयोग नही करना चाहिये।

हम ज्यो-ज्यो वरक-निर्माण की प्रक्रिया का गहन ओर व्यापक अध्ययन करते जा रहे है, यह सचाई उभर कर सामने आने लगी है कि वरक का जैन कर्मकाण्ड से कोई रिश्ता या

मरांकार नहीं है। वह अनजाने मे अपनी सम्मोहकता के कारण हमारी पूजा-और-सज्जा-विधि का एक अवयव वन गया है, अन्यथा वह त्याज्य और निन्द्य है। वरक का हमला सिर्फ धर्म के आचार-पक्ष पर ही नहीं है. वरन् औपाधियो और खाद्य-पदार्थो पर भी हुआ है। हमे यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिये कि वरक शाकाहार नही है, वह स्पष्टत मासाहार है।

(वरक़ माँसाहार है) △

नमस्कार वहुआयामी शब्द

मुझे नमस्कार प्रिय है। एक तो इसमे किसी वर्ग या सप्रदाय की कोई गध नही है, दूसरा यह मानव-सभ्यता का एक वुनियादी शब्द है, और जैनो को तो प्रसन्नता होनी चाहिये कि इसमे, चूँकि उनका विश्व-विख्यात महामन्त्र 'नमस्कार मन्त्र' के नाम से ही जाना जाता है। जव हम सिद्धो, अर्हन्तो आदि को नमस्कार कर सकते है तव एक-दूसरे को क्यो नही कर सकते ? 'नमस्कार' शब्द की जडे पाताल तक फैली हुई है। यह वडे गहन अर्थ वाला शब्द है।

जिस तरह 'नमस्कार महामन्त्र' वहुआयामी है, ठीक वैसे ही 'नमस्कार' शब्द भी वहुआयामी है। इसमे पर्त-दर-पर्त भिद कर देखिये। इसकी हर पर्त मे कोई-न-कोई सत्योन्मुख रहस्य विद्यमान है। यह स्वाधीनता और स्वाभाविकता का दिव्यघोषपरक शब्द है। इसके उपयोग से रोम-रोम खुल पडता है और अहंकार शेष होने को होता है। 'नमस्कार' शब्द जहाँ एक ओर आरभक शब्द है, वही दूसरी ओर वह जीवन-विकास के एक सुव्यवस्थित कार्यक्रम का सूचक शब्द है। 'नमस्कार महामन्त्र' का जो क्रम उपलब्ध है वह अद्भुत है। श्रेष्ठताओ की यात्रा की ओर इगित करने वाले इस शब्द को 'नमस्कार' नहीं करेंगे क्या ?

दर्शन का व्यवहार-पक्ष

दर्शन का भी व्यवहार-पक्ष है, जो प्राय ढँका रहता है। इसे ढूँढ निकालने मे वहुत कम लोग सफल होते है। सोने की खदान मे सोना मिलता है, किन्तु वह माटी मे भिदा रहता है, उसे आँच दे कर अलगाना होता है। आज हम स्वस्थ चिन्तन का तप कहाँ करते है? सवर्गो के गोरखधन्धे मे इतना उलझ जाते है कि निजता का छोर लगभग लुप्त हो पड़ता है।

दान के लिए स्वस्थ मानसिकता

मैं दान के लिए एक स्वस्थ मानसिकता के सृजन मे लगा हुआ हूँ। दान की आज जो स्थिति है वह अत्यन्त दयनीय है। ज्यादातर लोग 'दान' के बदले 'प्रतिदान' चाहते है।

निष्काम चित्त से दान आज कौन दे रहा है? दान असल मे वह है, जिसकी खबर किसी को न हो, यहाँ तक कि दाता को स्वयं को भी न हो। हाँ, पात्र का ध्यान तो रखना ही होगा। मुझे अन्धा दान नही चाहिये, धन्धेबाज दान भी नही चाहिये । मुझे चाहिये ऐसा दान जिसमे दाता के बाहर-भीतर की ऑखे पूरी खुली हो।

पूजा : निर्ग्रन्थ स्वाध्याय

पूजा व्यक्ति मे घटित होती है, उसका सामूहिक प्रदर्शन से सीधा सरोकार नही है। हम पूजा के उस दिव्य अर्थ से उदासीन हुए है, जो व्यक्ति को निर्विकार बनाता है। पूजा निर्ग्रन्थ स्वाध्याय है अर्थात् वह एक ऐसी प्रक्रिया है जो स्वाध्याय मे-से ग्रन्थ को मायनस (घटा) कर आगे बढती है। इसमे प्रतिमा स्वमेव ग्रन्थ बन पडती है और वीतरागता के तमाम स्रोत, पूजक (साधक) का भीतर खोल देती है। लेकिन इस अन्तर्मुखता की ओर किसी की नजर नही है।

वीतरागता

वीतराग जो एक बार हो पडता है, वह टकराहट की परिधि से बाहर आ जाता है। विज्ञान का अर्थ चारित्र है। वीतरागता जब तक शब्दो तक सीमित रहती है, आचरण मे नही आती, बेनामी होती है।

(मुखातिब खुद-ब-खुद - बातचीत स्वयं-की-स्वयं से) △

शाकाहार में जीवन की गुणवत्ता

शाकाहार के बारे मे जब भी निष्पक्षता से सोचा जाएगा-दिखायी देगा कि शाकाहार एक मानवीय आहार है, वह हमारे विकास का चरम बिन्दु है, वह पर्यावरणिक कवच है, वह नैतिकता का संरक्षक (गार्जियन) आहार है, वह स्वास्थ्यवर्द्धक/संपोषक आहार है, वह एक ऐसा आहार है जो पूरी धरती को अभय और प्रीति का वरदान देता है। शाकाहार की तुलना मे कोई और आहार जीवन की गुणवत्ता (क्वालिटी ऑफ लाइफ) को नित-नयी उठान और स्फूर्ति नही दे सकता। वस्तुत इतिहास के इन अहम क्षणो मे हमे शाकाहार की विशेषताओ का गहराई मे उतर कर पता लगाना चाहिये और पूरे जगत् मे कोने-कोने तक उनका शंखघोष करना चाहिये।

समय का तकाजा

इस समय सारे काम छोड कर हमे अहिसा-की-शक्ति को सक्रिय करना चाहिये। यदि हमने अहिसा और अहिसक दोनो को नही जगाया तो यह एक ऐसी सांस्कृतिक चूक होगी, जिसके लिए हमे कभी भी बख्शा नही जाएगा। हिंसा और हत्या, असत् और तामसिकता के

इस अन्धे युग मे यदि सज्जनताएँ और सात्विकताएँ अपनी मशाल बुझाये हाथ-पर-हाथ-धरे बैठी रहेंगी, तो याद रहे वह सब होगा, जिसे हम प्रलय के नाम से जानते आये है।

सांस्कृतिक विकास

सामाजिक दृष्टि से पूरी दुनिया इस बात को जानती है कि माँसाहार और शाकाहार दोनो मनुष्य के विकास के दो छोर है। मासाहार मनुष्य की लाचारी थी और शाकाहार उसकी प्रज्ञा और उसके विवेक का अमृतफल है। क्या हम अपने सास्कृतिक विकास की इस प्रक्रिया को प्रत्यावर्तित करना चाहते है ?

अमोघ वरदान

देश को क्रूरता की ओर ले जाने की अपेक्षा उसे करुणा/अहिंसा की ओर ले जाना सिर्फ हमारे लिए बल्कि सारी/पूरी दुनिया के लिए एक अमोध वरदान सिद्ध होगा।

उपयुक्त क्षण

आहार जब व्यवसाय बन जाता है तब न सिर्फ एक व्यक्ति को नुकसान पहुँचाता है, बल्कि पूरे मुल्क की सेहत पर उसका भयानक और खतरनाक असर पडता है।

क्या यह उपयुक्त क्षण नही है कि जब हम इस तथ्य पर गंभीरतापूर्वक विचार करें कि हम वही होते है, जो अपने पेट मे डालते है ?

बहुत सारे खतरे

हम स्पष्ट देख रहे है कि शाकाहार के इर्दगिर्द बहुत सारे खतरे मँडरा रहे है, क्या इतना होने पर भी हम समारोहो, जश्नो, उत्सवो मे डूबे रहेंगे और किसी दिन पूरी तरह 'मानव-समाज की शवयात्रा' के लिए तैयार हो पडेंगे ?

(शाकाहार मानव-सभ्यता की सुबह) △

मूलभूत आहार

शाकाहार मनुष्य का मूलभूत आहार है। वह उसके विकास का जीवन्त साक्ष्य है। हम संक्षेप में उसे अहिंसा करुणा स्वास्थ्य, स्वच्छता-मूलक मानवीय आहार निरूपित कर सकते हैं।

सात नियन्त्रक तत्त्व

शाकाहार के सात नियन्त्रक तत्त्व है : अहिंसा करुणा प्रकृति-प्रेम, मानवीय [illegible], [illegible] [illegible] [illegible] और [illegible]।

नीति-विज्ञान-सम्मत-जीवन-पद्धति

शाकाहार हिसा और क्रूरता को जीवन से क्रमश अलगाते जाने की गौरव-कथा है। संक्षेपत शाकाहार अहिंसा-करुणा-मूलक नीति-विज्ञान-सम्मत जीवन-पद्धति (लाइफ स्टाइल) है- एक ऐसी जीवन-पद्धति जो अनुपालक को निर्विन्घ/निरापद/प्रसन्न रखते हुए इसके समकालीन जीवधारियो को भी निष्कण्टक/अभीत/अबाध का अवसर प्रदान करती है।

गतिमान समाज/नीति-शास्त्र

शाकाहार मात्र आहार-क्षेत्र तक ही सीमित नही है, बल्कि इसका अस्तित्व बहुआयामी है। वह मनुष्य और अन्य जीवधारियो के बीच प्रेम/करुणामूलक सबन्ध-निर्धारण का व्यावहारिक समाजशास्त्र है।

शाकाहार वस्तुत गतिमान समाज / नीतिशास्त्र (सोशियालॉजी/इथिक्स इन एक्शन) है।

नींव की ईंट

शाकाहार विश्व-मैत्री का एक ऐसा अमर/अटूट अनुबन्ध है, जो सदैव अक्षत बना रहेगा, और मनुष्य-समाज के भविष्य को समता/सौन्दर्य-मूलक आकृति प्रदान करेगा। शाकाहार सत्यं शिवं सुन्दरम् के त्रिकोण मे सुप्रतिष्ठित एक विभूतिमय अस्तित्व है। वह मानव-समाज की भावी समाज-संरचना की नीव की ईंट है।

विश्वबन्धुत्व

शाकाहार ने मनुष्य मे प्रेम, सहृदयता, मैत्री, बन्धुत्व, क्षमा, सहिष्णुता, रचना-धर्मिता, कला-प्रेम, विश्वास, संयम, संतुलन जैसे महान् जीवन-मूल्यो और सृजनशील वृत्तियो को विकसित किया है। स्पष्टत विश्व-शान्ति और विश्व-बन्धुत्व की यदि कहीं कोई तनिक भी संभावना है तो वह शाकाहारी जीवन-पद्धति मे है।

अहिंसामूलक

शाकाहार का सीधा अर्थ है सादा-सीमित आहार, सयत रहन-सहन, सरल-निश्छल-अहिसामूलक जीवन और पूरी दुनिया के साथ कुटुम्ववत् सुलूक।

महत्त्वपूर्ण भूमिका

शाकाहार ने गत शताब्दियो मे विश्व के सामाजिक, सास्कृतिक, मानवीय तथा नैतिक विकास मे एक महत्त्वपूर्ण भूमिका संपन्न की है।

ग्राम-सस्कृति की उपज

शाकाहार ग्राम-सस्कृति की उपज हे । ग्राम-सस्कृति अहिसा, स्वावलम्बन, अपरिग्रह, मितव्यय, आत्मीयता, परस्पर-विश्वास/प्रीति और विकेन्द्रीकरण पर खडी सस्कृति है। यदि भारत मे (विश्व मे भी) शान्ति, बन्धुत्व और प्रेम की गगा प्रवाहित करना है, तो हमे ग्राम-सस्कृतिमूलक आहार अर्थात् शाकाहार की दिशा मे ही आना होगा।

स्वच्छता और संपोषण

शाकाहार जीवन की गुणवत्ता को समृद्ध करने वाला आहार है, अत वह पर्यावरण-मित्र है और उसकी अच्छी देखभाल करने मे समर्थ है। स्वच्छता और सपोषण इस आहार की दो उल्लेखनीय विशेषताएँ हैं।

नीतिशास्त्र और सदाचार का आश्रयदाता

शाकाहार प्रत्येक जीवधारी के सम्मान और अस्तित्व मे गहन आस्था रखता है। वह क्रूरता नही, अपितु करुणामूलक जीवन-शैली है, फलत वह इस तथ्य मे विश्वास करता हे कि दुनिया मे प्रत्येक जीवधारी की अपनी अपरिहार्य भूमिका है, शाकाहार अयुद्ध और अहिसा-प्रेरक आहार है; अत सहज ही वह मनुष्य को अधिक समृद्ध, शक्तिशाली बनाता है। शाकाहार सहज ही सामान्य नीतिशास्त्र और सदाचार को आश्रय देता है। वह अच्छाइयो की खान है, सद्गुणो का खजाना है और तन्दुरुस्ती का जनक है।

उज्ज्वल भविष्य

शाकाहार देश को एक सुनिश्चित उज्ज्वल भविष्य की ओर ले जा सकता है, जबकि मांसाहार उसके अर्थ-तन्त्र के ताने-बाने छिन्न-भिन्न कर रहा है, निरन्तर करता जाएगा। सब जानते है देश की पशु-सपदा का सहार उसके अर्थ-तन्त्र का सहार है।

सरकार के दोहरे मानदण्ड

सरकार एक ओर अहिसा का जयघोष कर रही है, तो दूसरी ओर वह हिंसा-जनित उत्पादो (खाद्य-अखाद्य) को लगातार बढावा दे रही है। ध्यान रहे इन दोहरे मानदण्डो का देश की सामाजिक-सास्कृतिक-नैतिक सरचना पर अत्यधिक विकृत प्रभाव पडने वाला है।

पोषण-विज्ञान-सम्मत आहार

शाकाहार मे समस्त विटामिन है और उसमे उतना प्रोटीन सहज ही मिल जाता है, जितने की किसी भी व्यक्ति को प्रतिदिन आवश्यकता होती है। कुल मिला कर शाकाहार पोषण-विज्ञान-सम्मत आहार है।

अधिक गहरे उतरने और तुलनात्मक अध्ययन करने पर स्वयं विज्ञान ने यह सिद्ध किया है कि मॉसाहार की तुलना मे शाकाहार श्रेष्ठ और स्वास्थ्यवर्द्धक है। यही कारण है कि पश्चिम के मुल्क शाकाहार की ओर उत्तरोत्तर आकर्षित हो रहे है।

सर्वोत्तम कला

शाकाहार एक अहिसा-करुणा एवं सौन्दर्य-प्रधान जीवन-शैली है। वस्तुतः यह जीवन-यापन की सर्वोत्तम कला भी है।

(शाकाहार-विज्ञान) △

शाकाहार और अहिंसा : पर्याय शब्द

शाकाहार और अहिसा दो अलग शब्द नही है, पर्याय शब्द है। शाकाहार एक ऐसी जीवन-शैली है जो किसी भी व्यक्ति या समुदाय को शान्त, संयत, सतुलित और समन्वित रख सकती है। बीसवी शताब्दी का सबसे बडा योगदान यह है कि इसने शाकाहार को विज्ञान-सम्मत ढँग से प्रस्तुत किया है।

लोकप्रियता

शाकाहार, आज अपनी खूबियो के कारण, विश्व मे लोकप्रिय हुआ है। इसकी सार्थकता और गुणवत्ता को अब अलग से निरूपित करने की आवश्यकता नही रही है।

अमृतोत्तम

हिसा की भयावह/व्यवस्थित/सुसंगठित शक्ल को देख कर शाकाहार की भूमिका और अधिक अहम हो जाती है और लगने लगता है कि यदि शाकाहार की ओर लोगो का ध्यान आकृष्ट नही हुआ तो यह दुनिया जीता-जागता दोजख बन जाएगी।

विकासशील देशो के अर्थतन्त्र के लिए शाकाहार अमृतोत्तम है।

(शाकाहार १०० तथ्य) △

अपरिहार्य

दुनिया के मारे देश अव यह भली-भाँति जानने लगे है कि यदि हमें ऑक्सीजन-युक्त स्वास्थ्यप्रद वायु चाहिये और चाहिये धरती की कोख-जल तो शाकाहार हर हालत मे अपरिहार्य हे। शाकाहार आज मवमे अधिक प्रासगिक है और वही इस धरती को विनाश से वचा मकता है।

शाकाहार की लौ अकम्प्य रखने की आवश्यकता

यदि हमें मनुष्य को वनाये रखना है, नो शाकाहार के वुझते हुए दीप को ताकत देनी

रोगी, उसकी लौ को अकम्प्य रखना होगा। किन्ही कारणो से यदि हम यह नही कर पाये तो सब ओर तमस छा जाएगा और हम उसके घेरे मे बुरी तरह ध्वस्त हो जाएँगे।

आदर और आत्मीयता

शाकाहार का सीधा-सादा अर्थ है जीवन का ऐसा क्रम (जीवन की ऐसी पद्धति/शैली भी) जिसमे दूसरो के लिए (प्राणिमात्र के लिए) समुचित आदर और आत्मीयता की गुंजाइश हो और सब सारा खुदगर्जी या स्वार्थ पर टिका हुआ न हो।

(शाकाहार सर्वोत्तम जीवन-पद्धति) △

वर्वर शौक आत्मघाती

मनुष्य के वर्वर, क्रूर और खूनी शौको के कारण कई सुन्दर, उपयोगी पशु-पक्षियो की नस्ले खत्म हो चुकी है और कई नष्ट होने की डगर पर है। प्रयोगशालाओ मे उसने भोले-भाले पशुओ के साथ वदसलूक किया है, उसे प्रकृति कभी माफ नही कर सकती। जीभ-के-चटकारो तथा शरीर-के-शृंगार के लिए मनुष्य ने पशुओ पर वेहिसाव जुल्म किये है, जो अन्तत उसके तथा उसकी सस्कृति के लिए आत्मघाती सिद्ध होने वाले है।

वर्वरताएँ थमनी चाहिये

जिस क्षण मनुष्य की ये वर्वरताएँ थमेंगी, उस दिन फिर यह धरती सुखद/सहज वनेगी, किन्तु अफसोस, हिंसा का दौर वढ रहा है और पृथ्वी-पर-से पशु-पक्षियो की कई नस्लें समाप्त हो रही है। कीटनाशक दवाओ और रासायनिक द्रव्यो ने इस सदी मे जो गजव ढाया है, वह किसी महाप्रलय से कम नही है। यह दुनिया वडी खूवसूरत है। इसमे पहाड हैं। घने वन है। कल-कल वहती नदियाँ हैं निरन्तर प्रवाहित झरने है। कुहुकती कोयलें हैं। फुदकने चपल/चपल वदर है। तेज दौड़ते खरगोश है। भागती-कूदती गिलहरियाँ हे। ना मालूम कितने मासूम प्राणी हमारी इस धरती के निवासी हैं, किन्तु मजा यह है कि वे हमे निभा रहे हैं और हम उन्हे निभा नही पा रहे है।

(बेकसूर प्राणियो के खून-से-सने हमारे ये वर्वर शौक) △

व्यापक संहार

हम अपनी अर्थ-व्यवस्था, समाज-रचना, नीति, धर्म, संस्कृति आदि का ध्यान रखे बिना मात्र शौक, मनोरंजन, स्वाद और सुविधा के लिए पर्यावरण का सर्वनाश करने पर आमादा है और इन जीव-जन्तुओ तथा पेड़-पौधो का जो सदियो से हमारा साथ दे रहे है व्यापक संहार कर रहे है।

राह में काँटे

खान-पान ओर रहन-सहन के अशुद्ध ओर हिसक हो जाने की वजह से हम हर कही युद्ध लड रहे है, कई मुल्को को भुखमरी की भट्टी मे झोक रहे है, हत्याएँ कर रहे हैं, हरी-भरी धरती को रेगिस्तान बना रहे है, और इस तरह, अन्तत अपनी आने वाली पीढी की राह मे काँटे डाल रहे है ।

पेड़-पौधे, पशु-पक्षी हमारे साथी-संगाती

हमारा कर्तव्य है कि हम स्कूलो/परिवारो मे बच्चों को यह बताये कि पेड-पौधे और पशु-पक्षी हमारे साथी-सगाती है, अत हम उन्हे कोई कष्ट न दे, उनकी जी-जान से रक्षा करे, उन्हे प्यार दे और बदले मे उनसे भरपूर मनोरंजन प्राप्त करे।

(ना बाबा ना) △

दुर्भाग्यपूर्ण प्रक्रिया

मॉसाहार मनुष्य के अब तक के विकास को पीछे की ओर ले जाने की दुर्भाग्यपूर्ण प्रक्रिया है। जिस छोर से हमने मनुष्य होना शुरू किया था, माँसाहार हममे बर्बरताएँ बढा कर हमे उसी बिन्दु पर खींच लाने पर आमादा है।

निरर्थकता

हमने यदि मॉसाहार की निरर्थकता को तमाम वैज्ञानिक, धार्मिक और सास्कृतिक चेतावनियों के बावजूद भी नही समझा, तो तय है कि हमारे सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, धार्मिक, नैतिक आदि स्वास्थ्य खतरे मे पड जाएँगे और हम युग-युगो के लिए पतन की राह पर आ खडे होगे।

विश्वासघात

यदि हमने मॉसाहार से होने वाले खतरो/हानियो की अनदेखी की तो सच मानिये हम अपनी आने वाली पीढियों के साथ विश्वासघात तो करेगे ही, उनकी खुशियो के बगीचे को भी उजाड देगे।

(माँसाहार सौ तथ्य) △

अनुपयुक्त आहार

अण्डा न तो शाकाहार ही है और न ही हमारी इस शस्यश्यामला भूमि के निवासियो के लिए उपयुक्त आहार ही है।

सामाजिक असन्तुलन

प्रकृति ने अण्डे को आहार के रूप में नहीं, बल्कि प्रजनन की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी के रूप में सिरजा है। ख्याल रहे कि हम जैसे-जैसे प्रकृति की स्वाभाविकता को दूषित/भंग या नष्ट करते हैं, प्रकृति भी हमारे सहज स्वाभाविक जीवन की सहजता और स्वाभाविकता को सदूषित, विनष्ट और ध्वस्त करती है। किस्म-किस्म की बीमारियाँ फैलती हैं और तरह-तरह के सामाजिक असंतुलन जन्म लेते हैं। कत्ल और क्रूरता, हत्या और हिंसा को बढ़ावा देने में पोल्ट्रियों और हैचरियों (मुर्गी-पालन-केन्द्रों) का उतना ही हाथ है, जितना कत्लखानों का।

भयंकर/असाध्य रोग

यह सर्वमान्य होता जा रहा है कि अण्डे स्वास्थ्य के लिए बेहद खतरनाक हैं। इस चेतावनी को गंभीरतापूर्वक समझ कर हम अनेक भयंकर असाध्य रोगों से बच सकते हैं।

(अण्डे के बारे में १०० तथ्य) △

दुष्परिणाम

हमें अण्डे-से-अन्यन्त बीमारियों से खुद को और अपनी समकालीन पीढ़ी को बचाना चाहिये। शुरू-शुरू में जिस अण्डे को हम मुफ्त में, या देखा-देखी खा कर एक नकली और अस्थायी चुस्ती का अनुभव करते हैं, वही आगे चल कर हार्ट अटैक, लकवा, टी बी, पथरी, एक्ज़ीमा आदि में बदल जाते हैं और फिर एक लम्बे समय तक हमें इनके दुष्परिणाम भोगने पड़ते हैं। बच्चों को तो अण्डों से (डाक्टरों के हज़ार कहने पर भी) कोसों दूर रखना चाहिए। क्योंकि अण्डे आँतों को उत्तेजित करते हैं, उन पर पाचन का अतिरिक्त बोझ डालते हैं और कम उम्र में ही उन्हें या तो मृत्यु की ओर ले जाते हैं या निकम्मा और गन्दा कर देते हैं।

ज़हर-ही-ज़हर

'अण्डा ज़हर-ही-ज़हर है' इस तथ्य को हम जितनी जल्दी गंभीरता से समझेंगे, [illegible] परिवार के और समाज के स्वास्थ्य की [illegible] कर सकेंगे।

(अण्डा ज़हर-ही-ज़हर) △

भावनात्मक क्षति

[illegible] अण्डे खाने से न सिर्फ शरीर की [illegible] और भावनात्मक [illegible] है।

सर्वविदित/सर्वमान्य

यह अब सर्वविदित/सर्वमान्य तथ्य है और इसे हमे गंभीरतापूर्वक समझने की अनिवार्यता है कि अनेक भयंकर और असाध्य रोगो से बचने के लिए माँस-मछली और अण्डे कभी भी नही खाना चाहिये।

(क्या आप अण्डा खा रहे है ? नहीं, बल्कि असलियत है कि अण्डा आपको खा रहा है) △

विश्व : एक कुटुम्ब

यह धरती हमारी माता है, सिर्फ हमारी ही नही, उनकी भी जो बोल नही सकते; किन्तु जो उसे अपनी लीलाओ और अपनी सर्जनात्मक भूमिकाओ से धन्य करते है। विश्व एक कुटुम्ब है, जिस पर खरबो-खरब जीवधारीं साँस लेते है। क्या हम इस व्यापक कौटुम्बिकता का अहसास नही करना चाहेगे ? क्या कोई समझदार व्यक्ति अपने कुटुम्बियो की हत्या करना चाहेगा ? नही, तो फिर क्यो खोल रहे है यान्त्रिक/आधुनिकतम कत्लखाने अपनी इस सरजमीं पर जो गौतम की है, गाँधी की है, सतो की है, ऋषि-मुनियो की है ? क्या इनके बगैर हम दरिद्र हो पडेगे ?

आत्मा का सौदा

हम क्यो पागल हो गये है अपना मॉस बेच कर डॉलर कमाने के लिए ? क्या कोई अपनी माता की सपन्नता/उर्वरता बेच कर उसे बंजड/बाँझ करना पसद करेगा ? क्या कोई अपनी आत्मा का सौदा कर कंकाल रह जाना चाहेगा ? यही हो रहा है हमारी पलको-तले और हम बेखबर है। जिन जीव-जन्तुओ का माँस हम निर्यात कर रहे है, वे शाकाहारी पशु है। इस धरती का घास-फूस खाते है और इसे अमृत-तुल्य खाद लौटाते है, अन्तत. वे मर कर भी इसके काम आते है, इसे उपजाऊ बनाते है।

करुण फरियाद

हर सुबह देश के हजारो कत्लखानो से लाखों मूक-निरीह-निर्दोष पशुओ के लहू का जो दरिया बह निकलता हे वह प्राण-रक्षा की करुण फरियाद लिये हिन्दुस्तान के लाखो-लाख ग्राम-नगरो से गुजरता है, लेकिन कोई नही सुनता उसमे प्रतिध्वनित बेआवाजो की पत्थर-तक-को-पिघलाने-वाली वह गुहार-न राष्ट्रपति, न प्रधानमन्त्री, न लोकसभा, न राज्यसभा, न यह पार्टी, न वह पार्टी। सब विदेशी मुद्रा की लुभावनी गिरफ्त मे नये यान्त्रिक कत्लखानो को इजाजत दे रहे हैं सिर्फ इसलिए कि अरब मुल्को की भोज-मेजों पर भारतीय पशुओ का माँस परोसा जा सके। क्या आप सुन पायेगे वह आवाज और दे पायेगे उसे कोई साफ-सुथरा सकारात्मक जवाब ?

आदमी के भीतर कत्लखाने

इससे पहले कि देश, यह दुनिया एक बडा कत्लखाना बने हम इन कत्लखानो को, जिन्होंने आदमी के भीतर कत्लखाने जन्मना शुरू कर दिया है बन्द कराये और एक ऐसी शुरूआत करे जहॉ दुनिया की हर धडकन धरती की, गगन की, समुद्र की, प्रणम्य हो और जीवन के प्रति सम्मान की भावना प्रथम हो। कत्लखानो को बन्द कर, तय है, हम मनुष्य-जीवन की गुणवत्ता का ही सम्मान करेगे तथा आने वाली पीढियो के लिए एक मशाल उनके हाथो मे सौपेगे।

सक्रिय भागीदार बनिये

इस शान्त-मौन-अहिसक क्रान्ति मे एक सक्रिय तेजस्वी भागीदार बनिये। चुप मत बैठिये। परिवर्तन होगा। सवाल सिर्फ यह है कि क्या आप इस अहिंसक मौन क्रान्ति मे अपना योगदान देना चाहेगे ? इस क्रान्ति का शीर्षक - शाकाहार।

(हिसा क़त्ल . क्रूरता) △

ऐतिहासिक भूमिका

जरूरी है कि हम अच्छे कामो की खोज करे, उनके लिए नैतिक पहल करे तथा ऐसी आबोहवा बनायें जिससे वे गहरी जड पकड सके। यदि इतिहास के इस महत्त्वपूर्ण मोड पर हम व्यक्ति और राष्ट्र के चरित्र मे अच्छाई का बीज नही डाल सके, तो तय है कि कल हमारे समाने अँधेरे के अतिरिक्त कुछ भी बाकी नही होगा।

सब जानते है कि किसी के भी द्वारा किया गया एक छोटा-सा चौखा-भला काम पूरे देश की तकदीर बदल सकता है, अत हम अच्छे कामो की खोज-यात्रा पर निकले और देश के नवनिर्माण मे अपनी ऐतिहासिक भूमिका अदा करे।

साध्य-साधन की पवित्रता

साध्य-साधन की निष्कलकता और पवित्रता का निर्वाह कीजिये। इस मर्म को जानिये कि यदि साधन पवित्र होगा तो ही हम साध्य या लक्ष्य की पवित्रता को बरकरार रख सकेगे अन्यथा साध्य कलकित और अपावन हो पडेगा। जहॉ तक संभव हो (सभव बनाइये) ऐसी आजीविका चुनिये जो पवित्र, हिंसा और क्रूरता-मुक्त और जीवन को उत्थान देने वाली हो।

(१०० अच्छे काम) △

सघन न्यूनतम कार्यक्रम

हमे निरन्तरता की अहमियत को समझना चाहिये और जो भी महत्त्वपूर्ण हमने किया है उसके सातत्य को टूटने नहीं देना चाहिये। हमे निष्पक्ष और वस्तुनिष्ठ मूल्याकन के माध्यम से उन तमाम सभावनाओ की खोज करनी चाहिये, जिन्हे जारी रख कर हम अहिंसा/शाकाहार के हाथ मजबूत कर सकते है। हमारा प्रयत्न हो कि हम इस दिशा मे ठोस कदम उठाये और सघन न्यूनतम कार्यक्रम अमल के लिए हाथ मे लेते रहे।

(शाकाहार-कार्य योजना न्यू प्रिंट-२) △

सकारात्मक पक्ष को प्रमुखता

शाकाहार की गुणवत्ता को प्रदर्शित करने के लिए हमने शाकाहार के सकारात्मक पक्ष को प्रमुखता दी है और प्रयत्न किया है कि उसकी गुणवत्ता को प्रभावशाली ढँग से जनता-जर्नादन तक पहुँचाया जाए। शाकाहार-प्रदर्शनी-२, जिसमे ३६ पेनल्स (फलक) है, जो योजनानुसार पुस्तकाकार हो सकते है, शाकाहार की गुणवत्ता को उसके सकारात्मक पक्ष मे प्रतिपादित किया गया है।

(शाकाहार की गुणवत्ता) △

स्वस्थ/सवेदनशील दृष्टि

भारतीय सस्कृति के मूलमन्त्र 'विविधता मे एकता' मे जो आस्था रखते है, भाषा सस्कृति, समाजशास्त्र और समाज-सेवा मे जो कार्यरत है, उन सभी के लिए भीली-हिन्दी-कोश है, जिसमे भील प्रजाति को समझने की दिशा मे एक अधिक स्वस्थ तथा सवेदनशील दृष्टि है। लोक वार्ता की दृष्टि से इसमे शब्द की खिडकियो से भिल्ल लोक जीवन की नई-पुरानी झाँकियाँ अनायास ही प्रस्तुत हो गई है।

पौराणिक वर्णन

वाल्मीकि

इतिहास मे इस प्रकार के सन्दिग्ध वर्णन मिलते है कि भारत के आदिकवि भिल्ल (दस्यु या निषाद) थे और सत्संग के प्रभाव से ऋषि बने थे। प्रजाति-विज्ञानिको ने निषाद-प्रजाति को लेकर अब तक जिन तथ्यो को सामने रखा है उनमे भील निषादो के वंशधर ठहरते है। कम-से-कम इतना तो निर्विवाद है ही कि वाल्मीकि आर्येतर थे, जिन्हे नैषद जीवन की बर्बरता और हिसा ने करुणा से उद्वेलित किया था जो आगे चल कर रामायण की मूल प्रेरणा सिद्ध हुई है।

शबरी

भिलट जाति की एक भिलटी (शबरी) का उच्छिष्ट भगवान् राम ने स्वीकार किया था, बडे स्नेह से, बडे गद्‌गद और प्रसन्न हिये से यह जान कर हम रोमांचित हुए बगैर नही रह पाते। हमें ऐसा प्रतीत होता है जैसे उस दिन कोई झोपडी किसी महल और कोई अस्पृश्य किसी स्पृश्य मे एकाकार हुए थे।

(भील भाषा, साहित्य और संस्कृति) △

भाषा-शास्त्र की अध्ययन-परिधि

नि·सन्देह भाषा-शास्त्र के अध्ययन का नाभीण बिन्दु भाषा है। भाषा से हमारा आशय मनुष्य के उस कृतित्त्व से है जिससे वह अपने ध्वनि-यन्त्र की सर्वसम्मत यत्नविधि से विविध ध्वनियो के उच्चारण द्वारा भाव-प्रकाशन करता है। इस प्रकार भाषा मूलत विचार-विनिमय की ध्वन्याधृत साधन है। भाषा के प्रसार-क्षेत्र की तुल्यता मे ही भाषा-शास्त्र का क्षेत्र बहुत व्यापक/विराट् है। इसके अन्तर्गत विकसित, अविकसित, सभ्य-अर्द्धसभ्य-असभ्य, समतलवासिनी तथा श्रृंगो पर रहने वाली समस्त मानव-प्रजातियाँ आ जाती है, जिनका वह प्रागैतिहासिक स्तर से अधुनातन स्तर तक अध्ययन करता है। भाषा-शास्त्र की प्राविधिक-शब्दावलि मे इन्हे भाषा-समुदाय (स्पीच कम्युनिटी) कहा जाता है। यह शास्त्र प्राप्य न्यास के आधार पर उपलब्ध भाषाओ का विविध पद्धतियो से वैज्ञानिक अध्ययन कर निष्कर्ष प्रस्तुत करता है। सम-सामयिकता-विषयक भाषा-शास्त्र की अध्ययन-परिधि मे समस्त प्रचलित भाषाएँ और विभाषाएँ आ जाती है।

(भीली का भाषा-शास्त्रीय अध्ययन-प्रथम भाग, भाषा खण्ड, शोध-प्रबन्ध) △

भाषा की रोचक कहानी

भापा की कहानी मनुष्य की सभ्यता और सस्कृति की बडी रोचक कहानी है, किन्तु आज भापा हमारे इतने निकट है कि हम उसके उद्‌गम को भूल गये है और उसके विरासत मे मिले रूप को ही निरन्तर मानते जा रहे है। भाषा का हम अपने दैनदिन जीवन मे

का व्यापक उपयोग करते है। जीवन का कोई क्षितिज या क्षेत्र ऐसा नहीं है जो भाषा मे न झलकता हो। भाषा, वास्तव मे, हमारे विचारो के परस्पर आदान-प्रदान का ध्वनि-चिह्नो पर आधारित माध्यम है।

व्याकरण : शब्दानुशासन

व्याकरण एक प्रकार का शब्दानुशासन (शब्दो की सानुक्रम व्यवस्था) है। कोई भी भाषा बनती और फलती-फूलती है। परिवर्तनशीलता का व्यापक नियम भाषा पर भी लागू होता है, अत किसी भी जीवित (प्रयुक्त) भाषा का व्याकरण प्रयोग द्वारा होने वाले परिवर्तनो के कारण स्वभावत बदलता रहता है। हिन्दी के राष्ट्रभाषा हो जाने से उस पर यह नियम बड़ी तीव्रता से प्रभावशील हो गया है। अब उसके व्याकरणिक ढाँचे मे व्यापक परिवर्तन के क्षण उपस्थित हो गये है। स्मरण रहे, व्याकरण का मूल आधार प्रयोग है। व्याकरण के अन्तर्गत हम मुख्यत तीन बातो पर विचार करते है- वर्ण, शब्द, वाक्य।

अभिनव प्रयोग

'नवनीत' छात्रो के लिए तो उपयोगी है ही, साथ-साथ यह उन सबके लिए भी लाभप्रद है जो हिन्दी के व्याकरण और रचना-सबन्धी ज्ञान को बढाना चाहते है। व्याकरण की पुस्तक मे नैतिक शिक्षा का आरभ से अत तक किसी-न-किसी रूप मे ध्यान रखा जाना-एक अभिनव प्रयोग है। इसके तल मे अनजाने मे भाषा-विज्ञान की एक झाई-सी आ गई है।

(रचना-नवनीत) △

गरीब रहना ही ठीक

है, तो क्या करे ? इस पर पैगम्बर ने कहा 'हम तीन नहीं है, हम चार है और वह चौथा जो है वह दीखता नही है, लेकिन वह है और जबर्दस्त है।'

(पैगम्बर मुहम्मद) △

जैन शब्द-कोश की परम्परा प्राचीन नहीं

शब्द-ज्ञान की परम्परा वैदिक युग से अविच्छिन्न चली आ रही है। 'निघण्टु' और 'निरुक्त' इसके स्पष्ट साक्ष्य है। शब्द और अर्थ रूढ सबन्धी है। अर्थ-बोध, अर्थ-निर्णय और अर्थ-संप्रेषण की समस्याएँ लेखक-पाठक तथा वक्ता-श्रोता के मध्य सदैव जीवन्त रही है। कोश-रचना की पृष्ठभूमि पर सम्यक् अर्थ-संप्रेषण का लक्ष्य ही सर्वत्र सक्रिय रहा है। सही अर्थ और सही सदर्भ खोजने के यत्न मे ही कोश बने है और उन पर भारतीय मनीषा ने अटूट वस्तुनिष्ठा से कार्य किया है। जैन कोश आज जिस रूप मे उपलब्ध है, वह रूप, पद्धति और परम्परा बहुत प्राचीन नही है, उसने उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध और बीसवी शताब्दी के आरभ मे ही आकार ग्रहण किया है।

नितान्त आवश्यक है वैज्ञानिक विधि

प्रमुख जैन कोशो और कोशकारो के अध्ययन से आधुनिक परिप्रेक्ष्य मे यह नितान्त आवश्यक है कि वैज्ञानिक विधि से कुछ 'जैबी विश्वकोशीय कोश' प्रकाशित होने चाहिये। ये कोश आकार मे लघु हो, किन्तु इनकी प्रामाणिकता और पूर्णता असदिग्ध हो। अग्रेजी मे 'एब्रिज्ड' कोशो की परम्परा है, हम भी इस तरह की परम्परा का श्रीगणेश कर सकते हैं, ये जेबी जैन कोश सभी कोटि के हो सकते है शब्द-कोश, विषय-कोश, ग्रन्थ-कोश, ग्रन्थकार-कोश।

अप्रतिम/अविस्मरणीय कार्य

मुझे विश्वास है कि किसी शोध-संस्था अथवा विश्वविद्यालय के जैन विद्या-विभाग मे एक ऐसी शाखा स्थापित होगी, जो कोश-रचना का सतत् अध्ययन करेगी जिसके अभिनव संस्करण की जैन विद्या-जगत् को बराबर प्रतीक्षा बनी रहे। यदि हम ऐसा कर सके, तो यह एक अप्रतिम और अविस्मरणीय कार्य होगा।

(उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दियो के जैन कोशकार और उनके कोशो का मूल्याकन) △

प्रमुख योगदान : अनेकान्त

जैनधर्म/दर्शन के अवदान का मूल्याकन यह होगा कि ऐसे समय मे जब कि व्यक्ति क सम्मान/अस्तित्व लगभग समाप्तप्राय था, जैनधर्म ने उस सम्मान की वापिसी की औ

...की स्वतन्त्रताओं को आस्वस्त किया। आत्मस्वातन्त्र्य या वस्तु-स्वातन्त्र्य-बोध जैनधर्म की भारतीय संस्कृति को सबसे बड़ी देन है। इस प्रकार जैनधर्म का सबसे प्रमुख ... है चिन्तन में औदार्य। जैन मनीषियों ने अपने समकालीनों से बगैर किसी वैचारिक ... समझने का सफल प्रयत्न किया। दुराग्रह को तो उन्होंने जैसे अपने शब्दकोश में ... हटा दिया। अनेकान्त और स्याद्वाद-जैसे सृजनधर्मा शब्दों को जब हम समझने का प्रयत्न करते हैं, तब यह तथ्य बिलकुल स्पष्ट हो जाता है।

...कीर्तिमान

... जब हम अतीत में सुदूर तक आँख पसारते हैं तब देखते हैं कि जैन मनीषियों ने मात्र एक ही क्षेत्र में नहीं वरन् अनेक क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण कार्य किया और अपनी प्रखर मनीषा के ... से सर्वकीर्तिमान स्थापित किये।

...योगदान का मूल्यांकन

भारतीय साहित्य को समृद्ध करने में जैनाचार्यों का अपूर्व योगदान रहा है। संस्कृत, ..., प्राकृत, अर्द्धमागधी, अपभ्रंश तथा आधुनिक भारतीय आर्य/आर्येतर भाषाओं की ... में उनकी उल्लेखनीय भूमिका रही है। राजस्थानी, गुजराती, मराठी, हिन्दी इत्यादि भारतीय भाषाओं में आज जो भी उपलब्ध है, उसका एक नगण्य प्रतिशत अभी प्रकाश में ... जा सका है, शेष शास्त्र-भण्डारों की ठण्डी फर्शों पर अन्धकार में सोया पड़ा है। यदि भारत के सारे सरस्वती भण्डारों और जैन मन्दिरों को बिना किसी पूर्वाग्रह के एक साथ ले ... जाए तो भारतीय संस्कृति का जो अप्रतिम मुखमण्डल बनेगा वह अद्वितीय/अप्रतिम होगा। इस तरह हम सहज ही कह सकते हैं कि जैनाचार्यों ने भारतीय संस्कृति को समृद्ध करने में जो योगदान दिया, वह इतना विपुल है कि उसका मूल्यांकन इस समय इसलिए ... है कि वह उत्तरोत्तर बाहर आता जाता है और हमारी पूर्व मान्यताओं/निष्कर्षों को ... करता है।

(भारतीय संस्कृति को जैन अवदान) △

है, तो क्या करे ? इस पर पैगम्बर ने कहा 'हम तीन नही है, हम चार है और वह चौथा जं
है वह दीखता नही है, लेकिन वह है और जबर्दस्त है।'

(पैगम्बर मुहम्मद) △

जैन शब्द-कोश की परम्परा प्राचीन नहीं

शब्द-ज्ञान की परम्परा वैदिक युग से अविच्छिन्न चली आ रही है। 'निघण्टु' अं
'निरुक्त' इसके स्पष्ट साक्ष्य है। शब्द और अर्थ रूढ संबन्धी है। अर्थ-बोध, अर्थ-निर्ण
और अर्थ-संप्रेषण की समस्याएँ लेखक-पाठक तथा वक्ता-श्रोता के मध्य सदैव जीवन्त र
है। कोश-रचना की पृष्ठभूमि पर सम्यक् अर्थ-संप्रेषण का लक्ष्य ही सर्वत्र सक्रिय रहा ;
सही अर्थ और सही सदर्भ खोजने के यत्न मे ही कोश बने है और उन पर भारतीय मनीष
अटूट वस्तुनिष्ठा से कार्य किया है। जैन कोश आज जिस रूप मे उपलब्ध है, वह रूप, पद्धति
और परम्परा बहुत प्राचीन नही है, उसने उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध और बीसवी शताब्दी
के आरंभ मे ही आकार ग्रहण किया है।

नितान्त आवश्यक है वैज्ञानिक विधि

प्रमुख जैन कोशो और कोशकारो के अध्ययन से आधुनिक परिप्रेक्ष्य मे यह नितान्त
आवश्यक है कि वैज्ञानिक विधि से कुछ 'जैबी विश्वकोशीय कोश' प्रकाशित होने
चाहिये। ये कोश आकार मे लघु हो, किन्तु इनकी प्रामाणिकता और पूर्णता असंदिग्ध हो।
अग्रेजी मे 'एब्रिज्ड' कोशो की परम्परा है, हम भी इस तरह की परम्परा का श्रीगणेश कर
सकते हैं, ये जेबी जैन कोश सभी कोटि के हो सकते है शब्द-कोश, विषय-कोश, ग्रन्थ-
कोश, ग्रन्थकार-कोश।

अप्रतिम/अविस्मरणीय कार्य

मुझे विश्वास है कि किसी शोध-संस्था अथवा विश्वविद्यालय के जैन विद्या-विभाग
मे एक ऐसी शाखा स्थापित होगी, जो कोश-रचना का सतत् अध्ययन करेगी जिसके
अभिनव संस्करण की जैन विद्या-जगत् को बराबर प्रतीक्षा बनी रहे। यदि हम ऐसा कर सके,
तो यह एक अप्रतिम और अविस्मरणीय कार्य होगा।

(उन्नीसवी-बीसवीं शताब्दियो के जैन कोशकार और उनके कोशो का मूल्याकन) △

प्रमुख योगदान · अनेकान्त

जैनधर्म/दर्शन के अवदान का मूल्याकन यह होगा कि ऐसे समय मे जब कि व्यक्ति का
सम्मान/अस्तित्व लगभग समाप्तप्राय था, जैनधर्म ने उस सम्मान की वापिसी की और

व्यक्ति की स्वतन्त्रताओ को आश्वस्त किया। आत्मस्वातन्त्र्य या वस्तु-स्वातन्त्र्य-बोध जैनदर्शन की भारतीय सस्कृति को सबसे बडी देन है। इस प्रकार जैनधर्म का सबसे प्रमुख योगदान है चिन्तन मे औदार्य। जैन मनीषियो ने अपने समकालीनो से बगैर किसी वैचारिक टकराव के समझने का सफल प्रयत्न किया। दुराग्रह को तो उन्होंने जैसे अपने शब्दकोश से ही हटा दिया। अनेकान्त और स्याद्वाद्व-जैसे सृजनधर्मा शब्दो को जब हम समझने का प्रयत्न करते है, तब यह तथ्य विलकुल स्पष्ट हो जाता है।

नवकीर्तिमान

यो जब हम अतीत मे सुदूर तक आँख पसारते है तब देखते है कि जैन मनीषियो ने मात्र एक ही क्षेत्र मे नही वरन् अनेक क्षेत्रो मे महत्त्वपूर्ण कार्य किया और अपनी प्रखर मनीषा के माध्यम से नवकीर्तिमान स्थापित किये।

योगदान का मूल्यांकन

भारतीय साहित्य को समृद्ध करने मे जैनाचार्यो का अपूर्व योगदान रहा है। सस्कृत, प्राकृत, प्राकृत, अर्द्धमागधी, अपभ्रंश तथा आधुनिक भारतीय आर्य/आर्येतर भाषाओ की समृद्धि मे उनकी उल्लेखनीय भूमिका रही है। राजस्थानी, गुजराती, मराठी, हिन्दी इत्यादि भारतीय भाषाओ मे आज जो भी उपलब्ध है, उसका एक नगण्य प्रतिशत अभी प्रकाश मे लाया जा सका है, शेष शास्त्र-भण्डारो की ठण्डी फर्श पर अन्धकार मे सोया पडा है। यदि भारत के सारे सरस्वती भण्डारो और जैन मन्दिरो को विना किसी पूर्वग्रह के एक साथ ले लिया जाए तो भारतीय संस्कृति का जो अप्रतिम मुखमण्डल वनेगा वह अद्वितीय/अप्रतिम होगा। इस तरह हम सहज ही कह सकते है कि जैनाचार्यो ने भारतीय सस्कृति को समृद्ध करने मे जो योगदान दिया, वह इतना विपुल है कि उसका मूल्याकन इस समय इसलिए असभव है कि वह उत्तरोत्तर वाहर आता जाता है और हमारी पूर्व मान्यताओ/निष्कर्षो को प्रभावित करता है।

(भारतीय सस्कृति को जैन अवदान) △

क्षणावलि

मेरा अनुभव है कि एक पास आया क्षण अपने आगामी क्षण को जन्म देने वाला होता है और इस तरह एक क्षणावलि अनवरत/अरुक चलती जाती हे, जेनरेटिव्ह। वूँद-वूँद जैसे अपनी सघन मैत्री मे धार वनती जाती है, वैसे ही क्षण की पीठ पर चढे क्षण जीवन की अटूट धार वन जाते है और तव फिर यह किसी के वलवूते की वात नहीं है कि समय की उस तेजस्विनी धावमान धार को पकडे या ठीक से छू सके।

वर्तमानता सर्वज्ञता की जननी

वर्तमानता किसी भी सर्वज्ञता की जननी है। जो वर्तमान को अजलि मे समेट लेता है, वह अन्तिम है। वर्तमान का चरित्र ही यह है कि या तो वह अतीत हो जाता है या फिर भविष्य होता है, वर्तमान का सूक्ष्म अस्तित्व हमारी ऑखो की अँगुलियॉ पकड नही पाती है। जिसे युगपत्ता कहते है, 'सायमल्टेनियटी' का नाम दिया जाता है, वह वस्तुत वर्तमानता ही है। तीर्थंकर इसी प्रखर/वास्तविक युगपत्ता के कारण ही तीर्थंकर है अन्यथा और कोई वजह नही है उन्हे यह संबोधन प्राप्त हो।

भविष्य पर अंगुलियाँ

जीवन एक ग्रन्थ है, जिसके पृष्ठ काल-पुरुष क्रमश खोलता जाता है। ज्योतिष-शास्त्र अन्ध-विश्वास नही है, वह विशुद्ध गणितीय पद्धति है, अनागत की नब्ज पर अगुलियाँ रखने की। यह ठीक है कि भविष्य को बदला नही जा सकता, किन्तु उसे जान कर/उसकी प्रतीतियो के बल पर सावधान चला जा सकता है। जन्मकुण्डली एक आईना है अनागत का जिससे भविष्य की एक धुँधली-सी रूपरेखा सामने आ जाती है।

भेद-विज्ञान और ट्रस्टीशिप-सिद्धान्त

गांधीजी के ट्रस्टीशिप सिद्धान्त मे व्यक्ति की सम्पत्ति तो होती है, लेकिन व 'डिसओन' कर देता है, उस पर से अपना स्वामित्व हटा लेता है। भेद-विज्ञान मे भ हम आत्मा का स्वामित्व शरीर पर नही मानते हे, उसे हम 'डिसओन' कहते है, अल हटाते है।

जो भेद-विज्ञानी होगा वह अपरिग्रही तो अपने आप हो गया। उसके लिए परिग्रह का प्रश्न ही नही है। जब शरीर ही उसके लिए परिग्रह हे, तो शेप सारे पदार्थ परिग्रह है ही। इसलिए ट्रस्टीशिप सिद्धान्त ओर भेद-विज्ञान मे-से अपरिग्रह का जन्म होता हे, वह वडा उपयोगी सिद्ध होता है।

बोधकथाओं की विलक्षणता

बोधकथाएँ मनुष्य को मनुष्य बनाने का प्रयत्न करती आयी हे। कला-शिल्प की दृष्टि से भले ही बोधकथाएँ इतनी मूल्यवान न हो, किन्तु जीवन को मांजने और सँवारने मे इनका जो योग है, उसे कभी भुलाया नही जा सकता। एक खुरदरे काष्ठ-खण्ड को स्निग्ध बनाने मे रंदे की जो भूमिका होती है, मन-मस्तिष्क को स्निग्ध बनाने मे इन बोधकथाओ की भी वैसी ही है।

प्रवचन की श्रेष्ठता

प्रवचन वे ही ऋषि-मुनि देते है, जिनकी कथनी-करनी एक होती है। ये ऐसे महापुरुष होते है जो भाषा को उसकी असलियत मे जीते है, उसे जीवन्त बनाते हैं, उसके साथ कोई छल नही करते, इसलिए प्रवचन भाषण और व्याख्यान की अपेक्षा अधिक सुकुमाल शब्द है।

(परम तपोधन एलाचार्य श्री विद्यानन्द) △

ात्म-मन्थन से ही सम्यक्त्व की उपलब्धि

'साधो, यह मन ठाठ तँबूरे का। ऐचत तार मरोरत खूँटी, निकसत राग हजूरे का। टूटे तार बिखरये खूँटी, हो गया घूरम घूरे का। कहे कबीर सुनो भई साधो, आतम पथ कोई सूरे का॥'

(यह शरीर तँबूरे का तार है। जिस प्रकार तँबूरेकी खूँटियाँ मरोडने और तार के खीचने से मधुर ध्वनि निकलती है, उसी प्रकार इन्द्रिय-दमन और मन के सयम से आत्मा का राग इसमे-से प्रकट होता है। जब इन्द्रियाँ और मन-बुद्धि आदि का समवाय नष्ट हो जाता है, यह स्थूल और सूक्ष्म शूर चूर-चूर हो जाता है तब जीव निज स्वरूप मे स्थिर हो जाता है। यह आगम पथ किसी शूर का ही हो सकता है।)

-'बांझिन गाय दूध नही दे है, माखन कहँ से पाये ? - **कबीर**

(बाँझ गाय दूध नही देगी और दूध नही होगा तो माखन कहाँ से मिलेगा।)

काया बाँझ गाय है, उसमे दूध कहाँ है, आत्मा का अमरत्व वहाँ कहाँ मिलेगा ? आत्म-मन्थन से ही सम्यक्त्व उपलब्ध होगा, देह-मन्थन मे-से भला क्या मिलने वाला है।

(विचक्षण-कथामृत) △

ोमन्थन : स्वाध्याय की विशिष्ट प्रक्रिया

रोमन्थन स्वाध्याय की एक विशिष्ट प्रक्रिया है। पढना और पढ कर जुगाली करना उसे अपनी चेतना की मुख्य धारा मे अटूट/समग्र डालना रोमन्थन है। इसमे ज्ञान की अभीक्षणता वारम्वार होती है ताकि विषय की गहराइयों मे उतरा जाए और उसके किसी भी टापू को अजाना न रहने दिया जाए। वाचन के वाद अधीत विषय का पाचन जरुरी होना है।

जहाँ मन की भूमिका कम-से-कम है अथवा सर्वथा शून्य है, वहाँ मनन है। मनन के लिए दो शब्द है - रोमन्थन और जुगाली।

रोमन्थन सस्कृत का, और जुगाली लोकभाषा का शब्द है। बार-बार सोचना/पचाना

रोमन्थन है, और उदर से चबाने की प्रक्रिया मे पुन· डालना जुगाली है। गाय जुगाली करता है, आदमी रोमन्थन।

-दान और अवदान मे फर्क है। दान की अपेक्षा अवदान अधिक मृत्युजय है। अवदान महापुरुषो के सपूर्ण जीवन का महायोग होता है। उसमे उनके प्राणो का सार ओर स्पन्दन होता है। (आगम पुरुष) △

मृत्यु : 'यहाँ नहीं, कहीं ओर'

मृत्यु की एक परिभाषा है-'यहॉ नही, कही और'। वस्तुत इन चार शब्दो ने मृत्यु को जीवन के काफी नजदीक कर दिया है। गौर से देखने पर मृत्यु है ही नही-यदि कही कुछ है तो सातत्य और सम्यक्त्व है, जिन्हे पाने का मतलब है शरीर-मे-हो-कर शरीर-से-पार निकलना।

शरीर शरीर है; मैं मैं हूँ

शरीर सराय है, मुकम्मल मुकाम नही है। वह भगुर है, अमर नही है। हम उसमे है, वह हममे नही है। दोनो दो है। हम हम हे, वह वह है। सल्लेखना इस दुर्लभ अनुभूति का टकोत्कीर्ण शिलालेख है। जिसने यह जान लिया कि 'शरीर शरीर है और मे मे हूँ' उसे जानने को और बच ही क्या रहा है। जो धन-धरती की आसक्तियो के बीच 'स्व' से लिपटे 'पर' को अलगा लेता है, वही समाधि या सल्लेखना की रसानुभूति कर सकता हे। राग मे-से जो भाग निकलता हे, भाग उसी के खुलते हे और जो राग के छल-माधुर्य मे बँध जाता हे, वह अभागा मृत्यु-भय से भागमभाग मे कराहता रहता हे। उसका पॉव कही टिक नही पाता।

मृत्यु : एक महोत्सव

यह जान कर भी कि मृत्यु को एक महोत्सव का रूप दिया जा सकता है और परम आनन्द की अलौकिक अनुभूति के साथ एक बडे ध्येय के लिए प्रस्थान किया जा सकता है, हम अनजान बने रहते है।

जन्म-मरण एकार्थक शब्द

डॉ. नेमीचन्द जैन

जन्म बडनगर (जिला उज्जैन, मध्यप्रदेश), ३ दिसम्बर १९२७।

शिक्षण इन्दौर मे उच्च शिक्षा-प्राप्ति के अन्तर्गत साहित्यरत्न (१९४८), एम ए (हिन्दी, १९५२), एम ए (अर्थशास्त्र, १९५३), विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन से 'भीली का भाषा-शास्त्रीय अध्ययन' शोध-प्रबन्ध पर पी-एच डी की उपाधि (१९६२)।

भाषा-ज्ञान सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रश, हिन्दी, गुजराती, मराठी, बाग्ला, डिगल, भीली, अग्रेजी।

अध्यापन सन् १९५२ से ८७ की अवधि मे मध्यप्रदेश के इन्दौर, गुना, बडवानी, नीमच, जावरा और देवास नगरो मे सर्वप्रथम इन्दौर क्रिश्चियन कॉलेज मे, तत्पश्चात् शासकीय महाविद्यालयो मे हिन्दी के प्राध्यापक और विभागाध्यक्ष।

सस्थागत प्रवृत्तियाँ स्व माँ श्रीमती हीराबाई और पिता श्री भैयालालजी जैन की पावन स्मृति मे श्रद्धाजलि-स्वरूप सन् १९६२ मे स्थापित हीरा भैया प्रकाशन, इन्दौर के सस्थापक/अध्यक्ष, प्रकाशन के अन्तर्गत विविध विषयो की लगभग ८० पुस्तिका-पुस्तको का सपादन / प्रकाशन । प्रकाशन की पुस्तको को अन्तर्राष्ट्रीय मानक पुस्तक-सख्या के अन्तर्गत लाने का श्रेय।

- हीरा भैया जैन विद्या पत्राचार पाठ्यक्रम सस्थान, इन्दौर (१९९०) के सस्थापक/निदेशक, सपूर्ण पाठ्यक्रम की ९ इकाइयो के ५६ पाठो का आलेखन।

- शाकाहार के प्रचार-प्रसार हेतु सन् १९८६ मे स्थापित तीर्थकर शाकाहार प्रकोष्ठ के सचालक, अ भा शाकाहार-विज्ञान चेतना-परिषद् इन्दौर (१९९४) के सयोजक।

- 'हर दिन एक अच्छा काम' क्लब, इन्दौर (१९९६) के सस्थापक।

- जैन दर्शन, साहित्य, सस्कृति, पत्रकारिता से सबन्धित अखिल भारतीय सगोष्ठियो/ सम्मेलनो के सहयोगी। अ भा तृतीय जैनविद्या विचार-सगोष्ठी, इन्दौर -१९९६ के सयोजक ।

सपादन तीर्थकर (सद्विचार की वर्णमाला मे सदाचार का प्रर्वतन-विचार (मासिक) मई १९७१ से नियमित/निरतर , इसके ५० बहुचर्चित विशेषाको (अक-विशेष सहित) का सपादन। -तीर्थंकर (अग्रेजी) मासिक/त्रैमासिक १९७५-८८। - शाकाहार-क्रान्ति (आहार-क्रान्ति की दिशा में प्रवृत्त अहिसक जीवन-शैली का लोकप्रिय मासिक), मई १९८७ से नियमित/निरतर। - समय (जैन अध्यात्म का त्रैमासिक), जुलाई ८८ से जून ८९।

मौलिक कृतियाँ विविध विषयो से सवन्धित ५० पुस्तके , रचना-काल का आरभ सन् १९४६।

बातचीत (साक्षात्कार-समालाप-भेटवार्ताएँ-इन्टरव्यूज) की विधा के अन्तर्गत लगभग १०० वार्ताएँ प्रकाशित (तीर्थकर-१९७३-१९९६), आत्मकथात्मक पुस्तकाकार समालाप 'मुख़ातिब ख़ुद-ब-ख़ुद' (बातचीत स्वय की, स्वय से) १९९६ मे प्रकाशित।

देशव्यापी यात्राएँ जैन समाज की विभिन्न सस्थाओ तीर्थो, विशिष्ट व्यक्तियों से जीवन्त/ प्रत्यक्ष सपर्क स्थापित करने के लिए समय-समय पर यात्राएँ, शाकाहार-अभियान के अन्तर्गत शाकाहार-वर्ष १९९५ के पूर्व, मध्य और पश्चात् देशव्यापी भ्रमण।

डॉ. नेमीचन्द जैन की बहुचर्चित लोकप्रिय कृतियाँ

१ वैशाली के राजकुमार तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर (परिवर्द्धित, चौथा सस्करण (१५ ००), २ बहुआयामी महामन्त्र णमोकार (१५ ००), ३. ओम् १०० तथ्य (५ ००), ४ जहर अमृत चुनौतियॉ (१० ००), ५ अपरिचय (५ ००), ६ जैनधर्म १०० तथ्य (७ ००), ७ जैनधर्म इक्कीसवी शताब्दी (५ ००), ८ जीवन-पीयूष-सामायिक पाठ पद्यानुवाद, विशिष्ट भूमिका-सहित (२ ००), ९ जिन खोजा तिन पाइयॉ स्वाध्याय, सम्यक्त्व,स्वपर-विज्ञान (५ ००), १० अ-युद्ध पुरुष बाहुबली-प्रसग, द्वितीय सस्करण (७ ००), ११ मानव-सस्कृति के आदि-पुरस्कर्ता भगवान् ऋषभनाथ (५ ००), १२ मेरी भावना सचित्र, विशिष्ट भूमिका-सहित (३ ००), १३ भक्तामर स्तोत्र सचित्र, मूल, अन्वय-अर्थ, विशिष्ट भूमिका-सहित (१० ००), १४ पर्युषण उष पान जीवन का - परिवर्द्धित (५.००), १५. एकान्त अपना-अपना अनेकान्त सबका - परिवर्द्धित (५ ००), १६ हम अन्धे पाँच अन्धे - परिवर्द्धित (५ ००), १७ अहिसा है हमारी मॉ - परिवर्द्धित (५ ००), १८ अहिसा का अर्थशास्त्र (५ ००), १९ प्रणाम महावीर (५ ००), २० जैन आहार विज्ञान और कला (५ ००), २१ नरक मासाहार है (५ ००), २२ मुखातिब खुद-ब-खुद - बातचीत स्वय-की, स्वय-से (१० ००), २३ शाकाहार मानव-सभ्यता की सुबह - परिवर्द्धित, द्वितीय सस्करण (२० ००), २४ शाकाहार-विज्ञान (१५ ००), २५ शाकाहार १०० तथ्य (५ ००), २६ शाकाहार सर्वोत्तम जीवन-पद्धति (२ ००), २७ बेकसूर प्राणियो के खून-मे-सने हमारे ये बर्बर शौक (२.००), २८ ना बाबा ना (२ ००), २९. मासाहार सौ तथ्य (३.००), मीट ईटिग १०० फैक्ट्स (२ ००), ३० अण्डे के बारे मे १०० तथ्य (२ ००), हण्ड्रेड फैक्ट्स अबाउट एग (२ ००), ३१ अण्डा जहर-ही-जहर (२ ००), ३२ अण्डा आपको निगल रहा है (१ ००), ३३ कत्लखाने १०० तथ्य (८ ००), ३४ कत्लखानो का नर्क (२ ००), ३५ हिसा · क़त्ल क्रूरता (५ ००), ३६ १०० अच्छे काम (५ ००), ३७ शाकाहार-कार्ययोजना (ब्ल्यू प्रिन्ट)-२ (२ ००), ३८ शाकाहार की गुणवत्ता (५.००)।

अन्य कृतियॉ

३९ भीली-हिन्दी कोश (१० ००), ४० भील भाषा, साहित्य और सस्कृति (१० ००), ४१ भीली का भाषा-शास्त्रीय अध्ययन शोध-प्रबन्ध (२०.००), ४२ रचना-नवनीत व्याकरण पर सुबोध पाठो का आलेखन (५ ००), ४३ पैगम्बर मुहम्मद (४ ००), ४४ उन्नीसवी-बीसवीं शताब्दियो के जैन कोशकार और उनके कोशोका मूल्याकन सदर्भ अभिधान राजेन्द्र (२ ००), ४५ भारतीय सस्कृति को जैन अवदान (२ ००), ४६. परम तपोधन एलाचार्य श्री विद्यानन्द (१० ००), ४७ विचक्षण-कथामृत साध्वीश्री के प्रेरक प्रसग (५.००), ४८ आगम पुरुष आचार्य श्री नानालालजी के जीवन का तटस्थ विहगावलोकन (१० ००), ४९ हाथी ने ली सल्लेखना (२.००), ५० प्राची से निकलता है सूरज बावनगजा-प्रसग (२ ००)।

हीरा भैया प्रकाशन

६५, पत्रकार कॉलोनी, कनाडिया मार्ग, इन्दौर - ४५० ००१ (म.प्र)

चयनिका

डॉ. नेमीचन्द जैन द्वारा संपादित

समय (जैन अध्यात्म का त्रैमासिक) में-से

उनके लेखों का चयन

हीरा भैया प्रकाशन

६५ पत्रकार कॉलोनी, कनाडिया मार्ग, इन्दौर-४५२००१ (मध्यप्रदेश)

समय की सामायिकता/सार्थकता

"यह प्रश्न अनायास उठ सकता है कि इतनी सारी पत्र-पत्रिकाओ के होते 'समय' की क्या आवश्यकता थी ? हीरा भैया प्रकाशन ने इस/इतने महँगे रास्ते और सौदे को क्यो चुना ? चूँकि अध्यात्म मे रुचि-रुझान रखने वाले पाठको की सख्या बहुत कम है, अत इसके प्रकाशन मे कोई वित्तीय संकट न आये यह असभव है-फिर उसने इस कॉटो-भरी डगा पर अपने पॉव क्यो रखे ?

"मूलत हम मानते है कि कोई भी महत्त्व-का-कार्य किसी आर्थिक सकट के कारण नही रुकता चाहिये। यदि हमे भरोसा है कि फलॉ काम जनोपयोगी है तो फिर ऐसी कोई वजह या बाधा नही होनी चाहिये जो आडे आये।

"हमने अनुभव किया है कि जैनाध्यात्म का क्षेत्र इस क्षण सुन्न है। उसमे सर्वत्र एक विकट सन्नाटा खिचा हुआ है। इस क्षेत्र मे किसी पूर्वग्रह-मुक्त पत्र-पत्रिका का न होना वाक दुर्भाग्यपूर्ण है। अधिकांश पत्र-पत्रिकाएँ या तो सामाजिक विषयो पर केन्द्रित हैं या फि उनके अपने अभियान-आन्दोलन है, जिन पर उन्होंने अपनी शक्ति डाल ली है। अध्यात का क्षेत्र चूँकि गहन, शुष्क, साधना-साध्य, और कंटकाकीर्ण है, अत उसमे अपन पगतलियो को लहूलुहान करने का साहस प्राय कम ही लोग कर पाते है। यह एक ऐस सुनसान क्षेत्र है, जिसमे अक्सर अकेले ही चलना होता है।

"समय का जन्म अध्यात्म मे स्वस्थ रुचि को आविर्भूत, प्रेरित और उत्साहित करने उद्देश्य से महत्वपूर्ण है।

" कहा जा सकता है त्रैमासिक का नाम 'समय' ही क्यो रखा गया, कुछ ओर भी सकता था। हो सकता था, किन्तु समय एक सार्थक और प्रासगिक शब्द हे। समय व्याप्ति को देख कर ही इसका नाम 'समय' रखा गया हे।

"समय' के सामने कुछ मुश्किले निरन्तर बनी रहेगी। ऐसे लेखको की कमी है जो सम्प्रदायातीत चित्त मे जैनाध्यात्म पर अपनी कलम चला सके।

"समय' कोशिश करेगा कि वह बिना किसी वहम मे उलझे जीवन को नवोनत्थान देने वाली आध्यात्मिक सामग्री उपलब्ध कराये।

"समय' जानता है कि हम उत्सवो और समारोहो मे उस द्वार को अक्सर चूक रहे है जो परम आत्मा के आंगन मे खुलता है। 'समय' द्वार की उस चौखट पर ला खडा करेगा जो जैनाध्यात्म का प्रवेश-द्वार है।

([illegible] पृ [illegible] पर)

च य नि का

(डॉ. नेमीचन्द जैन द्वारा सपादित
'समय' : जैन अध्यात्म का त्रैमासिक : मे-से
उनके लेखो का चयन)

चयन :

प्रेमचन्द जैन

हीरा भैया प्रकाशन, इन्दौर

(‘समय’ की सामायिकता · आचरण-पृष्ठ २ का शेष)

“‘समय’ के प्रकाशन के पीछे एक सपूर्ण जीवन-दर्शन था। एक स्वप्न था कि समाज को कर्मकाण्ड-की-कीच से निकाल कर विकास के कुछ ऐसे क्षितिज दिये जाएँ जो उसमे स्वाध्याय के संस्कार को पुनरुज्जीवित करे और अन्धविश्वास, जो कोई-न-कोई सहारा ढूँढ कर तेजी से पनपने लगे हैं, उन्मूलित हो, किन्तु पूरे साल नजर रखने पर भी इस नतीजे पर पहुँचा जा सका कि समाज बहुत तीव्र गति से उस दिशा में जा रहा है जो भगवान् महावीर द्वारा निर्धारित दिशा से भिन्न है और जो सर्वनाश की ही एक भयावनी शक्ल है।

“‘समय’ का प्रकाशन विचार-शुद्धि को ले कर हुआ। जुलाई १९८८ मे उसका प्रवेशांक प्रकाशन में आया और जून १९८९ में अन्तिम।

“‘समय’ की वापसी ‘हीरा भैया प्रकाशन के लिए बहुत बड़ी निराशा का कारण नही है। यह प्रयोग था। यह थर्मामीटर था जिससे समाज के नेतृत्व के तापमान की थाह मिल सकी, अत घाटा उठा कर भी ‘प्रकाशन’ व्यथित नहीं है। उसने एक वर्ष मे भी जो कुछ संभव था, किया है। अब वह अपनी इस भावना को ‘तीर्थंकर’/ ‘शाकाहार-क्रान्ति’ में सम्मिलित कर रहा है।”

ये है ‘समय’ से संदर्भित चयनित अंश जो ‘समय’ के संपादक डॉ. नेमीचन्द जैन ने अपने संपादकीय ‘प्रवेश’ और ‘वापसी’ में व्यक्त किये थे।

जैनाध्यात्म को विशुद्ध दृष्टि से प्रस्तुत करने में उनकी प्रखर प्रतिभा उन्मुख/उन्मुक्त हो रही थी, उससे समाज वंचित रह गया। यदि यह अनुष्ठान/अनुक्रम निरंतर चलता रहता, तो ना मालूम क्या-क्या उपलब्ध होता ! प्रस्तुत ‘चयनिका’ मे ‘समय’ मे प्रकाशित उनके जैनाध्यात्म को योगदान-स्वरूप मौलिक लेखो का चयन किया गया है।

-प्रेमचन्द जैन

चयनिका (डॉ. नेमीचन्द जैन द्वारा सपादित समय जैन अध्यात्म का त्रैमासिक : मे-से उनके लेखो का चयन), चयनकर्ता - प्रेमचन्द जैन © हीरा भैया प्रकाशन; प्रकाशन · हीरा भैया प्रकाशन, ६५ , पत्रकार कॉलोनी, कनाड़िया मार्ग इन्दौर-४५२००१, (म.प्र.) मुद्रण नई दुनिया प्रिन्टरी, बाबू लाभचन्द छजलानी मार्ग, इन्दौर-४५२००९ (म.प्र.); टाईप सैटिंग प्रतीति टाईपोग्राफिक्स, इन्दौर ४५२००१ (म.प्र.); प्रथम संस्करण · १६ दिसम्बर १९९६ ; मूल्य सात रुपये।

च य नि का

ध्यात्म : जीवन का महत्त्वपूर्ण सारांश

बहुत ऊँचाई पर हम जब होते है, तब हमे लगता है कि अध्यात्म जीवन का महत्त्वपूर्ण साराश है। यह वह नवनीत है, जिसकी खोज़ बहुधा हम कर नही पाते। ज्यादातर हमारा मन और हमारी मनीषा छाछ पर यानी देह पर ठहर जाती है और हम अध्यात्म को पर्दे-के-पीछे धकेल देते है। सामान्य जन का प्रस्ताव होता है कि आत्मा का क्षेत्र दुर्गम है, अत अच्छा हो यदि हम किसी सुगम मार्ग को चुने और जब चलने की आदत हो जाए तो इस दुरूह डगर पर पाँव रखे, किन्तु जो लोग आरंभिक बाधाओ से नही घबराते वे गहरे पानी उतर जाते है और अमृतत्व को खोज लाते है।

ध्यात्म स्वभाव के शोध-बोध की-विद्या

अध्यात्म का अर्थ है स्वभाव के शोध-बोध-की-विद्या। आत्मा क्या है ? क्या आत्मा और देह के बीच कोई सीमारेखा है ? आत्मा और जगत् के बीच के रिश्ते क्या है ? क्या ससार से परे कोई स्थिति है ? क्या आत्मा को देह से अलगाया जा सकता है? क्या आत्मा और शरीर का श्लेष चिरन्तन है, या इसे तोडा जा सकता है ? क्या जड-चेतन, जीव-अजीव, आत्म-अनात्म, देह-विदेह जैसी स्थितियों को परोक्षता के कारण छोड दिया जाए ? क्या मात्र उसे ही ग्रहण किया जाए, या उसी पर भरोसा किया जाए जो इन्द्रियगोचर है या अतीन्द्रिय ज्ञान पर भी विश्वास किया जाए ? क्या इन्द्रियो के माध्यम से हम आत्मा के स्वरूप की अनुभूति कर सकते है ? या इस सिलसिले मे हमे कोई और विधि अपनानी होगी ? क्या आत्मज्ञान, या आत्मा-के-स्वरूप की सहज प्रतीति सभव है ? क्या वे लोग जो घोर तपस्याएँ (तथाकथित) करते है और तरह-तरह के कायक्लेश उठाते है, आत्मा की झलक पाते है (पा लेते है) ? क्या आत्मोपलब्धि की यही विधि है, या किसी शान्त, अविचल, अविकल, अनाकुल रास्ते चल कर आत्मा को जाना/पहचाना जा सकता है ? क्या विज्ञान की तरह आत्मज्ञान की कोई ठोस स्थिति है ? विज्ञान यानी साइन्स के पास तो प्रयोगशालाएँ है और तमाम अन्वेषणो और खोजो को बार-बार प्रदर्शित करने का सामर्थ्य है, किन्तु क्या आत्मविद्या-के-क्षेत्र मे इस तरह की कोई प्रत्यक्षता संभव है ? जब हम आत्मा को छू-देख-सूँघ-चख-सुन नहीं सकते तो फिर उस ओर कदम ही क्यो उठाये ? जो

आज हमे जैनो मे स्वय-मे स्वय-को खोजने की जो कला थी - जो उन्हे विरासत मे मिली थी और जिसे वे लगातार भूलते-भुलाते जा रहे है, पुनरुज्जीवित करने की कोशिश करना है। यदि अध्यात्म के क्षेत्र मे हम पूरी ताक़त के साथ उतरते है तो विश्वास कीजिये हमारे व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन मे निर्मलताओं और प्रामाणिकताओ के सावन-भादौ वरस सकते है और हमारे अन्दर-बाहर के कूडे-करकट को फेक-बहा सकते है। जिसका विचार मँज गया है, उसके चित्त और चैतन्य का आँगन सम्यक्त्व और सत्य की धूप से दमक उठता है। बोध और पुरुषार्थ इन दो के दुष्काल के कारण आज जो हमारी दुर्गति हुई है, उसकी समीक्षा जव हम करेगे तब हमारी आँखे खुलेगी।

समय : अनेकार्थक शब्द

समय एक सार्थक और प्रासगिक शब्द है जो दोहरे अर्थ रखता है और दुहरा प्रहार कर सकता है। वह अनेकार्थक शब्द है। वह बहुसकेतक भी है। जहाँ एक ओर वह हमारे व्यावहारिक जीवन से सबद्ध है, वही वह जैनाध्यात्म से भी बद्धमूल है। उसके इन अर्थों मे-से हमे तरह-तरह की दिशा-दृष्टियॉ प्राप्त हो सकती हैं।

समय का अर्थ है काल। काल द्रव्य है। इस दृष्टि से समय का एक पारिभाषिक अर्थ भी है। जव एक पुद्गल परमाणु मदगति से एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश पर छलाँग भरता है तब उस ड्यूरेशन या अवधि की सज्ञा समय है। यह काल का अन्तिम घटक है। जिस तरह आकाश का प्रदेश पुद्गल का परमाणु अन्तिम घटक है, ठीक वैसे ही समय काल की अन्तिम माप-इकाई है।

समय का सामान्य अर्थ

समय का सामान्य अर्थ मे घडी की सूचनाओ को भी कहा गया है। कितना समय हुआ है, मै अधिक समय नही रुक पाऊँगा, उनसे मिले वहुत समय हो गया, अभी दो घंटो का समय शेष है-जैसे अर्थो मे भी समय का प्रयोग होता है, किन्तु यह उसका कामचलाऊ मायना है। गहन अर्थ कुछ और है।

समय अवसर को भी कहा गया है। अभी समय नही आया है, रुकिये। समय आने पर ही काम कीजिये। आप देखेगे कि यथासमय सव कुछ ठीक हो गया है - इत्यादि भी समय की चालू छवि-मुद्राएँ है।

समय प्रधा या परम्परा को भी कहते है। इस अर्थ मे कवि-समय जैसे प्रयोग प्रचलित हैं। चकोर अगारे चुगता है। यह कवि-समय है। समय सिद्धान्त को भी कहते है। वह सकेत और सीमार्धक भी है। आदेश को भी समय कहा गया है।

जैनागम में समय का अर्थ आत्मा

जैनागम मे समय आत्मा को कहा गया है। स्व-समय और पर-समय की चर्चा आचा: कुन्दकुन्द ने बडे विस्तार से की है। 'समयसार' उनका एक जाना-माना ग्रन्थ है। यहाँ य आत्मार्थ में प्रयुक्त है।

अब वस्तुत वह समय आ गया है जबकि हम चारो ओर से सिमिट कर निर्मलीकरण की एक व्यापक प्रक्रिया मे समय के लिए समय दे। हमारा अधिकांश समय समयेतर प्रसगो मे जाता है; समय पर हमारा एक क्षण या क्षणांश भी नही बीतता, अत हमे कोशिश करनी चाहिये कि हम अपने जीवन मे-से उन बाधाओ को खत्म करे, जो समय पर घुंध बन कर उसके मूल स्वरूप को आच्छादित करती है, और अत्यन्त निर्बाध और नि·शक चित्त से समय-के-स्वरूप को जानने का परम पुरुषार्थ करे।

अध्यात्मामृत

आत्मा को ले कर हमारे आचार्यों ने जो अमृत हमे दिया हे, असल मे उस पर हमारा ध्यान विल्कुल नही हे। हम क्षण-भर को भी उस अखूट संपदा पर अपनी आँख टिका नहीं पा रहे है। इस वहुमूल्य संपदा को छोड कर हमारा ध्यान उस संपत्ति को सचित करने पर लगा हुआ है जो चचल है और जिसका अपना कोई ठोर-ठाँव नही है। जैनाचार्यों की अध्यात्म-सुधा को अंजलियाँ भर-भर कर सबके चित्त-घट मे विना किसी पूर्वग्रह के सँजोने और उनके मन मे अध्यात्म के प्रति अपूर्व उत्साह जगाने की इस समय परमावश्यकता है।

की भूमिका मे हों जो डीकलरिग (रग-राहित्य) की कला को जानता हो, यानी पहले से जो रग हमारे चित्त पर ठहरे/वसे हुए है या अक़स्मात् किसी प्रभाव से रुक गये है, उन्हे हटाना जानना हो। वस्तुत अध्यात्म के क्षेत्र मे हम पूर्वग्रह-मुक्त (रग-रहित) हो कर ही निर्मलता का रसास्वाद कर सकते है, अन्यथा वह आनन्द जो सिद्धो ने पाया, फासले पर ही बना रहता है। कविवर दौलतरामजी के शब्दो मे हम 'घर लौट सके'। अध्यात्म का क्षेत्र निजता मे लौटने का क्षेत्र है। पहले जिन, फिर निज, या पहले निज, फिर जिन, चाहे जिस क्रम से चले चक्र है जो निजत्व मे खुलता-घूमता है। निजत्व मे-से जिनत्व को प्रकट करते जाना जैनाध्यात्म की सवमे वडी देन है।

जैनाध्यात्म · परमात्मा की खोज्ञ का विज्ञान

अध्यात्म का, विशेषत जैनाध्यात्म का, अन्धविश्वास से कोई सरोकार नही है। आत्मविद्या के सम्मुख ऐसी कोई विद्या नही है जो टिके। इसके आगे तमाम विद्याएँ फीकी है। जो लोग तन्त्र-मन्त्र मे-से गुजर रहे है, या उन लोगो से जिन्हे अध्यात्म-का-अमृत मिलना चाहिये था उन्हे जो अधी गलियो मे ले जा रहे है, उनका जैनाध्यात्म से रेशे-भर भी सवन्ध नही है। जैनाध्यात्म का सवन्ध परम आत्मा से है। यह परमात्मा की खोज का विज्ञान है।

अध्यात्म को सही जमीन

समाज मे सज्जनो-का-सगठन दिनोदिन कमज़ोर पड रहा है और वे लोग, जो सिर्फ किसी पद या पदवी के लिए लालायित हैं बने रहते है, उसकी बुनावट को वर्वाद कर रहे है। अच्छाइयो की यह सवमे वडी बुराई है कि वे बुढापे मे सगठित होती है। वूढी अच्छाइयाँ होती निर्मल है, किन्तु उनकी ऊर्जा खत्म हो चुकी होती है, अत वे ऐसा कोई परिवर्तन नही ला पाती जो अध्यात्म-के-क्षेत्र मे कुछ परम्पराओ का प्रवर्तन कर सके। दूसरी ओर वुराइयो की अच्छाई यह है कि वे भरपूर यौवन मे एक जुट हो जाती है और ऐसा प्रहार करती हैं कि अच्छाइयाँ या तो मैदान छोड़ कर भाग खडी होती है, या अपना विस्तर-वोरिया वाँध कर तीर्थ-यात्रा पर निकल पडती हैं। क्या हम इस समूचे माहौल को वदल नही सकते ? क्या अध्यात्म को उसकी सही जमीन दे कर हम अच्छाइयो को भर जवानी मे सगठित होने की पहल नही कर सकते ? कर सकते है, किन्तु हमने अपने तात्कालिक लाभो के कारण ऐसे तमाम शुभ कामो को स्थगित कर रखा है। सत्सग, चाहे फिर वह साधुओ, सद्ग्रन्थो, या सुधीजनो का हो-उसका पुनरुज्जीवित होना जरूरी है।

(प्रवेश सपादकीय, जुलाई-सितम्बर १९८८) △

जीवन का त्रिकोण : आहार, आचार, विचार

हमारे जीवन का एक त्रिकोण है - आहार, आचार, विचार। जव हम आहार की ओर नजर डालते है, तव पता चलता है कि आज से एक दशक पहले हम जिस विन्दु पर खडे थे, आज उससे कोसो दूर आ पड़े है। आहार का जो विवेक हममे था, वह आज लुप्तप्राय. है। हमे जो भी मिल रहा है, उसे हम सहर्ष ग्रहण कर रहे है। मन मे सावधानियो के लिए कोई जगह नही रही है। अहिसा जो कभी हमारे हर काम की कसौटी और रीढ रही है, आज पूरी तरह पृष्ठभूमि पर चली गयी है। हम उसकी चर्चा-भर कर रहे है; जीवन मे वह कही नहीं है। बहुत ऊपरी तल पर वे व्रत बच रहे हैं, जिन्हे हम पाँच अणु या महा व्रत कहते है। मुश्किल यह है कि हम अपने इस ध्वस/विनाश पर बिल्कुल चिन्तित नहीं है और निरन्तर ऐसे काम किये जा रहे है, जो धर्म और दर्शन के लिए चुनौती है।

जिसे चौका कहा जाता था, वह अब चौका नहीं है सिर्फ 'डायनिग टेबिल' है। चौके अब बेकरियो और डेयरियो में बदल गये है। चूल्हा-चक्की दोनो अब चौके से बाहर है। हमारा अनाज बाहर से पिस कर आ रहा है और बहुतेरे पदार्थ डिब्बाबद आ रहे हैं। 'क्या खाना चाहिये और क्या नही' इसके बारे में हमारी कोई चिन्ता अब नहीं है। एक बहुत छोटा प्रतिशत ऐसा है जो अभी भी अपनी चक्की/अपना चूल्हा बनाये हुए है, किन्तु ज्यादातर जैन अब इसके बारे मे चादर तान कर खर्राटे ले रहे है।

ध्यान रहे बाहर से जो आ रहा है वह पूरी तरह अहिसा की आधार-भूमि पर खडा हो, ऐसा नही है। जो भी मेज पर परोसा जा रहा है, उसके बारे मे आश्वस्त होना कठिन है। हमने शुद्धता और स्वस्थता दोनो को लगभग बिदा कर दिया है। हम ठीक से सोच ही नही पा रहे है कि 'क्या खाये' और 'क्या न खाये'। हमें विज्ञापन और खबरे जो खिला देते है, वह हम खाने लगते है। न सही हम, आने वाली पीढ़ी अब वही तलाश रही है जो उसे टीवी, रेडियो, अखबार आदि बता रहे है।

आचार-शुद्धि आहार-शुद्धि में-से प्रवर्तित

आचार-शुद्धि आहार-शुद्धि मे-से प्रवर्तित है। दोनो जुडे हुए अस्तित्व है। आहार में-से आचार वनता है। कहा गया है कि आप वही होते है, जो आप खाते है। आप जो खाते है, उसे चुनने मे आप विवेक/वुद्धि का उपयोग करते है। आप जो पेट में डालते है, वही कोशिकाओ/ऊतको के रूप मे प्रकट होता है। सपूर्ण शरीर ऊतको और कोशिकाओ का एक परम चक्र है। ये दोनो आहार से वनते है। हमारा आचार एक वदली हुई शक्ल में आहार ही है। जो विवेक आहार मे-से वनता है, वही आगे चल कर हमारे आचार को नियन्त्रित करता है। मसलन यदि हम मांसाहार करते है तो निश्चित ही हमारे विचारो मे हिसा की

तामसिक भूमिका ही अधिक होगी और यदि हम शाकाहारी है और उसमे भी चुन कर सात्त्विक आहार ग्रहण कर रहे है तो तय है कि हमारा आचार पूर्णत अहिसक होगा और हम न तो ध्वसात्मक कर पायेगे और न ही सोच पायेगे। हमारे देश मे होने वाली हिसक घटनाओ की पृष्ठभूमि पर मासाहार ही है।

र-शुद्धि की अनुपस्थिति

वैसे भी पूरा देश एक किस्म का कत्लखाना ही है जहाँ रोज ही आदर्शों, गुणवत्ताओ, सच्चरित्रो का कत्ल होता है (अब शायद इनके क़त्ल के लिए भी नयी तकनीको का इस्तेमाल किया जाने लगा है)। सदय कत्लघरो का नारा दे कर भी धर्मालु बन्धुओ को भ्रम मे डाला जा रहा है। चारो ओर से इस तरह की कोशिश है कि देश मे बाहर का धन आये फिर चाहे उसके लिए कैसे भी साधन का उपयोग क्यो न करना पडे। राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी का वह सूत्र कि साध्य और साधन दोनो पवित्र होने चाहिये, अब साँस तोड चुका है। उसकी खासा फज़ीहत हुई, किन्तु आश्चर्यजनक तो यह है कि जैन जो खुद को अहिसा के जीवन्त प्रतिनिधि मानते रहे है, अब दुम दवा कर यह सब सहन कर रहे है और राजनेताओ की खुशामद मे जुटे हुए है। इतना ही नही हमारे बडे-बडे साधु भी विचार-शुद्धि की अनुपस्थिति मे राजनेताओ की स्तुति करते नही अघाते। वे शायद नही जानते कि ऐसा करते हुए वे जैनाचार के मूल ढाँचे ही चरमरा रहे होते है।

आहार संवन्धी-सूचनाएँ उपलब्ध हो

सच तो यह है कि वह हम सब खा रहे है, जो हमे नही खाना चाहिये- यह कह कर कि हम करे क्या जो उपलब्ध है, वही तो खा सकते है, किन्तु ऐसा नही है यदि जैन चाहे तो "अहिसा" शीर्पक से कुछ 'डिपार्टमेटल स्टोर्स खोल सकते है जहाँ शाकाहार का ध्यान रखते हुए वस्तुएँ उपलब्ध करायी जाएँ, किन्तु उन्हे पंचकल्याणको, गजरथो, अजन शलाकाओ, वर्षावासो इत्यादि से अवकाश मिले तव न ? यदि अव भी कोशिश की जाए तो पूरे देश मे सहकारिता के आधार पर ऐसी दुकानो का एक कारगर जाल विछाया जा सकता है। इनके अलावा एक ऐसा खाद्य सस्थान और एक ऐसी खाद्य प्रयोग-शालाभी स्थापित की जा सकती है जो अपनी वुलेटिनो द्वारा पूरे भारतीय समाज को आहार-सवन्धी सूचनाएँ उपलब्ध कराये। काम कठिन नही है, किन्तु कोई पहल करे तव न ?

(वापसी सपादकीय, अक ४, अप्रैल-जून, १९८९) △

स्वाधीनता : अपनी-अपनी

जैनदर्शन के बुनियादी सिद्धान्तो पर जब हमारा ध्यान जाता है तब सबमे पहले हमारी ऑख द्रव्य पर पडती है। द्रव्य सत् है। सत् द्रव्य का लक्षण है। द्रव्य 'है' · 'गा' या 'था' नही है। वह अनुक्षण है, 'है' के अतिरिक्त कुछ और वह है नही। उसके इस होने मे-से जो प्रकट होता है वह लोकालोक को परिभाषित करता है।

सब स्वतन्त्र/स्वाधीन

विश्व मे जो भी है उसकी अपनी स्वाधीनता, सत्ता, और स्वाभाविकता है। वह किसी से बँधा हुआ नही है और न ही उसने अन्य किसी को बॉध रखा है। सबकी अपनी-अपनी प्रभुसत्ता (सॉवरेंटी) है और सब अपनी इस सत्ता/स्वाधीनता मे डूबते-नहाते/कूदते-फुदकते गतिमान है। स्वाधीनता इस विश्व की फितरत है। पराधीन यहाँ कुछ भी नही है। इतनी सारी स्वाधीनताओ के बीच कोई भी/किंचित् भी पराधीन नही है। यदि कोई पराधीन है तो वह, जिसे इस तथ्य का अहसास नही है कि वह स्वाधीन है और किसी अन्य को स्वप्न मे भी अपने अधीन नही रख सकता। जो भ्रम मे है, उसकी बात अलहदा है, किन्तु जो निर्भ्रान्त है और सत् को समझ रहा है, निर्धूम देख रहा है वह इस गोरखधंधे की निर्बलताओ से परिचित है चूँकि वह जानता है कि यहाँ परमाणु-मात्र भी किसी के अधीन नही है, सब कुछ स्वायत्त और स्वाधीन है।

वस्तु-स्वातन्त्र्य का मर्म

स्वाधीनता या वस्तु-स्वातन्त्र्य का मर्म विश्व मे सर्वत्र धडक रहा है, किन्तु दुर्भाग्य से हमारी पकड़ उस पर नही है। हम सोचते है फलाँ अस्तित्व हमारी वजह से है, हम है इसलिए वह है या हम चाहते है इसलिए वह है, अथवा हम चाहेंगे जिस तरह, उस तरह से वह होगा, किन्तु ऐसा नही है-हो नही सकता। कुत्ता यदि चलती गाडी के नीचे चले और समझे कि वह गाडी चला रहा है तो यह उसका भ्रम है। मुर्गा यह माने की वह सुबह कर रहा है तो यह उसकी भ्रान्ति है।

सबकी अपनी निजताएँ है और सब अपनी-अपनी निजता मे परिणत होने के लिए प्रतिबद्ध है। जो कैद मान रहे है, वे मान-भर रहे है-वैसा/उस तरह का कुछ है नही

स्वभाव और विभाव

दो शब्द है स्वभाव और विभाव।

स्वभाव का संवन्ध निजता से है, विभाव का परता से। जब हम निजता को भूल परत्व को निजत्व मान वैठते है तब दुविधा खडी होती है। स्व-पर-विज्ञान जैनदर्शन की वहुत वडी देन है। यह जानना कि कौन 'स्व' है और कौन 'स्व' नही है- वहुत कठिन काम है। प्राय हम जिसे स्व मानते है, वह स्व होता ही नही है, पर होता है और जिसे हम पर मानते है या जिसे तुरन्त उसकी असलियत मे देख नही पाते वह स्व होता है, इसलिए सबमे पहले तो हमे चाहिये कि हमारे चारो ओर जो समुपस्थित है उसकी गहन समीक्षा करे और उसे समझे।

आकृत और आकृति

हमे यह देखना है कि विश्व का स्वरूप क्या है, कैसा है, क्यो है, कव से है, कव तक है ? ऐसे इन सवालो के भीतर से अमरता का रहस्य प्रकट होता है, हो सकता है। पता चलता है क्रमश कि विश्व मे आकृत और आकृति दो स्थितियाँ है। एक ध्रुव तत्त्व है, जो आकृति ग्रहण करता है, दूसरी आकृतियाँ है जो दिखायी देती है। अक्सर होता यह है कि आकृत आँखो से ओझल वना रहता है और आकृति आती-जाती है। भूल हमारी यह होती है कि हम आकृतियो को ही आकृत मान वैठते है और आकृत को विस्मृत कर वैठते है-भूले रहते है।

आकृत द्रव्य आकृति पर्याय

जैनदर्शन ने आकृत को द्रव्य कहा है और आकृति को पर्याय। पर्याय अनित्य अर्थात् परिवर्तनशील है, द्रव्य शाश्वत है। पर्याय का उत्पाद-व्यय है। किसी भी द्रव्य की एक वक्त एक ही आकृति अथवा पर्याय हो सकती है। यह संभव ही नही है कि कोई द्रव्य दो पर्याये या आकृतियाँ युगपत् धारण करे। धारण की हुई पर्याय के गुज़रने पर ही आती-हुई पर्याय प्रकट होती है। ऐसा कोई द्रव्य नही है जो पर्यायित अथवा आकृत न हो। द्रव्य को गुण-पर्याय-युक्त होना ही होता है। पर्याय के विना कोई द्रव्य के होने मे-से कोई-न-कोई पर्याय झलकती ही है। पूर्ववर्ती पर्याय उत्तरवर्ती पर्याय के लिए कुर्सी छोडती है।

यह सभव ही नहीं है कि कोई ऐसा विन्दु हो जहाँ पूर्वोत्तर पर्याय एक

साथ कुर्सी पर बैठ सके। कुर्सियो की सरगम-दौड मे पर्याय चाहे जितनी परिक्रमाएँ ले किन्तु कुर्सी किसी एक के ही पल्ले पडती है। द्रव्य-कुर्सी के चारो ओर घूमती आकृतियो मे-से द्रव्य एक समय मे एक ही पर्याय को आलिगित कर पाता है, शेष पर्यायें निराश लौटती है। यह रूपक है। इसे समझें। इस पर रुके नही। इसे ले कर आगे बढे और जाने कि यह विश्व द्रव्य-समूह है।

शब्द की सीमाएँ

जैनदर्शन की गहराइयो मे उतरने के लिए सापेक्षता की नाव मे सवार होना आवश्यक है। जब तक हम इस नौका मे नहीं बैठेंगे, तट पर नही पहुँच पायेगे। तथ्यो-का-पारायण सापेक्ष ही संभव है, निरपेक्षता को तुरन्त किनारा मिले यह असंभव है।

शब्द की अपनी सीमाएँ है। वह किसी एक क्षण मे किसी एक बात को ही कह सकता है। यदि वह चाहे कि बहुत सारी बातों को या एक से अधिक तथ्यो को युगपत् कहे तो यह नामुमकिन है।

शब्द को पीछे-छोड़ जब हम अनुभूति मे-से गुजरते है, या गुजर सकने की योग्यता हासिल करते है, तब विश्व की सत्ताओ से हमारा संवाद बनता है। शब्द उतना ही कह सकता है, जितना उसके लिए सभव है। माने हमारे सामने खट्‌टी, मीठी और कडवी तीन चीजे है। यदि हम इन्हे अलग-अलग चखेगे तो इनके स्वाद जुदा-जुदा होंगे, किन्तु जैसे ही इनके सयोग हमारे सामने आने लगेगे, कठिनाई उपस्थित होने लगेगी। यदि खट्‌टे-मीठे दोनो जायके संयुक्त हो तो फिर स्वाद की विभिन्न डिग्रियो को परिभाषित करना कठिन हो जाएगा। कही-न-कही पहुँच कर हमे शब्द को सलाम करनी होगी और कहना होगा कि हम इस स्वाद को न तो कह सकते है और न ही समझा सकते है। किसी खट्‌टे-मीठे यौगिक को खट्‌टा-मीठा कह देना तो आसान होगा, किन्तु खट्‌टे-मिट्‌ठे की जितनी आकृतियॉं बनेगी उन तमाम आकृतियो का खुलासा कठिन होगा और अन्तत हमे कहना होगा कि शब्द की पकड से परे है ये जायके, मुश्किल है इन्हे परिभाषित करना अथवा इनकी इबारत करना।

स्वतन्त्र स्थिति स्वभाव . संयुक्त अवस्था विभाव

यह संपूर्ण प्रक्रिया मात्र उतनी ही नही है। इस पर यदि हम उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की प्रक्रिया को लागू करके देखे तो हम वस्तुत्व के तलातल मे

बहुत गहरे उतर जाएँगे। किसी अन्य स्वाद के उत्पन्न होने से पूर्व मीठा, मीठा है और खट्टा, खट्टा, किन्तु जैसे ही मीठे ने खट्टे को छुआ, पूर्ववर्ती मिठास और खटास ने विदा लेना शुरू किया। यह विदा लेती हुई मिठास और खटास किसी उत्तरवर्ती स्वाद को जन्म दे रही है। जन्म तो दे रही है, किन्तु मिठास और खटास पूरी तरह चली जाएँ, यह सभव नही है। मिठास है भी, नही भी है, खटास है भी नही भी है। दोनो है, दोनो नही है। दोनो के होने के होने मे-से कोई एक नवीनता भी घटित हुई है, इससे भी हम इकार नही कर सकते, किन्तु इस परिवर्तनोन्मुख नवीनता को समझा पाना कठिन है।

स्वतन्त्र द्रव्य होने का रहस्य-बोध

मिठास और खटास जब अपनी-अपनी जगहो पर हैं, तब भी मिठास की अपनी कई आकृतियाँ (छवियाँ) बन-मिट रही है और खटास भी, किन्तु जैसे ही ये सयुक्त है, एक नयी स्थिति पेश हुई है। जो स्वतन्त्र स्थिति है वह स्वभाव है और जो सयुक्त अवस्था है वह विभाव है। पहली अवस्था निर्विकारता की अवस्था है, किन्तु दूसरी सविकार है। इन स्थितियो मे-से हो कर जब हम जीव और पुद्गल के सयोग पर आते है तब विश्व के बहुत सारे रहस्य स्पष्ट होने लगते है जब हम यह जानते है कि इस विश्व का कोई पदार्थ अन्य किसी पदार्थ के अधीन नहीं है, तब फिर हम जीव को पुद्गल के अधीन अथवा पुद्गल को जीव के अधीन कैसे मान सकते है ? जीव की अपनी स्वाधीनता है और परमाणु की अपनी, क्या यह सभव है कि ये दोनो एक-दूसरे की स्वाधीनता पर शासन करे या उसका अपहरण करे। नहीं। यह मानना कि शरीर और आत्मा दोनो एक है, विश्व को गलत समझना है। इस गलत समझने मे-से उत्पन्न होता है भ्रम। यह भ्रम या गलतफ़हमी हमे एक स्वनिर्मित गोरखधधे से उबरने नहीं देती। पुद्गल जीव को कभी न्यौतता नही है कि वह आये और उससे कोई रिश्ता कायम करे और न ही जीव पुद्गल को न्यौतता है, किन्तु भ्रान्ति बनती है और दिग्भ्रमित जीव विश्व मे कोल्हू-के-बैल की तरह तब तक भ्रमता-भटकता रहता है, जब तक उसे यह रहस्य-बोध नहीं होता कि वह एक स्वतन्त्र द्रव्य है और जैसा वह है ठीक वैसे ही अन्य द्रव्य है।

जीव और पुद्‌गल की भिन्नता

जीव और पुद्‌गल की भिन्नता बहुत स्पष्ट है। जीव जानता है और देखता है। जब वह खुद को जानता और देखता है, तब कोई संकट नहीं बनता; किन्तु जब वह खुद को तो जान नहीं पाता और पर को देखता है तो कठिनाई उत्पन्न होती है। यह भी होता है कि वह खुद को भी जानता है, किन्तु खुद को देखने की जगह अन्य को देखता है इससे भी उलझन खडी होती है। वह जाने/देखे, किन्तु खुद को जाने और देखे। जब वह खुद को जानता और अन्य को देखता है या अन्य को जानता और अन्य को ही देखता है या अन्य को जानता और खुद को देखता है तो झंझट का शिकार हो जाता है।

जीव : ज्ञाता : दृष्टा/आत्मज्ञ-आत्मदर्शी

इसलिए जीव को चाहिये कि वह ज्ञाता-दृष्टा हो, किन्तु आत्मज्ञ और आत्मदर्शी हो। उसे 'पर' दिखायी दे, किन्तु 'पर' को वह देखे नही। देखने मे और दिखायी देने मे अन्तर है। दिखायी देने मे फँसाव नही है, देखने मे फॅसावा (राग) है। राग रोग का कारण है। वीतरागता स्वास्थ्य है, सरागता अस्वास्थ्य है। स्वस्थ हो कर ही हम उपलब्ध करते है, अस्वस्थ हो कर हम अपने हाथ मे पहले-से-जो होता है, उससे भी हाथ धो बैठते हैं।

वस्तु-स्वरूप की खोज्ज

इसलिए जैनदर्शन की पहली शर्त है वस्तु-स्वरूप की खोज्ज। जानो कि कहॉ क्या है और क्या कैसा है। जब तक हम इस लोक को इसके भीतर से नही टटोलते और सिर्फ आकृतियो मे भटकते है तब हम हमारी मुट्ठी मे सारभूत कुछ आये यह असंभव है। जो आता है वह निस्सार होता है- सारता का लेबिल लगाये हुए।

आकृतियो के मेले मे घूमते हम आकृत को खोज नही पाते हैं। आकृतियाँ इतनी सारी और इतनी चित्ताकर्षक होती है कि हम उन्ही मे प्रतिपल गुलाट खाते रहते है और इजिन सीटी बजाने लगता है। ऐसे मे बेहद कठिनाई से हम सही डिब्बे मे बैठ पाते हैं - गलत डिब्बे मे तो बैठते ही आये है। स्टेशन आते रहते है और हम कुछ क्षणों के लिए प्लेटफॉर्म पर उतर कर फिर गाडी मे सवार हो जाते है। यह अन्तहीन यात्रा लगातार चल रही है। इसे तोडने की न तो हमे कोई सुध ही है और न ही हमने इसे तोडने का कोई सम्यक् उपाय ही किया है।

शुद्धत्व की खोज/पहिचान

होता क्या है कि हमारे सामने भगुरताओ-के-इतने सम्मोहन होते है कि सरलता-के-सिन्धुतल मे वैठा अमर तत्त्व हमारी मुट्ठी से प्राय निकल भागता है। हम है अमर, किन्तु मरणशीलता को अमरणशील मान कर क़दम उठाते रहे है और जब कोई वियोग का क्षण उपस्थित हुआ है, तब सर धुनने लगे है, हाथ मलने लगे है।

जो लोग अमरता की खोज मे निकल पडते है उन पर से सम्मोहन का मुलम्मा उतर जाता है। वे शुद्धत्व की तलाश मे चल पडते है।

शुद्धत्व की पहिचान और फिर उसका संधान दोनो दो अलग प्रक्रियाएँ हो कर भी एक-दूसरे से जुडी हुई है। मिलावटो के वीच शुद्धता की पहिचान मुश्किल इसलिए है कि हम मिलावट को ही मानक मान लेते है और फिर जब 'मूल क्या है, कैसा है' इसे जानना कठिन हो पडता है तब खिन्न होते है और वापस पुरानी पगडडी पर आ जाते है। जो एक वार किन्तु किसी तरह ज्ञानोन्मुख हो लेता है, वह फिर उस ओर बढ़ता ही जाता है। उसकी पगतलियाँ रक्तरजित भले ही हो, किन्तु वे शुद्धता का स्वाद एक वार चखने के बाद उसे पाने की तीव्रता मे वौनी नही पडती। जब खोज़ी चित्त को यह पता चलता है कि वह एक ऐसे घोल मे है जो घोल तो है, किन्तु घोल नही है तब फिर वह उस घोल मे-से जो वस्तुएँ उसमे घुली हुई है उन्हे अलगाने का पुरुषार्थ करता है। काफी लम्बे अर्से तक घोल-जिद्दी घोल-अपनी मौलिकता को दुबकाये रहता है, किन्तु जैसे ही गवेषी चित्त को इस वात की थाह मिलती है कि यह घोल है और इसे तोडा जा सकता है, वह वैसे ही अपनी साधना मे और अविचल हो पडता है और अपनी यात्रा को अनवरत रखता है फलस्वरूप उसे सफलता मिलती है और वह उन तत्त्वो को जिनसे 'घोल' घोल की सज्ञा पाये होता है, अलगा लेता है। दोनो तत्त्व शुद्ध/मुक्त/स्वाधीन हो पडते है और उनकी अपनी-अपनी निजताएँ प्रकट होने लगती है।

अध्यात्म-रासायनिक प्रक्रिया

यह संपूर्ण प्रक्रिया कभी सदियो चलती है और कभी समस्त हो कर खत्म हो लेती है। ध्यान रहे विविक्तता की अनुभूति को सही आकार लेने मे वक्त लग सकता है किन्तु जैसे ही उसकी यात्रा सुनिश्चित होती है, उसे प्रकट होने से रोक पाना कठिन होता है।

यह अध्यात्म-रासायनिक प्रक्रिया क ख ग से ब भ म तक वस्तु-स्वरूप की खोज का आधार लिये खड़ी है। जैनदर्शन स्वाभाविकताओं को उघाडने और उन्हें क्रमश पाने का दर्शन है- वह जिद्दी दर्शन नही है बल्कि अत्यन्त उदार और सम्यक्त्व-की-ज़मीन पर सीना ताने खडा दर्शन है।

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक

दो शब्द हैं। अनेकान्त और स्याद्वाद।

अनेकान्त का अर्थ है . कोई भी वस्तु इकहरी नही है वरन् कई गुण-धर्मों की समूह है। वह बहुआयामी है। उसकी इस बहुधार्मिक्ता को जानने के लिए एक खास कोशिश और पुरुषार्थ की जरूरत है।

शब्द की स्थिति यह है कि एक बार मे एक ही कथन कर सकता है; दूसरे कथन के लिए उसे दूसरा क्षण ढूँढना होता है। शब्द की इस सीमा को साधक जानता है। वह जानता है कि वस्तु बहुआयामी है। शब्द उसकी इस बहुआयामिता को मापने मे असमर्थ है। नये शब्द के नयन है। वह उनमें हो कर ही देखता है। जिस तरह हमारी दो आँखे है, उसी तरह नय भी दो है   द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक। द्रव्यार्थिक नय मे-से हम सीधे द्रव्य को जानते है-उस द्रव्य को जो परिशुद्ध है और स्वय मे परिणमित है। किसी द्रव्य का परिणमन न हो, यह असंभव है। परिणति तो है, किन्तु सवाल उसके शुद्ध या अशुद्ध होने का है। द्रव्यार्थिक नय मे-से हम इस बात का अनुभव करते है कि द्रव्य है और प्रतिपल है । 'हे' द्रव्य की अस्मिता हे। ऐसा मुमकिन ही नही है कि द्रव्य एक क्षण हो और दूसरे क्षण न हो। हो कर ही द्रव्य है, न होने पर उसका अस्तित्व ही खतरे मे पडता है।

मसलन   व्यक्ति है। अभी शिशु है। कुछ साल बाद किशोर है। फिर तरुण है। प्रौढ है। वृद्ध है।

यह जो शिशु था, किशोर था, युवा था, अधेड था, वृद्ध हुआ वह क्या अलग-अलग कुछ था ? नहीं। शिशुता, तारुण्य, बुढापा उसकी अवस्थाएँ है। इन सबमे वह है। उसका होना प्रतिक्षण है, किन्तु उसकी भगिमा मे बदलाव हुआ है। उसकी आकृति मे फर्क हुआ है। आकृत ज्यों-का-ज्यों अन्वय/अनुत्पन्न है, किन्तु आकृतियाँ बदली हैं। यह जो फर्क हुआ है, वह पर्याय है। [illegible] नय वस्तु की परिवर्तनशीलता की समीक्षा करता है। किसी [illegible] के इन पहलुओं को बिना नयों की मदद के जानना संभव नही है।

भेद-विज्ञान

जिस तरह किसी लिफाफे पर चिपकाये गये टिकिट को अपनी जगह से हटाने मे कठिनाई होती है, ठीक उसी तरह की मुश्किल तब खडी होती है जब हम शरीर और आत्मा के सघन श्लेष को तोडने की कोशिश करते है। कई बार हमे भ्रम होता है कि कही ऐसा तो नही है कि ये दोनो एक ही है ? किन्तु ध्यान से देखने पर रोशनी की भाँति स्पष्ट हो जाता है कि लिफाफा और टिकिट दोनो दो है- एक नही है। दोनो एक दूसरे से अभिन्न प्रतीत होते है; किन्तु अस्तित्व दोनो के स्वतन्त्र है।

जिस तरह गोद ने लिफाफे और टिकिट को एकरस कर दिया है, ठीक वैसे ही आसक्ति-के-गोद ने शरीर और आत्मा को एकरूप कर दिया है। है दोनो दो; किन्तु आसक्ति-की-सघनता के कारण दोनो अभिन्न दीख पड़ते है। सिर्फ इतना ही नही है बल्कि दुर्भाग्य इस हद तक है कि शरीर को ही हम आत्मा मान बैठते है और आत्मा के अस्तित्व को भुला बैठे है।

शरीर और आत्मा की मौलिक भिन्नता

हममें से ज्यादातर लोग शरीर के खातिर ही जीते है/जीने लगते है। उन्हे न तो आत्मा-के-अस्तित्व की पहिचान रहती है और न ही वे उस ओर आना चाहते है। वे मकान-मालिक की जगह मकान को ही मकान-मालिक मानने लगते है और एक अन्तहीन धोखे मे जीने लगते है। यह भ्रान्ति इस क़दर सघन, सुदृढ और खतरनाक हो पडती है कि हमारे हज़ार कोशिश करने पर भी 'शरीर और आत्मा दो है' इस तथ्य को गले उतारना मुश्किल हो जाता है। झूठ के पाँव कई वार इतने मजवूत होते है कि सत्य को दवे पाँव लौट जाना होता है। शरीर और आत्मा के श्लेष को ले कर यही है।

वस्तुत हमारा ध्यान वस्तु-स्वरूप की ओर जा ही नही पाता है। हम वस्तु-भ्रम मे ही सारी ज़िन्दगी विता देते हे-वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानने का कोई प्रयत्न ही नहीं करते।

सम्यक्त्व और मिथ्यात्व

दो शब्द है। समयक्त्व और मिथ्यात्व। सम्यक्त्व का अर्थ है इस लोक मे 'जो जैसा है, उसे वैसा पाना'। 'जो, जो है उसे वैसा पाना' है बहुत मुश्किल, किन्तु असली काम यही है। सम्यक्त्व का सीधा अर्थ ही यह है कि हम वस्तु-स्वरूप को खोजे। जाने। समझे, और अपने प्रयोजन के अनुरूप इस तरह प्राप्त ज्ञान और समझ का उपयोग करे। प्राय. कई लोग वस्तु-स्वरूप को जानने तो लगते है, किन्तु उसे अपने जीवन का हिस्सा नही वना पाते। ऐसी स्थिति मे उनकी मुट्ठी मे परम-अर्थ खिसक जाता है।

सम्यक्त्व को किंचित् गहरे मे उतर कर उसकी निर्ग्रन्थ अवस्था/निर्वस्त्रता मे जानने की कोशिश हम करे। किसी भी शब्द को दिगम्बर अवस्था मे पाना और देखना दुष्कर कार्य है। जब तक कोई खुद दिगम्बर न हो, नग्न न हो, अपरिग्रही न हो, भीतर-बाहर से परिमार्जित न हो, साफ-स्वच्छ न हो, काँच-कचन न हो, तब तक वह किसी शब्द को उसकी समग्रता/सपूर्णता मे पकड पाये यह सभव नही है।

म्यक्त्व का अर्थ

'सम्यक्त्व' शब्द की भी यही स्थिति है। यह शब्द 'सम्यक्' मे-से विकसित भाववाचक सज्ञा है। 'भक्तामर स्तोत्र' मे दो ऐसे श्लोक है जिनमे इसका उपयोग हुआ है। ये है-प्रथम, तेईस। प्रथम मे शब्द है 'सम्यक् प्रणम्य' तेईसवे मे है 'त्वामेव सम्यगुपलभ्य'। यहाँ हम 'सम्यक्' शब्द की गहराई (डेप्थ) को समझने की कोशिश करे सम्यक् का अर्थ है 'अनेकान्तत्व मे'। यदि आप अपने परम आराध्य के चरणो मे अपना मस्तक झुकाये तो इस बात की पूरी-पूरी जाँच-पडताल कर ले कि आप यह सब अनेकान्त की कसौटी पर कस कर कर रहे है अथवा किसी अन्धविश्वास से उत्तेजित/उद्दीप्त हो कर ? 'सम्यक्' विशेषण का अधिकारी 'प्रणाम' तभी हो पाता है जब हम सतुलित हो, सत्य पर आधारित हो, और वस्तु-स्वरूप को उसकी समग्रता मे जान रहा हो, अत सम्यक्त्व का अर्थ हुआ वस्तु-के-स्वरूप को उसकी तमाम गहराइयो मे जानना। कोई ऐसा हिस्सा उसका बच न रहे जिसे स्याद्वाद की रोशनी मे पहिचाना/पकड़ा न गया हो। ध्यान रहे जहाँ मिथ्यात्व के पाँव थक जाते है, वहाँ सम्यक्त्व की लाठी थामनी पडती है। झूठ अधिक फासले तक यात्रा करे यह सभव ही नही है और यह असदिग्ध है कि सत्य और सम्यक्त्व के पाँव न तो किसी आरोहण पर थक्ते है और न ही किसी गलत निष्कर्ष के आगे माथा नमाते हैं। संक्षेप मे सम्यक्त्व वह है जो सापेक्ष है और मिथ्यात्व वह है जो सापेक्ष नहीं है। जो अनेकान्तकी जमीन पर अवस्थित है वह सम्यक्त्व है और जो दुराग्रह और एकान्त की धरती पर खडा है वह मिथ्यात्व है।

ज्ञान और विज्ञान

जैनदर्शन मे 'ज्ञान' और 'विज्ञान' शब्द काम मे आये है। सामान्यतया ज्ञान और विज्ञान से सामान्य और विशेष ज्ञान के अर्थ लिये जाते है, किन्तु जैनदर्शन/धर्म मे इन शब्दो के इस तरह के अर्थ नही है। ज्ञान का अर्थ वही है जो अंग्रेजी मे 'नॉलेज' का है; किन्तु विज्ञान का अर्थ 'विशेष ज्ञान' या 'साइस' नही है। इसका तकनीकी अर्थ है 'चारित्र'। ज्ञान जब चरित्र के साथ जुडता है, हमकदम होता है, तब विज्ञान बनता है अन्यथा वह अज्ञान की श्रेणी मे पड़ा रहता है।

इस तरह जब हम जैनदर्शन के वातावरण मे ज्ञान-विज्ञान के युग पर विचार करते है तब इसका अर्थ होता है कि ज्ञान को चारित्र के साथ हमकदम है। चरित्र मे असयुक्त ज्ञान को किसी भी स्थिति मे विज्ञान कहना सभव नही है।

भेद-विज्ञान

जब हम यह समझने लगते है कि सम्यक्त्व क्या है ओर ज्ञान-विज्ञान का अर्थ क्या है, तब बारी आती है तप की। अज्ञान की धरती पर खडा तप तप नही ताप है; किन्तु सम्यक्त्व की जमीन पर अवस्थित तप खालिस भेद-विज्ञान है। भेद-विज्ञान के लिए तप करना जेनाचार का अद्भुत-अपूर्व अवदान है। शरीर को कष्ट देने के लिए नही अपितु वस्तु-स्वरूपकी चरमानुभृति के लिए शरीर-मन्थन तप है।

जब हम उपवास/एकासन आदि करते है तब हम तप की चित्तवृत्ति मे होते हैं, किन्तु सिर्फ पूरे दिन आहार न करना, लघन करना उपवास नही हे ओर न ही एक समय आहार करना एकासन हे बल्कि इस अनुभूति को पुख्ता करने के लिए कि 'शरीर शरीर है और आत्म आत्मा', 'शरीर अलग वजूद है, आत्मा अलग' इस तरह की चिनगारी को रोम-रोम मे बालना-जगाना तप हे। तप के सम्यक् ताप मे-से प्रकट होता है यह तथ्य कि 'मै शरीर मे हूँ मै शरीर नही हूँ'। शरीर अलग सत् है, मै अलग सत् हूँ- यह/इस तरह की प्रखर अनुभूति तपश्चर्या के क्षणो मे जन्म लेती है-सहारा ढूँढती है। वह कई बार मन.प्राण के क्षितिज पर आती है और लौट जाती है जब अभ्यास से हम इस अनुभूति को पुष्ट और अविचल कर लेते है और उस पर अगद-के-पाँव की तरह अडिग बन जाते है तब हमारा असली विकास/हमारी असली यात्रा शुरू होती है। यह मात्रा सार-यात्रा होती है।

तीर्थ-यात्रा का प्रयोजन : आसक्ति-क्षय

यह यात्रा सार-यात्रा होती है, शेष तमाम यात्राएँ जिनकी झोली में आसक्तियाँ होती है संसार-यात्राओ की कोटि मे आती है। आज की तीर्थ-यात्राऍ सार-यात्राऍ न हो कर संसार-यात्राऍ ही होती है, इसलिए कि उनकी पृष्ठिभूमि पर तप नही होता-उनके पीछे-पीछे लोभ-लालच, सुख-संपन्नता, कीर्ति-कांचन चलते है। इसलिए जो लोग स्वयं को पाना चाहते है, वे एक तो इस तरह की यात्राएँ करते नही है और यदि करते भी है तो इस तरह कुछ कि उनमे भेद-विज्ञान/भेद-चारित्र्य प्रकट हो। जाने वे कि तीर्थयात्रा धन के लिए नही कर रहे है, सुख-सुविधा के लक्ष्य पर उनकी आँख नही है, सम्पत्ति-सचय भी उसका उद्देश्य नही है वरन् आसक्ति-क्षय ही उसका मुख्य प्रयोजन है।

ख को देखने का पुरुपार्थ तप/धर्म

इस तरह की प्रयोजनवती यात्राएँ सार-यात्राओ की परिधि मे आती है, शेप मात्र भ्रम होती है, अत उन्हे ससार-यात्रा की कोटि मे ही रखना चाहिये। आज कल हमारे नेतृत्व ने तीर्थ-यात्राओ को ससार-यात्राओ का भद्दा रूप दे डाला है। वह तीर्थो पर भेद-विज्ञान के लिए नहीं, कीर्ति-सपादन के लिए जाता है। उससे वह सामान्य तीर्थयात्री अधिक महत्त्व का है जो भेद-विज्ञान की गहराइयो को तो नही जान रहा है, किन्तु जो अपने भीतर किसी कोने मे भक्ति-के-दीपाधार पर सम्यक्त्व का दीपक सँजोये हुए है। ऐसे व्यक्ति मे शनै शनै भक्ति-तत्व कम होता जाता है और विभक्ति-तत्त्व वढता जाता है। वह परम-आत्मा के परम ऐश्वर्य मे-से भेद-विज्ञान के क्षेत्र मे उतर आता है और इस मर्म को नि सदेह जानने लगता है कि 'शरीर शरीर है और आत्मा आत्मा' दोनो दो है। एक न कभी थे। न कभी होगे। न आज है। जो दीख पड़ रहा है वह भ्रम है, जो दीख नही पड रहा है, उस अलख को देखने का पुरुपार्थ तप है, धर्म है।

-विज्ञान का अर्थ अनासक्ति

जो भेद-विज्ञान के रहस्य को समझने लगते है वे अनासक्त हुए दुनिया से स्वय को समेट लेते है। उन्हे अपना असली क्षेत्र दिखायी देने लगता है। वे जानने लगते है कि मनुष्य-जीवन का सार क्या है ? उसकी सफलता क्या है ? वह कितनी मुश्किलो से नसीव होता है और उसका किस सावधानी से उपयोग किया जाना चाहिये ? जव तक हम मोहक्षय नही करते या उस डगर पर अपना पाँव नहीं रखते और आसक्तियो के वियावान जंगल मे ही भटकते रहते है, भेद-विज्ञान को पाना दुष्कर होता है।

ासक्त से अत्मोन्नयन की ओर

अनासक्त होने का नतीजा यह होता है कि हम अत्मोन्नयन की ओर आ जाते है। एक-एक पल हम खोजते, देखने और पाने की कोशिश करते है कि हम क्या है क्यो है, क्या प्रयोजन है हमारे होने का आदि। हमारे चारो ओर जो विस्तृति है उसका लक्ष्य क्या है ? क्या इन विस्तृतियो के और हमारे वीच कोई रिश्ता है ? यदि है तो वह किस तरह का है ? उसका स्वरूप क्या है ? क्या जो नाशवान् है और जो नाशवान् नहीं है उन दोनो का स्वरूप एक है या दोनो के वीच कोई स्पष्ट भेद-रेखा है ? यदि दोनो को अलगाने वाली कोई रेखा है तो वह क्या है ? कौन-सी है ? इस तरह के नाना प्रश्न उसके मस्तिष्क में आते है और एक प्रखर आत्मोन्मुखता मे उसे इन सारे प्रश्नो के उत्तर सिलसिलेवार मिल जाते है।

स्वाध्याय : अक्षर/अनक्षर

जब हम इस तरह के प्रश्नो के उत्तर दूसरों से जानने को होते हे तब हमारे हाथ से हमारी सत्ता का खूँट छूट जाता हे और हम भटकने लगते हैं; किन्तु जब हम चारो ओर से हट कर स्वयं मे-से इन प्रश्नो के उत्तर खोजने का पुरुपार्थ करते है तब हमे जो उत्तर मिलते है वे हमारी आगामी यात्रा को आसान ओर अविचल, सफल ओर समग्र बनाते है, इसलिए हम प्रतिपल स्वाध्याय करे दो तरह का : अक्षर-स्वाध्याय मे हम ग्रन्थो का अध्ययन करे और साधु-सत्संग की ओर आये तथा अनक्षर स्वाध्याय मे अपने भीतर गहरे उतरते जाएँ तथा अनुभूति-की-लिपि मे स्वयं को पढने का यत्न करे।

जब हम ग्रन्थ-स्वाध्याय मे-से निष्णात हुए निर्ग्रन्थ-स्वाध्याय के क्षेत्र मे पाँव रखते है तब सच मानिये भेद-विज्ञान के तमाम वैभव हमारे सामने स्वयं आ खडे होते है और हम एक अन्तहीन ज्ञानालोक मे कृतकृत्य हो उठते है।

(सपादकीय, अंक ३; जनवरी-मार्च, १९८९) Δ

भेदवैज्ञानिक विवेक

जैनधर्म मोक्षमार्गी धर्म है। मोक्ष यहाँ मुख्य, शेष आनुषंगिक है। मुमुक्षु जितना प्रयोजन-भूत है, उतने का ही स्वीकार करता है, शेष नकार देता है। (हेय) छोडने योग्य और उपादेय (पाने योग्य) की परख के बिना वह एक पग या एक पल भी आगे नही बढ सकता। उसकी यात्रा मे क्या ग्राह्य है, और क्या अग्राह्य है। इस भेदवैज्ञानिक विवेक में ही उसकी संपूर्ण यात्रा सफल या असफल है। इसलिए आत्मा का सच्चा खोजी, इसी ओर पूरी सावधानी रखता है।

स-नाम महावीर : अ-नाम महावीर : प्र-णाम महावीर

कई बार यह प्रश्न सामने आ खडा होता है कि क्या चिन्तक और चिन्तन
दो अलग-अलग स्थितियाँ है ? क्या धूप को सूरज से अलग किया जा
सकता है ? क्या किसी वस्तु की छाया को उस वस्तु से
अलगाना सभव है ?

चिन्तक का जन्म होता है, किन्तु चिन्तन का विकास होता है। वह एक
तरह से व्यक्ति की अर्जित सपदा होती है। हम अक्सर चिन्तक को तो देख पाते
है, किन्तु चिन्तन को उसकी समग्रता मे जानने मे कठिनाई होती है।
महावीर को हम अ-नाम जाने यह मुश्किल है, उन्हे स-नाम जानना आसान है।
ज्यादातर लोग महावीर को सनाम ही जानते है अनाम नही।

विचारक स-नाम : विचार न-नाम

विचार अनाम होता है। उसे कोई नाम देना सभव नही है। नही होता,
किन्तु विचारक स-नाम होता है। एक बात और है।

हमारा ध्यान प्राय वृद्ध की ओर जाता है, वर्द्धमान की ओर नही जाता।
जो वर्तमान भूत को/ छू गया है। छू रहा है, या जो आसन्न भूत है,

उसे तो हम जानते है-जानने लगते है, किन्तु वर्धमान पर या आसन्न भावि
पर हमारी पकड़ प्राय ढीली होती है।

तीर्थंकर · युगचिन्तक

जो भूत और भविष्य, गत और अनागत के पलड़ो के बीच आगत के काँटे पर
अपनी पकड बना पाते है वे होते है 'तीर्थंकर'।

'तीर्थंकर' उन मुश्किलो को, जिन्हे पार कर पाना असभव-सा प्रतीत होता है,
पार कर लेते है-उनका वह तीर्थंकरत्व क्षण-की-विजय पर ही निर्भर करता है;
वे क्षण को जीत लेते है। उनके सामने काल एक अखण्ड-अविच्छिन्न प्रवाह होता
है। वे वस्तु को उसके सपूर्ण वस्तुत्व मे जानने लगते है,
इसलिए जो घट रहा है, उसे घटता हुआ मानकर, जो घटने वाले को जानते है
वे होते है युग-चिन्तक।

परम मनीषी

ऐसे थे परम मनीषी भगवान् महावीर। वे मनुष्य थे और मनुष्यत्व
की संपूर्णता के लिए उन्होने वह सब छोडा, जिससे लोग प्राय. इस तरह
चिपटे रहते है, जिस तरह आज का राजनीतिज्ञ सत्ता और पद से, या जैसे
भ्रमवश आत्मा शरीर से।

महावीर इन श्लेप से परिचित थे।

वे इस श्लेप के सम्यक्त्व को आमूल जानते थे। जानने लगे थे। धीरे-धीरे वे
तपश्चर्या मे-से वस्तुओ-के-व्यक्तित्व को उसकी जीवन्तता में अपने सम्मुख खडा
देखने लगे थे। उन्होने धधकती वहिर्मुखता से स्वयं को काट कर अन्तर्मुखता की
आँच में डाल दिया था। अनुभव किया था उन्होने कि यह जो दृश्य है, उससे परे
वह है, जो दृष्टा है। दृश्यों पर से हट कर उनका ध्यान

ज्ञाता-दृष्टा

ज्ञाता-दृष्टा पर आ लगा था। जो ज्ञाता-दृष्टा है, पूरी तरह वीतराग वही
है या उसी मे वीतरागता की तमाम संभावनाएँ सन्निहित हुई है।

लोग प्राय ज्ञान के मत्थे सारे दोष डाल देते है कि यदि हमने फलाँ स्थिति
को जाना न होता तो हमे शायद कोई हर्ष-विषाद न होता, किन्तु
उनका इस तरह सोचना दोषपूर्ण है। 'जानने' में दोष नही है, बल्कि जिसे
जाना जा रहा है उससे संबद्ध या असंबद्ध होने मे दोष है। भगवान् जानते
है, किन्तु जिसे जाना जा रहा है, उससे वे खुद जुडते नही है। वे ज्ञाता-दृष्टा
होते है, किन्तु साझीदार नही होते। वे देखते है/जानते है, किन्तु जिसे
देखते/जानते है, उसे फासले पर पाते है। रागद्वेष से मुक्त होता है उनका वह ज्ञान
सदोष/सकलुष वह होता है रागद्वेष के कारण। ज्ञान को रागद्वेष से
मुक्त रखने की साधना का नाम तप है। तप कायक्लेश नही है, वह एक
सपूर्ण जीवन-दर्शन है। जब तक तप की पृष्ठभूमि पर दर्शन नही होगा, कोई
सयोजना नही होगी, तब तक उसका होना, न होना अर्थहीन होगा।

इसलिए

महावीर ने उस समय जब कि यह देश हिसा की भट्टी मे तप रहा था
तव सत्ता पर से अपना मोह हटा लिया और अत्यन्त अनासक्त भाव से
सत्य को ढूँढने निकल पडे।

सत्यनिष्ठा

इतिहास मे जब भी, जहाँ भी किसी मनीषी ने सत्य से आँखे चार की है, वहीं उसे अनगिनत सकटो का सामना करना पड़ा है। सत्य के साम्मुख्य मे पग-पग पर विपदाएँ होती है। सत्य खोज़ना और खोज़ कर उसे अक्षत-अटूट पाना बात बड़ी साधना है। सत्य के साथ मुश्किल असल मे यह है कि उस पर असत्य का मुलम्मा चढा होता है। कई पर्तो मे असत्य से वेष्टित सत्य इतना सर्वांगत होता है कि उसे देखना और देख कर मुट्ठी मे कसना मुश्किल होता है। एक तो वे लोग, जो ससार मे लिप्त होते है, सत्य को पहिचान नही पाते और कदाच् पहिचान भी लेते हे तो उससे ठीक-ठीक आँखे नही मिला पाते।

सत्य से आँख मिलाना कोई मालूमी बात नही है। यह स्थिति इतनी विदग्ध और तेजोमय होती है कि उससे आँख अटना प्राय असभव ही होता है। त्याग की विशद और गहन भूमिका के बिना सत्य-के-तट तक पहुँच पाना सभव नहीं है।

आसक्तियाँ और मूर्च्छाएँ इतनी होती है मनुष्य के जीवन मे कि वह प्राय उनसे मुक्त नहीं हो पाता। कोई-न-कोई मूर्च्छा उसे प्रतिपल बाँधे रहती है जब वह मूर्च्छाओ की दासता से परे होता है, तब वह सत्य-की-डगर पर पुरश्चरित होता है।

सत्य शब्द नहीं

रपाल से

सत्य शब्द नहीं होता। वह शब्द पर चढ कर आ सकता है, किन्तु शब्द का नहीं होता। शब्द वर्तन है, वह अर्थ नहीं है, सत्य अर्थ है। स्वर है। व्यजन नहीं है। व्यजन नि शक्त या शरणागत होता है स्वर के बगैर ठीक उसी तरह शब्द खाली-खस्स होते है अर्थ की अनुपस्थिति मे। सत्य शब्द नहीं है। शब्द हम कर सकते है।

सत्य निरतर होता है। सत्य को एक बार उसकी परिपूर्णता मे पा लेने पर फिर कभी वह साथ नहीं छोडता। तकलीफ यह है कि लोग अश को पा कर ही मान लेते है कि उन्होने सपूर्ण को अपनी मुट्ठी मे कस लिया है, किन्तु ऐसा होता नहीं है-

[illegible] फिर वे [illegible] मे पड़ने लगते है।

[illegible] ने सत्य की खोज शुरु की और वे इसकी गहराइयो मे उतरते गये।

कितने ही सकट आये उनकी साधना पर, किन्तु उनके क़दम पीछे की ओर नही
आये। यही बगाल
उनकी साधना की कसोटी वना था कभी। यही छोडे गये थे उन पर कुत्ते। यही
फेंका गया था उन पर गोवर। और यही इतिहास ने जाना था कि
जव भी सत्य यात्रायित होगा

झूठ के कुत्ते उस पर छोडे जाएँगे, और जब भी कोई साधना वैमल्य को पाने के
लिए यत्नवती होगी, तब उस पर मल फेका जाएगा ताकि वह अधिक
विमल/उज्ज्वल हो सके। अमर होने के लिए, पता नही क्यो, विषपान प्राय·
जरूरी रहा है। वह महावीर, जो कभी बगदेश मे विहार पर हुआ था, अपने
प्रत्यावर्तन मे उसे वह सब मिला जिसके लिए उसने अपनी साधना का
सूत्रपात किया था। सब जानते है कि आग मे पड कर सोने का सारा छल
टूट जाता है और वह जर्रे-जर्रे मे निश्छल हो पडता है। यही होता है
आत्मा के साथ। वह आसक्तियों मे सतत् तच कर अनासक्त हो जाती है।
इस तरह महावीर, या वर्द्धमान इसलिए महावीर या वर्द्धमान थे चूँकि वे
सत्य की खोज में अनवरत/अनथक थे। जो भी जब भी जहॉ भी सत्य की खोज मे
अनवरत/अनथक रहेगा,
महावीर होगा। यह असंभव ही है कि कोई व्यक्ति सत्य-के-मार्ग पर निरलस
चले और महावीर न हो-
वह अपरिहार्यता है
वैसा तो होगा ही
वैसा हुआ ही है।
वह असंदिग्ध है।

महावीर : व्यक्तित्व/विचार

समझे
कि महावीर कोई नाम, वय, स्थान नही है, वह व्यक्तित्व है, वह विचार है।
वह चिन्तन है। वह कोई हाड-माँस नही है। वह उन सीमाओ से परे
अक्षर है। जो हाड-माँस कभी था, वह अब कहाँ है ? ऐसे कितने ही हाड-
माँस के पंजर उनसे पहले, उनके समय,उनके वाद हुए, किन्तु कहाँ है वे सब ?
जो विचार बने वे रहे, जो नही बन सके, वे नही रहे। जिन्होने मृत्यु
को चुनौती दी और उसे जीता वे अमर हुए और जिन्होंने उसके आगे घुटने

टेक दिये वे इतिहास की स्मृति से परे हो गये, तवारीख ने उन्हे भुला
दिया।

मृत्यु को जानना और उसे जान कर जीतना सरल भी है, कठिन भी।
सरल उनके लिए है जो उसकी दिग्विजय के लिए निकल पडे हैं और संकल्प कर
चुके है कि उसका हर पैंतरा और दाँव जानेगे और उसे हर मोर्चे पर परास्त
करेगे,
मुश्किल उनके लिए है जो लालसाओ के गुलाम है। जो वासनाओ के दास है.
आसक्तियाँ जिनकी सर्वस्व है, ऐसे लोग मृत्यु के दाँव से बच नही सकते।
मृत्यु उनसे भयभीत रहती है, जो स्वय अभीत/महावीर होते है-
उन्हे वह अपने पजो मे कसती है जो उससे आतकित और डरे-सहमे रहते है।

महावीर की वर्द्धमानता

महावीर की वर्द्धमानता स्वय चुनौती थी मृत्यु के लिए। दुनिया की तमाम
वर्द्धमानताएँ चुनौती बनी रहेगी 'यावच्चन्द्रदिवाकरो' मृत्यु के लिए।
इसलिए महावीर ने जो पाया उसे वर्द्धमान रक्खा। वे ठहरे हुए जल नहीं
थे, बहते हुए नीर थे। जो बहता है वह कभी पुराना नही पडता, अप्रासगिक
नहीं होता, जो ठहर जाता है, वह पुराना और अप्रासंगिक हो जाता है।
महावीर आज भी कहाँ ठहरे हुए है ? वे वर्द्धमान है आज भी। संसार मे
थे तब उनकी वर्द्धमानता खालिश नही थी. अब जब मुक्त हुए है तो उनकी
वर्द्धमानता खालिश है। द्रव्यो की यह विशेषता है कि वे अपने
खालिश रूप मे भी वर्द्धमान रहते है। जीव और पुद्गल का श्लेष जब वर्द्धमान
रहता है तब ससार बनता है और जब इनमे विविक्तता जन्मती है और
वे खालिश हो निकलते है, तब इनकी वर्द्धमानता स्वाभाविक
होती है। कुल मिला कर
इस बात को हम महावीर मे-से हो कर समझे कि वर्द्धमानता इस लोक
मे अवस्थित द्रव्यो का स्वभाव है। ऐसा सभव ही नही है कि द्रव्य-परिणाम
न हो-असल मे इसी परिणमन/परिणाम का नाम ही वर्द्धमानता है।
महावीर ने लोकालोक की धडकन का सम्यक् अनुवाद किया। उसे
उसकी भाषा मे समझा। समझ कर उससे वियुक्त हुए।

उन्होने यह जाना कि इस संसार मे सयोग और वियोग का चक्र अनवरत चल
रहा है। ज्ञान मे कहीं संयोग-वियोग नही है। अज्ञान मे है। ज्ञान जब

कितने ही संकट आये उनकी साधना पर; किन्तु उनके क़दम पीछे की ओर नही
आये। यही बंगाल
उनकी साधना की कसौटी बना था कभी। यहीं छोडे गये थे उन पर कुत्ते। यही
फेंका गया था उन पर गोबर। और यही इतिहास ने जाना था कि
जब भी सत्य यात्रायित होगा

झूठ के कुत्ते उस पर छोडे जाएँगे, और जब भी कोई साधना वैमल्य को पाने के
लिए यत्नवती होगी, तब उस पर मल फेंका जाएगा ताकि वह अधिक
विमल/उज्ज्वल हो सके। अमर होने के लिए, पता नही क्यो, विषपान प्राय·
जरूरी रहा है। वह महावीर, जो कभी बगदेश मे विहार पर हुआ था, अपने
प्रत्यावर्तन मे उसे वह सब मिला जिसके लिए उसने अपनी साधना का
सूत्रपात किया था। सब जानते है कि आग मे पड कर सोने का सारा छल
टूट जाता है और वह जर्रे-जर्रे मे निश्छल हो पडता है। यही होता है
आत्मा के साथ। वह आसक्तियो मे सतत् तच कर अनासक्त हो जाती है।
इस तरह महावीर, या वर्द्धमान इसलिए महावीर या वर्द्धमान थे चूँकि वे
सत्य की खोज मे अनवरत/अनथक थे। जो भी जब भी जहाँ भी सत्य की खोज मे
अनवरत/अनथक रहेगा,
महावीर होगा। यह असभव ही है कि कोई व्यक्ति सत्य-के-मार्ग पर निरलस
चले और महावीर न हो-
वह अपरिहार्यता है
वैसा तो होगा ही
वैसा हुआ ही है।
वह असदिग्ध हे।

महावीर : व्यक्तित्व/विचार

समझे
कि महावीर कोई नाम, वय, स्थान नही है, वह व्यक्तित्व हे, वह विचार है।
वह चिन्तन है। वह कोई हाड-मॉस नही हे। वह उन सीमाओ से परे
अक्षर है। जो हाड-मॉस कभी था, वह अब कहाँ है ? ऐसे कितने ही हाड-
मॉस के पञ्जर उनसे पहले, उनके समय, उनके बाद हुए, किन्तु कहाँ हे वे सब ?
जो विचार बने वे रहे, जो नही बन सके, वे नही रहे। जिन्होंने मृत्यु
को चुनौती दी और उसे जीता वे अमर हुए और जिन्होंने उसके आगे घुटने

एक दिन वे इतिहास की स्मृति से परे हो गये, तवारीख ने उन्हे भुला
दिया।
मृत्यु को जानना और उसे जान कर जीतना सरल भी है, कठिन भी।
सरल उनके लिए है जो उसकी दिग्विजय के लिए निकल पडे हैं और संकल्प कर
चुके है कि उसका हर पैंतरा और दाँव जानेगे और उसे हर मोर्चे पर परास्त
करेंगे,
मुश्किल उनके लिए है जो लालसाओ के गुलाम है। जो वासनाओ के दास है,
आसक्तियाँ जिनकी सर्वस्व है, ऐसे लोग मृत्यु के दाँव से बच नही सकते।
मृत्यु उनसे भयभीत रहती है, जो स्वय अभीत/महावीर होते है-
उन्हे वह अपने पजो मे कसती है जो उससे आतकित और डरे-सहमे रहते है।

महावीर की वर्द्धमानता

महावीर की वर्द्धमानता स्वय चुनौती थी मृत्यु के लिए। दुनिया की तमाम
वर्द्धमानताएँ चुनौती बनी रहेगी 'यावच्चन्द्रदिवाकरौ' मृत्यु के लिए।
इसलिए महावीर ने जो पाया उसे वर्द्धमान रखा। वे ठहरे हुए जल नही
थे, बहते हुए नीर थे। जो बहता है वह कभी पुराना नही पड़ता, अप्रासगिक
नही होता, जो ठहर जाता है, वह पुराना और अप्रासगिक हो जाता है।
महावीर आज भी कहाँ ठहरे हुए है ? वे वर्द्धमान है आज भी। ससार मे
थे तब उनकी वर्द्धमानता खालिश नही थी, अब जब मुक्त हुए है तो उनकी
वर्द्धमानता खालिश है। द्रव्यो की यह विशेषता है कि वे अपने
खालिस रूप मे भी वर्द्धमान रहते है। जीव और पुद्गल का श्लेष जब वर्द्धमान
रहता है तब ससार बनता है और जब इनमे विविक्तता जन्मती है और
वे खालिस हो निकलते है, तब इनकी वर्द्धमानता स्वाभाविक
होती है। कुल मिला कर
इस बात को हम महावीर मे-से हो कर समझे कि वर्द्धमानता इस लोक
मे अवस्थित द्रव्यो का स्वभाव है। ऐसा सभव ही नही है कि द्रव्य-परिणाम
न हो-असल मे इसी परिणमन/परिणाम का नाम ही वर्द्धमानता है।
महावीर ने लोक-अलोक की धड़कन का सम्यक् अनुवाद किया। उसे
अपनी भाषा मे समझा। समझ कर उससे वियुक्त हुए।

उन्होने यह जाना कि इस ससार मे सयोग और वियोग का चक्र अनवरत चल
रहा है। ज्ञान मे कहीं सयोग-वियोग नहीं है। अज्ञान मे है। ज्ञान स्व

कितने ही संकट आये उनकी साधना पर, किन्तु उनके कदम पीछे की ओर नही आये। यही बंगाल
उनकी साधना की कसौटी बना था कभी। यहीं छोड़े गये थे उन पर कुत्ते। यही फेंका गया था उन पर गोबर। और यही इतिहास ने जाना था कि
जब भी सत्य यात्रायित होगा

झूठ के कुत्ते उस पर छोड़े जाएँगे, और जब भी कोई साधना वैमल्य को पाने के लिए यत्नवती होगी, तब उस पर मल फेंका जाएगा ताकि वह अधिक विमल/उज्ज्वल हो सके। अमर होने के लिए, पता नही क्यो, विषपान प्राय· जरूरी रहा है। वह महावीर, जो कभी बंगदेश में विहार पर हुआ था, अपने प्रत्यावर्तन मे उसे वह सब मिला जिसके लिए उसने अपनी साधना का सूत्रपात किया था। सब जानते है कि आग मे पड कर सोने का सारा छल टूट जाता है और वह जर्रे-जर्रे मे निश्छल हो पड़ता है। यही होता है आत्मा के साथ। वह आसक्तियों में सतत् तच कर अनासक्त हो जाती है। इस तरह महावीर, या वर्द्धमान इसलिए महावीर या वर्द्धमान थे चूँकि वे सत्य की खोज में अनवरत/अनथक थे। जो भी जब भी जहाँ भी सत्य की खोज में अनवरत/अनथक रहेगा,
महावीर होगा। यह असंभव ही है कि कोई व्यक्ति सत्य-के-मार्ग पर निरलस चले और महावीर न हो-
वह अपरिहार्यता है
वैसा तो होगा ही
वैसा हुआ ही है।
वह असंदिग्ध है।

महावीर : व्यक्तित्व/विचार

समझे
कि महावीर कोई नाम, वय, स्थान नही है, वह व्यक्तित्व है, वह विचार है। वह चिन्तन है। वह कोई हाड-मॉस नही है। वह उन सीमाओं से परे अक्षर है। जो हाड-मॉंस कभी था, वह अब कहाँ है ? ऐसे कितने ही हाड-मॉस के पंजर उनसे पहले, उनके समय,उनके बाद हुए, किन्तु कहॉ है वे सब ? जो विचार वने वे रहे, जो नही वन सके, वे नही रहे। जिन्होंने मृत्यु को चुनौती दी और उसे जीता वे अमर हुए और जिन्होंने उसके आगे घुटने

टेक दिये वे इतिहास की स्मृति से परे हो गये, तवारीख ने उन्हे भुला दिया।

मृत्यु को जानना और उसे जान कर जीतना सरल भी है, कठिन भी।

सरल उनके लिए है जो उसकी दिग्विजय के लिए निकल पड़े हैं और सकल्प कर चुके है कि उसका हर पैंतरा और दाँव जानेगे और उसे हर मोर्चे पर परास्त करेंगे,

मुश्किल उनके लिए है जो लालसाओ के गुलाम हे। जो वासनाओ के दास है, आसक्तियाँ जिनकी सर्वस्व है, ऐसे लोग मृत्यु के दाँव से वच नही सकते।

मृत्यु उनसे भयभीत रहती है, जो स्वय अभीत/महावीर होते है-

उन्हे वह अपने पजो मे कसती है जो उससे आतकित और डरे-सहमे रहते है।

महावीर की वर्द्धमानता

महावीर की वर्द्धमानता स्वय चुनौती थी मृत्यु के लिए। दुनिया की तमाम वर्द्धमानताएँ चुनौती वनी रहेगी 'यावच्चन्द्रदिवाकरौ' मृत्यु के लिए।

इसलिए महावीर ने जो पाया उसे वर्द्धमान रक्खा। वे ठहरे हुए जल नही थे, बहते हुए नीर थे। जो बहता है वह कभी पुराना नही पड़ता, अप्रासगिक नही होता, जो ठहर जाता है, वह पुराना और अप्रासगिक हो जाता है।

महावीर आज भी वहाँ ठहरे हुए है ? वे वर्द्धमान है आज भी। ससार मे थे तब उनकी वर्द्धमानता खालिश नही थी, अव जव मुक्त हुए है तो उनकी वर्द्धमानता खालिस है। द्रव्यो की यह विशेषता है कि वे अपने [illegible] रूप मे भी वर्द्धमान रहते है। जीव और पुद्गल का श्लेष जव वर्द्धमान होता है तब ससार बनता है और जब इनमे विविक्तता जन्मती है और वे [illegible] से निकलते है, तब इनकी वर्द्धमानता स्वाभाविक होती है। [illegible]

इस [illegible] हम महावीर मे-से हो कर समझे कि वर्द्धमानता इस लोक [illegible] का स्वभाव है। ऐसा सभव ही नही है कि द्रव्य-परिणाम [illegible] मे [illegible] परिणमन/परिणाम का नाम ही वर्द्धमानता है।

[illegible] अनुवाद किया। उसे [illegible]। [illegible] उससे विमुक्त हुए।

[illegible] कि इस ससार मे सयोग और वियोग का चक्र अनवरत चल रहा है [illegible] सयोग-वियोग [illegible] है। अज्ञान मे है। ज्ञान जब

अपने केवल्य मे होता है तब वहाँ द्रव्य की तमाम पर्याये युगपत् स्पष्ट होती है। जहाँ सपूर्णता है, वहाँ संयोग अथवा वियोग का कोई प्रश्न ही नही है। जहॉ आशिकता है, सयोग या वियोग वहाँ है। कैवल्य मे अशज्ञान के लिए कोई गुंजाइश नही है, वह एक ठसाठस सार्वांशिकता है, कैवल्य है, ज्ञानघन है। सबकुछ झलक रहा है,किन्तु उस झलक मे किसी तरह की आसक्ति नहीं है, साझेदारी नही है।

समझे कि महावीर वह है जो इष्ट-अनिष्ट के संयोग-वियोग से ऊपर-बहुत ऊपर उठ गया है और

जो रह गया है निपट खालिश-शुद्ध आत्मतत्त्व।

महावीर को यदि जानना है तो उन्हें पूर्वाग्रह-मुक्त चित्त से एक विचार की तरह जानना होगा-जैसे ही हम उन्हे विचार से दूर ले जाएँगे वैसे ही वे हमारी समझ-की-परिधि से बाहर निकल जाएँगे।

वस्तु-स्वरूप-की-खोज

भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित जैनदर्शन का लक्ष्यबिन्दु है वस्तु-स्वरूप-की-खोज। यह कि यह क्या है, मै क्या हूँ, यह क्यो है, मै क्यो हूँ, मेरे चारों ओर जो यह सबकुछ है और जिसे मै इन्द्रियो की खिडकियो से लगातार देखता आ रहा हूँ-वह क्या है ?

इस 'क्या', 'क्यो' मे-से सूर्योदय होता है एक ऐसी चिन्तन-प्रक्रिया का जो सत्य-की-खोज की एक अप्रतिम प्रणाली है। इसे हम चिन्तन-के-क्षेत्र-की-अहिसा का नाम दे सकते है।

यह एक ऐसी वैचारिक सहिष्णुता और उदारता को जन्म देती है जिसकी कोख से सहअस्तित्व की सदाशयता और परस्पर विश्वास तथा भाईचारे की भावना का आविर्भाव होता है।

जैनदर्शन का तकनीकी शब्द अनेकान्त

अनेकान्त जैनदर्शन का एक तकनीकी शब्द है। महावीर और उनके पूर्ववर्ती तीर्थकरो ने इसके प्रयोग द्वारा जहाँ एक ओर कैवल्य की प्राप्ति की वही दूसरी ओर विना किसी टकराहट के एक सर्वसम्मत और सर्वजनसुखाय जीने-की-कला को भी विश्व के सामने रखा। जीते सब है, किन्तु जीने की कला बहुत कम लोग जानते है। अनेकान्त द्वारा हम जहॉ एक ओर स्वय सुख के राजमार्ग पर आ खडे होते है, वहीं दूसरी ओर यह भी सोचने लगते है कि जो सीमाएँ

नहीं है

और उन लोगों की भी हो सकती है जो मेरी ही तरह के परिवेश मे समाज मे
सांस ले रहे है।

अनेकान्त से मन मे दूसरो के लिए सम्मान और प्रीति के लिए अवकाश बनता है
और व्यक्ति स्वतन्त्र चिन्तन की दिशा मे पूरी शक्ति के साथ आ जाता है।

बहुआयामी चिन्तन-पद्धति

अनेकान्त का अर्थ है बहुआयामी अर्थात् यह चिन्तन-प्रक्रिया मान कर चलती है
कि संसार की तमाम वस्तुओ का स्वरूप बहुआयामी है -बहुमुखीन है, अत
जब हम उसे अपने स्तर पर खोजते है तब उसका एक पक्ष, एक आयाम, या एक [illegible]
सामने आ पाता है। ऐसी सकीर्णताओ मे यदि हमने अंशत जो जाना है
उस को अन्तिम मान ले और अड़ जाएँ कि साहब, यह जो हमने जाना है वही
सही और अन्तिम है तो फिर एक तो सत्य-की-खोज आधी-अधूरी रह जाती है,
दूसरे जो दूसरा व्यक्ति खोजी जा रही वस्तु का भिन्न पक्ष जानता है या
जान रहा है, उसे चोट लगती है-अत हमे इस बात का ध्यान रखना है [illegible]
जो हम जानते है वह एक हिस्सा है, सपूर्ण नही है। सपूर्णता को [illegible]
लिए वीतराग होना आवश्यक है। राग या द्वेष वस्तु को [illegible]
जाना उसे उसकी सपूर्णता मे प्रकट नही होने देते। [illegible]
वस्तु को उसकी सपूर्णता मे जानने लगता है, वह [illegible]

स्याद्वाद : सापेक्ष कथन

अनेकान्त की बगल मे खडा एक और तकनीकी शब्द मुस्करा रहा है। यह है 'स्याद्वाद'। स्याद्वाद का अर्थ है सापेक्ष कथन। स्यात् जो वाद के साथ जुड कर प्रयुक्त है व्याकरण की दृष्टि से निपात है। निपात वह शब्द होता है जिसकी कोई व्युत्पत्ति देना संभव नहीं होता। 'स्यात्' शायद की तुल्यता का शब्द नही है। इसका अर्थ संदेहपरक नही है, बल्कि सापेक्ष है।

स्यात् का स्पष्ट अर्थ है कि जो कह दिया गया है उसके अलावा और -और बच रहा है जिसे आगे चल कर कहा जाएगा। स्यात् एक अर्थगत हाशिये की ओर इशारा करने वाला शब्द है। यह हाशिया प्राय हमारी नजर से छूट जाता है और हम एक अर्थहीन आग्रह के कारण सत्य-के-तट तक पहुॅचते-पहुँचते रह जाते है।

स्याद्वाद के सात भंग हैं, जिनके द्वारा हम सत्य-का-पीछा करते है। जैनदर्शन की सबमें मुख्य बात रह है कि उसने प्रतिपाद्य को समझने-समझाने की प्रक्रिया पर गहराई से और शीर्ष प्राथमिकता के साथ प्रकाश डाला है।

उसका कथन है कि सत्य को हम सापेक्ष (इन रिलेशन टू) ही जान सकते है। हमारी ऐन्द्रिक सीमाएॅ है। हम जो देख, सुन, सूँघ, चख, या छू सकते है वह युगपत् नही हो पाता। वह एक-समय-मे-एक होता है। ऐसी स्थिति मे हम जो जानना चाहते है, उसे जानने मे बाधा पड़ती है। जब तक हम आत्मा, (जिसका व्युत्पत्तिक अर्थ है 'अतति सततं गच्छति जानाति इति आत्मा' -जो निरन्तर जानता है उसका नाम आत्मा है।)

के इस अर्थ पर अँगुली रखते हैं तब हमे आत्मा के सम्यक् व्यक्तित्व का बोध होता है। यह कि आत्मा क्या है ? वह ज्ञान-रूप है। वह ज्ञानघन है। वह ज्ञान ही है। वह ज्ञाता-दृष्टा है। वह जानता है और उसे दिखायी देता है।

वह देखता नही है। खयाल रहे · वह देखता नही है, उसे दिखायी देता है। वस्तुत जो देखता है वह आग्रह-ग्रस्त हो जाता है और जिसे दिखायी देता है, वह विविक्त हो जाता है। दर्पण देखता नही है, उसमे विम्ब पड जाते है। वह अच्छा-वुरा कुछ नही जानता-कहता भी नही है। वैसा फैसला या तो वह दृष्टा पर छोड देता है, या फिर उसे अनिर्णीत/अनकहा पडा रहने देता है। आत्मा मे जव खालिश/केवलज्ञान प्रकट होता है तब कहीं जा कर कोई मनोज्ञ स्थिति वनती है यानी वीतरागता का उदय होता है।

स्वय का मध्य और स्वय का अन्त है। हमारा सपूर्ण लोक/यह दृश्य जगत् स्कन्ध-प्रभव है। जीव ओर पुद्गल के सयोग का नाम संसार हे ओर इनके विविक्त होने का नाम मोक्ष। खयाल रहे-

जेनदर्शन ने कर्मसिद्धान्त को वडे गहरे मे जा कर पकड़ा हे। वह सिर्फ 'जेसा वोना वेसा काटना' तक ही सीमित नही हे, वल्कि उससे काफी आगे है। कार्मण वर्गणा विशिष्ट पुद्गल-स्कन्ध होते है, जिनके संयोग-वियोग मे जीव वद्ध-मुक्त होता हे। कर्म मूर्त हे, सूक्ष्म हे वे , किन्तु मूर्त है। तत्त्व सात है-जीव, पुद्गल, आस्रव,वध संवर, निर्जरा, मोक्ष। जीव से पुद्गल का पृथक्कीकरण मुक्ति हे। तप मे-से भेद-विज्ञान और भेद-विज्ञान की यथार्थ समझ-मे-से तप का आविर्भाव होता है।

जव यह प्रतीति होती है कि जीव और पुद्गल की अपनी-अपनी स्वतन्त्र सत्ताएँ है, तव 'उत्पादव्ययध्रौव्य' का सूत्र स्पष्ट होता है।

जीव-पुद्गल श्लिष्ट दीखते हैं, है नही-इसी बोध के साथ कोशिश शुरू होती है इन्हे पृथक् करने की। कर्म कैसे बँधते है इस प्रक्रिया को जानते ही इस बात का बोध होने लगता है कि इन्हे अलगाया कैसे जाए, और वद्ध कर्मों की निर्जरा कैसे की जाए ?

कर्म-निर्जरा सिद्धान्त

जैनाचार्यों ने कर्म-निर्जरा के सिद्धान्त को काफी विस्तार से समझाया है। हम यहाँ उतने विस्तार में न जा कर मात्र इतना ही कहेगे कि जैनदर्शन ने परमाणु को गहरे में जाना है और उसके स्वरूप को इतनी बारीकियो में खोजा है कि लोक के बहुतेरे धुँधलके स्पष्ट हो गये है। यह तथ्य कि परमाणु इस लोक की संरचना का अन्तिम घटक है -जैनदर्शन सदियो से प्रतिपादित करता आया है। जिन तथ्यों को पहले खोजा गया है और जिन्हे आज खोजा जा रहा है उनके लक्ष्य-बिन्दु भले ही जुदा हो, किन्तु निष्कर्ष प्राय एक ही हैं। पुद्गल और जीव के स्वरूप मे-से ही जैनदर्शन ने संसार और मोक्ष की व्याख्या की है।

जब हम भगवान् महावीर की अँगुली पकडे दर्शन की ऊँचाइयों से उतर कर आचार की तराइयो मे आते है तब लगता है कि जैनदर्शन और जैनाचार दो अलग पडाव नही है बल्कि दोनो के मध्य एक स्पष्ट सेतुबंध है।

जैनाचार की सूक्ष्म व्याख्या

भगवान् महावीर ने जैनाचार की सूक्ष्मतर व्याख्या की है।
गौतम गणधर ने उनसे अनगिनत प्रश्न किये हैं और महावीर ने उन सबके
सानुभव/अनूठे उत्तर दिये है। ये प्रश्नोत्तर मननीय है।
मुश्किल सिर्फ यह है कि सपूर्ण जैन वाङ्मय प्राकृतो मे है. अत जब तक हम
इसे ठीक-ठीक जान नहीं लेते तब तक मौलिकताओं का रसास्वाद नही
कर सकते। यह नहीं कि
यह सब-कुछ हिन्दी आदि भाषाओं मे उपलब्ध नही है, है, किन्तु जो
आनन्द मूल मे होता है, वह अनुवाद या द्वितीय/तृतीय सम्प्रेषण-सोपान पर
सभव नहीं है। प्राकृत कठिन नहीं है, किन्तु प्रयत्नाभाव के कारण आज
हम

महावीरत्व

महावीर-से-महावीरत्व से लगभग कट गये है। इस समय हम एक ऐसे घातक
दौर से गुजर रहे है, जो महावीरत्व के सदर्भ मे धार्मिक और
आध्यात्मिक निरक्षरता का दौर है। कठिनाई यह है कि
कोई भी
महावीर को उनके सम्यक्त्व मे पाने की तैयारी मे नहीं है। वह इतना
व्यस्त और कमजोर है कि उसके मन मे-से उन्हे जानने की उत्कण्ठा ही प्राय
लुप्त हो चुकी है।

जैनाचार की नींव

उससे बदला ले, या उसे किसी पसोपेश मे डाले- वह हिसा है। हिसा का
द्वार सबमे पहले मनुष्य के भीतर खुलता हे, बाहर तो मात्र उसकी
अभिव्यक्ति होती है। असल मे व्यक्ति सबमे पहले आत्महनन करता
है ओर उसके बाद दूसरो का। धारा इतनी अटूट होती हे कि हमारा मन
इस या उस को क ही मान बेठता हे। सब जानते है कि हिसा के
विचार मे पडे बिना उसका आचार मे आना असभव ही होता है।
कई बार तो ऐसा भी होता है कि बाहर कोई हिंसा घटित ही नही
होती और भीतर वह हो जाती है।
जैसे कोई मछुहारा सवेरे से जाल डाले बैठा है, किन्तु सूर्यास्त तक उसके जाल
मे एक भी मछली नही है तो भी महावीर कहते है कि मछुहारे के मन ने
मछलियॉ पकडी है और वह हिसा का भागी हुआ है।
दूसरी ओर एक शल्य-चिकित्सक ऑपरेशन कर रहा है और वैसा करते-करते
संबन्धित रोगी के प्राण-पखेरू उड गये है
तो बाहर हिसा के घटित होने पर भी वहाँ हिसा नही है चूँकि
चिकित्सक के भीतर मारना नही था, जिलाना था। उसके उपकरण
की धार रोगी को बचाने के लिए थी, उसे मारने के लिए नही। कुल
मिला कर महावीर की अहिसा गहराई से भी अधिक गहरे गयी है और
उसने सभ्य मनुष्य को अधिक सभ्य बनाया है। इस तरह जैनधर्म/जैनाचार का
सपूर्ण ढाँचा भावना/नीयत की नींव पर खडा है।

सत्य : मात्र कथन नहीं

सत्य मात्र कथन तक सीमित नही है। वह जीवन मे प्रकट होने के लिए है।
जहॉ अहिंसा है, वहाँ सत्य की स्थिति न हो यह असंभव है, किन्तु भगवान्
महावीर ने सत्य को ले कर एक बहुत गहरी बात कही है। वह यह कि
इस लोक मे वस्तु उत्पादव्ययध्रौव्य-रूप है।
सत् जहाँ भी है-वह उत्पन्न होता है, लुप्त होता है, और फिर भी
अवस्थित रहता है

हम समझे यहाँ कि सत्/द्रव्य गुण-पर्यायवान् है। गुण गुणी को कभी नही
छोडता, इसी तरह पर्याय भी उसे नहीं छोडती। हम समझे यहाँ यह
कि सत् की कोई-न-कोई पर्याय तो होती ही है। पर्याय की अनुपस्थिति
मे कोई द्रव्य नही होता। कोई-न-कोई अभिव्यक्ति तो द्रव्य की
होती ही है, अत निष्कर्ष मे हम यह जाने कि पर्याय के बिना कभी कोई
द्रव्य नही हो सकता। वस्तु-स्वातन्त्र्य के लिए वस्तु मे गुण-पर्याय होगे

ही। यह वस्तु की अपरिहार्यता है।
उत्पाद और व्यय पर्याय के श्वासोच्छ्वास है और ध्रौव्य-वह गुण की
[illegible] है। जब हम उत्पादव्ययध्रौव्य के सूत्र को समझने का प्रयास करते हैं,
हम उसके [illegible] में जानना चाहते है तब लगता है कि कोई भी
द्रव्य पर्याय की दृष्टि से ही बनना-मिटना है, और गुण की दृष्टि से
ध्रुव रहता है।
यह पर्यायबुद्धि से है। जब हम पर्याय मे सत्य को खोजने लगते है तब कठिनाई
आ खड़ी होती है; किन्तु जब हम पर्याय के सत्य को जानने लगते है
तब सारी कठिनाइयाँ विलुप्त हो जाती है-

इसलिए यदि सत्य को ढूँढ़ना/पाना ही है तो उसे इन तीनो मे युगपत खोजना
होगा। जानना होगा लोक-के-स्वरूप को और जानना होगा इस मर्म को
कि द्रव्य कभी नष्ट नहीं होता उसकी पर्याय मात्र बनती-मिटती है। पूर्व
पर्याय छूटती है, उत्तर आ खड़ी होती है, उत्तर पर्याय पूर्व पर्याय के स्थान
पर आ जमती है और फिर उसे भी कोई उत्तर पर्याय स्खलित कर देती
है अतः यह नौ-दो-ग्यारह हो लेती है। यह क्रम अन्तहीन है, किन्तु
इसे सम्यक्त्व के धरातल पर भलीभाँति समझा जा सकता है।
[illegible] समग्र जैनदर्शन सम्यक्त्व की नींव पर खड़ा है।
हमने इस सम्यक्त्व को एक त्रिभुज में खोजा है। त्रिभुज है-सम्यग्दर्शन
सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र। दर्शन का सम्यक्त्व सही-सन्तुलित रुचि है, ज्ञान का
सम्यक्त्व-[illegible] मे, और चारित्र का स्वरूपाचरण मे है। [illegible]
[illegible] सत्य है। इसे मन, वचन, और काय से [illegible]
[illegible]।
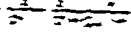
चोरी एक सूक्ष्म धारणा है। स्वय को पर्याय-बुद्धि मे डालना/उलझाना
भी चोरी है। चोरी कोई मात्र स्थूल स्थिति नही है, वह सूक्ष्मतर स्थिति
भी है। वह मानव-मन ही नही प्राणि-मन मे वहुत गहरे पडी मूर्च्छा है।
उस तक अपनी समझ-की-नोक को दौडाना कोई वहुत आसान काम नही है।
वैसा करने के लिए सवमे पहले अपनी प्रज्ञा को मॉजने/बुहारने की आवश्यकता है।
जब तक हम अपनी प्रज्ञा को सम्यक्त्व-की-रेत से खूब मॉज नही लेते,
कुछ हो नही सकता। इस/ऐसे परिष्कार मे-से ही प्रकट होता है क्रमश·
अस्तेय। भगवान् महावीर के अस्तेय को समझना कठिन जरूर है; किन्तु उसे
एक बार पाने के वाद संभवत· कुछ और पाने को फिर बच नही रहता है।
अस्तेय के बाद है अपरिग्रह। यह समता/साम्य के विकास की प्रक्रिया है।
जब हमे यह बोध होने लगता है कि इदं न मम (यह मेरा नही है)
मैं कुछ यदि हूँ तो मात्र ट्रस्टी हूँ

अपरिग्रह

तब प्रकट होती है अपरिग्रह-की-रोशनी। अपरिग्रह दो शब्दो से बना
है। 'अ' का अर्थ संपूर्ण निषेध नही है, उसका अर्थ स्वल्पतर होते जाना है।
'अ' कोई अंक नही है, परिणाम है। परिणाम को हम शून्य तक ले जा सकते है।
हम उसे घटाते या हटाते जाएँ जो स्वभाव नही है और
हम देखेगे कि हमारा पाँव उस मजिल पर है जिसकी हमे तलाश थी। जीवन मे-से
निरर्थकताओ/मूर्च्छाओ को घटाते जाने का नाम है अपरिग्रह और उन्हें
सपादित/प्रतिपादित करने की सज्ञा है परिग्रह। मोह क्या है ? पर्याय मे
गहन मूर्च्छा। हम जब विभाव को स्वभाव मानने की भूल करने लगते है
तब शुरू होता है वस्तु की स्वतन्त्रता का हनन।

वस्तु-स्वातन्त्र्य

जैनधर्म का प्रमुख प्रतिपाद्य है वस्तु-स्वातन्त्र्य। महावीर ने वस्तु-स्वातन्त्र्य
पर जितना बल दिया है और किसी पर नही। उन्होने साम्य/समत्व
को उसकी समस्त भगिमाओ मे जाना और बताया है। देखा उन्होने कि
वैषम्य के कितने छल और कितने रूपान्तर हो सकते है और सम्यक्त्व
द्वारा उनसे कैसे निपटा जा सकता है।
महावीर ने परिग्रह पर अपने समकालीन संदर्भों मे भी विचार किया।
उन्होने देखा कि समाज में नारी की स्थिति द्वितीयक/गौण है। वह शोषण के
अन्तहीन दुश्चक्र मे पडी हुई है। उन्होने इस स्थिति-वैषम्य पर विचार किया।
वे इसे ले कर वहुत गहरे गये। उन्होने इतिहास के पृष्ठ भी पलटे और पाया

[illegible] एक अमूर्त सामाजिक दासता की बेड़ियों में जकड़ी हुई है। उसे भी परिग्रह में सम्मिलित किया गया है। वह ठीक वैसी ही है जैसे ज़मीन, जायदाद, स्वर्ण, रजत, ऊँट, हाथी आदि। उन्होंने इस सामाजिक विषमता को उसके सम्यक् परिप्रेक्ष्य में समझने की कोशिश की और व्रतों को एक नया आयाम दिया।

ब्रह्मचर्य

अब तक चातुर्याम थे-अहिंसा सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह। उन्होंने इस पंक्ति में एक और आयाम जोड़ा-ब्रह्मचर्य।
ब्रह्मचर्य सिर्फ संयम का प्रतीक नहीं है, वह नारी-मुक्ति/वॉमैन-लिव का मैनीफेस्टो (घोषणा-पत्र) भी है। ब्रह्मचर्य के द्वारा महावीर ने नारी को तमाम धार्मिक, परम्परित सामाजिक दासताओं से मुक्त किया/उसे मुक्त करने का सूत्रपात किया। उन्होंने देखा कि जो जैनधर्म वस्तु-मात्र की स्वाधीनता की बात करता है वह परिग्रह के अन्तर्गत नारी को पराधीन क्यों रखना चाहता है?

समयसार : आत्मतत्त्व का एक अद्वितीय ग्रन्थ

'समयसार' आत्मतत्त्व की खुली और साफ-सुथरी विवेचना का एक अद्वितीय ग्रन्थ है। इसके रचयिता है प्रज्ञावन्त आचार्य कुन्दकुन्द।
वे कब हुए, कहाँ हुए इसकी प्रासगिकता यहाँ उतनी नहीं है, जितनी इसकी कि 'समयसार' मे उन्होंने क्या कहा है और जो / जिस तरह कहा हे वह हमारे समकालीन जीवन को कितनी रोशनी दे सकता है ?

क्या हम 'वदित्तु सव्वसिद्धे' से शुरू और 'होही उत्तम सोक्ख' पर ख़त्म ४१५ गाथाओ वाले इस ग्रन्थ-शिरोमणि मे-से ऐसा कुछ पा सकते हे, जो हमारे तन-मन को निर्मल करे और समाज के जीवन को जगमगाये ? क्या हम पूर्वाग्रहमुक्त हो कर इसका कोई सचित्र सस्करण ला सकते है जो व्यक्ति-के-जीवन का दीपस्तम्भ बने और उसके चित्त और चेतना के जहाज को अज्ञान-की-चट्टानो से टकराने से बचा कर उसे अपनी स्वाधीनता मे उन्मुक्त करे ?

नय हैं नयन

'समयसार' मे वह सब है जो व्यक्ति के भीतर के नयन-नेत्र खोल सकता है। नय है नयन, किन्तु एक नही दो।

जिस तरह एक आँख वाला व्यक्ति सपूर्ण/सतुलित/आनुपातिक वस्तु-दर्शन नही कर सकता, उसी तरह एक नय से वस्तु-स्वरूप को खोजने वाला व्यक्ति भी वस्तु-के-अखण्ड/परिपूर्ण व्यक्तित्व को नही पा सकता। व्यवहार नय और निश्चय नय दोनो एक ही सिक्के के दो पहलू है। व्यवहार नय की पीठिका के बिना निश्चय नय की दीप्तिमन्त मुखछबि के दर्शन संभव नही है। ध्यान दे नयन वे नही है जिनमे नय नही है, नयन असल में वे है, जिनमे नय है। नयन शब्द अद्भुत है वह दोनो ओर से नयन है। नय इधर से, नय उधर से-इस तरह बनते है नयन।

समयसार : समस्त पदार्थों में श्रेष्ठ

'समयसार' को प्राकृत मे 'समयपाहुड' और संस्कृत मे 'समयप्राभृत' कहा गया है। 'प्राभृत' का अर्थ है 'उपहार'। परम्परा है कि जब हम किसी राजा/सम्राट्/शहंशाह के समीप जाते है तब कोई तोहफा ले जाते है। आप

समयसार को समझने के लिए

आचार्य कुन्दकुन्द की कसौटियाँ बडी सत्यसंध और प्रखर है। वहाँ खरा खरा है, खोटा खोटा। और फिर सारा दारोमदार पाठक/साधक की समझ पर अवलम्बित है। वस्तुतः जब तक हम आचार्य कुन्दकुन्द, रचयिता कुन्दकुन्द की रचना-भूमिका पर स्वयं को आरूढ नही करते, तब तक समयसार-के-सार को समझ पायें, यह असंभव है।

पक्षातिक्रान्त है स्वसमय

१४४ वीं गाथा पर आ कर तो आचार्य कुन्दकुन्द ने कमाल ही कर दिया है। लगता है यहाँ आ कर उन्होंने अपने खजाने की असली चाबी पाठक को सौप दी है। वे कहते है : 'जो नयों और पक्षो को अतिक्रान्त कर गया वह समयसार है'।

पक्षातिक्रान्त होने की ही समस्या तो आज हमारे सामने है। हममें-से ज्यादातर लोग 'समयसार' को बगलबस्त किये या तो किसी नय के तम्बू में है या किसी पक्ष के पक्ष मे; किन्तु आँखो -तले खड़े 'समयसार' के इस मर्म को नही समझ पा रहे है कि जो पक्षातिक्रान्त है वह स्वसमय है। गाथाएँ २०८-०९ ज्ञाता-दृष्टा होने की बात कहती है · **पण्णाए घित्तव्वो जो दट्ठा अहं तु णिच्छयो-पण्णाए घित्तव्वो जो णादा सो अहं तु णिच्छयदो** (जो प्रज्ञा से इस तथ्य को जानता है जो कि दृष्टा है वह मै हूँ, जो ज्ञाता है वह मै हूँ, वह स्व है शेष पर है)। इस तरह की कई अचूक कसौटियाँ आचार्य कुन्दकुन्द ने जगह-जगह मील-के-पत्थर की तरह कडी कर दी है; किन्तु खयाल रहे बिना भेद-विज्ञान के कभी कुछ घटित हो, यह असंभव है।

गाथा ३०८-४१५ में भेद-विज्ञान का कल्पतरु अपने सघन वैभव मे विस्तृत है-फलीभूत है। इसकी छाँव मे वैठ कर हम क्या नही पर सकते ?

समयसार की जड़-निष्प्राण व्याख्या की ज़रूरत नहीं

इस तरह हम देखेंगे कि 'समयसार' का अक्षर-अक्षर हमे अक्षरत्व की ओर अग्रसर करता है; किन्तु दुर्भाग्य यह है कि हम 'ममयसार' की भाषिक विपदा और झंझट मे फँस गये हैं, उसे जीने या जीवन मे प्रकट करने में हमारी कोई रुचि नहीं है। आज हमें समयसार की जड़ निष्प्राण व्याख्या की ज़रूरत नहीं है बल्कि आवश्यकता है उसे हृदयंगम करने की।

(अंक २, अक्टूबर-दिसम्बर, १९८८)

प्रारम्भ में

जैन विद्या पत्राचार पाठ्यक्रम अखिल जैन समाज मे बिना किसी पूर्वाग्रह और भेदभाव के विज्ञान को धर्म की दृष्टि से और धर्म को विज्ञान की दृष्टि से देखने का एक सतुलित और स्वस्थ प्रयास है। पाठ्यक्रम की ९ इकाइयो के ५६ पाठो का आलेखन डॉ नेमीचन्दजी जैन ने अपनी मौलिकता, समग्रता, और दूरदर्शिता के साथ इस प्रकार किया है, जहाँ एक ओर यह समाज के विशिष्ट वर्ग (चिकित्सक, इजीनियर, प्राध्यापक, अभिभाषक, पत्रकार, लेखक, प्रशासक इत्यादि) के लिए है, वहीं दूसरी ओर प्रबुद्ध/विद्यार्थी-वर्ग भी लाभान्वित हो सकता है।

हीरा भैया जैन विद्या पत्राचार पाठ्यक्रम संस्थान के तत्त्वावधान मे पूज्या माँ हीराबाई की ३३ वी पुण्यतिथि (१६ दिसम्बर १९८९) को इसका शुभारम्भ समारोह उज्जैन मे सपन्न हुआ था। एक वर्ष मे डाक-द्वारा जैनधर्म की मौलिकताओ का समकालीन और तकनीकी सदर्भो मे तुलनात्मक अध्ययन से परिपूर्ण इस पाठ्यक्रम का प्रथम सत्र जनवरी, १९९० मे प्रारम्भ हुआ था।

स्वाध्यायार्थियो की आवश्यकता को ध्यान मे रख कर सपूर्ण पाठ्यक्रम (सजिल्द) उपलब्ध किया गया है। 'चयनिका' मे संपूर्ण पाठ्यक्रम के चयनित अश सक्षिप्तीकरण के साथ इस प्रकार प्रस्तुत किये गये हैं जिससे जैनधर्म/दर्शन/सस्कृति/समाज से सबन्धित जिज्ञासा/उत्सुकता की तृप्ति/सतुष्टि होने के साथ-ही-साथ स्वाध्याय की प्रेरणा स्वत /स्वयस्फूर्त हो सकती है।

पूज्या माँ की ४० वी पुण्यतिथि १६ दिसम्बर, १९९६ के निमित्त ४८ पृष्ठीय 'चयनिका' समर्पित है।

१६ दिसम्बर, १९९६ — -प्रेमचन्द जैन

चयनिका (डॉ. नेमीचन्द जैन द्वारा आलेखित जैन विद्या पत्राचार पाठ्यक्रम मे-से चयनित अश), चयनकर्ता - प्रेमचन्द जैन © हीरा भैया प्रकाशन; प्रकाशन हीरा भैया प्रकाशन, ६५ , पत्रकार कॉलोनी, कनाडिया मार्ग, इन्दौर-४५२००१, (म प्र) मुद्रण नई दुनिया प्रिन्टरी, बाबू लाभचन्द छजलानी मार्ग, इन्दौर-४५२००९ (म प्र), टाईप सैटिंग प्रतीनि टाईपोग्राफिक्स, इन्दौर ४५२००१ (म प्र), प्रथम सस्करण १६ दिसम्बर, [illegible] मूल्य दस रुपये।

च य नि का

जैनधर्म का परिचय : मूलभूत सिद्धान्त

जैनधर्म के अन्तर्गत तीर्थंकरों-द्वारा उपदिष्ट रत्नत्रय-मार्ग (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र) आता है। यही मोक्षमार्ग है। सही आस्था, सही ज्ञान और सही आचरण मिल [illegible]-मार्ग की रचना करते हैं।

प्राचीनतम धर्म

इतिहास की दृष्टि से जैनधर्म को देखने से यह निर्विवाद हो गया है कि जैनधर्म किसी धर्म की शाखा-प्रशाखा नहीं है, वरन् उसका अपना स्वतन्त्र उद्भव और विकास हुआ है।

भगवान् आदिनाथ को कृषि-संस्कृति का प्रवर्तक माना गया है। उन्होंने कृषि, मसि, असि और ऋषि के माध्यम से क्रमशः उद्योग-धन्धे, शिक्षा, व्यवसाय, रक्षा और योग धर्म का सूत्रपात किया था। कला और शिल्प के गहन अध्ययन से भी जैनधर्म की प्राचीनता पुष्ट होती है। भाषा और साहित्य के अनुसंधान से भी उसकी पुरातनता पर प्रकाश पड़ता है। इस तरह यह स्पष्ट है कि जैनधर्म विश्व का प्राचीनतम धर्म है, जिसके अपने प्रतिपादन हैं और [illegible] दार्शनिक ढाँचा है।

अहिंसामूलक आचार-शास्त्र/जीवन-शैली

महाव्रत-अणुव्रत

सामाजिक/नैतिक दृष्टि से जैनधर्म ने अहिंसा पर सबसे अधिक जोर दिया। उसने व्रतो की व्यवस्था की। व्रतों का यथाशक्ति पालन हो, अत· इनके दो स्तर कायम किये· महाव्रत, अणुव्रत। साधुओं के लिए महाव्रत और श्रावको (गृहस्थो) के लिए अणुव्रत। जैसे बिन्दु-मे-सिन्धु का प्रतिनिधित्त्व होता है, ठीक वैसे ही अणुव्रतो में महाव्रत समाये होते है। ये पाँच है अहिसा, सत्य, अचौर्य, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य। साधु इनका पूर्णतया पालन करता है, अत· महाव्रती होता है तथा श्रावक इनका अंशरूप परिपालन करता है अत अणुव्रती होता है।

जैन साहित्य

अधिकांश जैन साहित्य प्राकृत/अर्द्धमागधी मे है, संस्कृत और अपभ्रश मे भी वह है। जो वाङ्मय उपलब्ध है उसके चार वर्ग है **प्रथमानुयोग** मे कथा-पुराणादि के माध्यम से तत्त्वबोध कराया गया है, **करणानुयोग** में लोक-अलोक की रचना, युग-परिवर्तन का कथन है; **चरणानुयोग** मे मुनि/गृहस्थ के चारित्र आदि का वर्णन है, **द्रव्यानुयोग** मे जीव-अजीव आदि द्रव्यो की विवेचना है।

अनेकान्त-दृष्टि

जैनदर्शन तक अपनी निर्विघ्न पहुँच बनाने के लिए अनेकान्त-दृष्टि आवश्यक है। यह जानना जरूरी है कि वस्तु बहुआयामी (मल्टीडायमेशनल) है। उसमे नाना गुण-धर्म है, जिनका एक साथ (युगपत्) वर्णन सभव नही है।

जैन समाज की संरचना

जैन समाज की संघटना और संरचना (स्ट्रक्चर) चतु·सघवर्ती है। सारा समाज चार बडे भागो/वर्गों मे विभाजित है। ये है · श्रमण, श्रमणा, श्रावक, श्राविका। महत्त्वपूर्ण यह है कि इस वर्गीकरण मे नारी को नर की बराबरी का दर्जा दिया गया है। इस दृष्टि मे जैन समाज का पारम्परिक ढाँचा काफी समतामूलक है। समता जैनधर्म का नवनीत है। जैन सारे देश, सारे विश्व मे फैले हुए है।

जैनधर्म की मूलत तीन प्रमुख विशेषताएँ :

१ इसका संपूर्ण तत्त्वज्ञान (फिलॉसफी) अनेकान्तमूलक है, यानी उसके मूल मे अनेकान्त-दृष्टि विद्यमान है। 'अनेकान्त' की कथन-शैली को 'स्याद्वाद' कहा गया है।

२ जैनाचार अहिंसामूलक है। उसका संपूर्ण सदाचार अहिसा की धुरी पर गतिमान है। अहिंसा के बिना हम एक पल को भी जैनाचार की कल्पना नहीं कर सकते।

महाव्रत-अणुव्रत

सामाजिक/नैतिक दृष्टि से जैनधर्म ने अहिसा पर सबसे अधिक जोर दिया। उसने व्रतो की व्यवस्था की। व्रतों का यथाशक्ति पालन हो, अत इनके दो स्तर कायम किये महाव्रत, अणुव्रत। साधुओ के लिए महाव्रत और श्रावको (गृहस्थो) के लिए अणुव्रत। जैसे बिन्दु-मे-सिन्धु का प्रतिनिधित्त्व होता है, ठीक वैसे ही अणुव्रतो मे महाव्रत समाये होते है। ये पॉच है अहिसा, सत्य, अचौर्य, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य। साधु इनका पूर्णतया पालन करता है, अत महाव्रती होता है तथा श्रावक इनका अंशरूप परिपालन करता है अत अणुव्रती होता है।

जैन साहित्य

अधिकांश जैन साहित्य प्राकृत/अर्द्धमागधी मे है, सस्कृत और अपभ्रश मे भी वह है। जो वाङ्मय उपलब्ध है उसके चार वर्ग है : **प्रथमानुयोग** में कथा-पुराणादि के माध्यम से तत्त्वबोध कराया गया है, **करणानुयोग** मे लोक-अलोक की रचना, युग-परिवर्तन का कथन है, **चरणानुयोग** मे मुनि/गृहस्थ के चारित्र आदि का वर्णन है; **द्रव्यानुयोग** मे जीव-अजीव आदि द्रव्यो की विवेचना है।

अनेकान्त-दृष्टि

जैनदर्शन तक अपनी निर्विघ्न पहुँच बनाने के लिए अनेकान्त-दृष्टि आवश्यक है। यह जानना जरूरी है कि वस्तु बहुआयामी (मल्टीडायमेशनल) है। उसमे नाना गुण-धर्म है, जिनका एक साथ (युगपत्) वर्णन सभव नही है।

जैन समाज की संरचना

जैन समाज की संघटना और संरचना (स्ट्रक्चर) चतु संघवर्ती है। सारा समाज चार बड़े भागो/वर्गों मे विभाजित है। ये है श्रमण, श्रमणा, श्रावक, श्राविका। महत्त्वपूर्ण यह है कि इस वर्गीकरण मे नारी को नर की बराबरी का दर्जा दिया गया है। इस दृष्टि से जैन समाज का पारम्परिक ढांचा काफी समतामूलक है। समता जैनधर्म का नवनीत है। जैन सारे देश, सारे [illegible] है।

जैनधर्म की मूल तीन प्रमुख विशेषताएं :

१ [illegible] (फिलॉसफी) अनेकान्तमूलक है, यानी उसके मूल में [illegible] है। '[illegible]' की कथन-शैली को 'स्याद्वाद' कहा गया है।

[illegible] है। [illegible] सदाचार अहिंसा की धुरी पर गतिमान [illegible] की कल्पना नहीं कर सकते।

३ जैनधर्म की तप साधना कर्मनिर्मूलक है, अर्थात् जैन तप इसलिए करते है कि कर्माश्राव रुके और पहले से बँधे हुए कर्मों का निर्मूलन हो। तप की स्थिति मात्र इसलिए है कि इसके द्वारा शरीर और आत्मा का पार्थक्य-बोध हो, भेद-विज्ञान तपश्चर्या और ध्यान का ही परिणाम है। इसके द्वारा कर्मों की निर्जरा होती है और आत्मा शुद्धावस्था मे प्रकट हो पडती है।

ुलनात्मक धर्मविद्या

तुलनात्मक धर्मविद्या धर्मों के अध्ययन की एक प्रक्रिया है, वह स्वय धर्म नही है। इसका प्रमुख ध्येय सार्वभौम धर्म-भावना से प्रेरित हो कर तथ्यो की खोजबीन और उनका पूर्वाग्रह-मुक्त स्वीकार है। यह विशुद्ध रूप मे अत्यन्त वैज्ञानिक प्रक्रिया है। यह संसार के धर्मों का तटस्थ मूल्याकन (डिटेच्ड इवेल्यूएशन) है, जिसके माध्यम से हम उन सही तथ्यो और स्थितियो को खोजने का प्रयत्न करते हैं जो आत्मकल्याण के साथ-साथ सामाजिक कल्याण की दिशा मे महत्त्वपूर्ण सिद्ध होती हैं।

ाब धर्मों का नैतिक संदेश

अलग-अलग विचार-धाराओं के लोग जहाँ एक-साथ जी/रह सकते है और परस्पर एक-दूसरे से प्रीति कर सकते है उस देश का नाम 'भारत' है। इस दृष्टि से जैनधर्म का अनेकान्तवाद (स्याद्वाद) काफी प्रशस्त भूमिका निभाता है।

ससार के प्राय सभी प्रमुख धर्म (जैन, बौद्ध, हिन्दू, पारसी, ईसाई, इस्लाम, यहूदी और सिख) सदाचार और सद्विचार मे विश्वास करते है और उनका उपेदश देते है। वे चाहते है कि सब मैत्री, बन्धुत्व, प्रीति और परस्पर-सहयोग की भावना से एक अहिसक, शान्त और सुखमय जीवन व्यतीत करे। सबकी अपनी चिन्तन-पद्धातियाँ हैं और सबने अपने-अपने ढँग से उन्हे जीने/अमली जामा पहिनाने का प्रयत्न किया है।

अनेकान्त एक ऐसी डगर है जिस पर हो कर हम विविधताओ, विरोधो और विषमताओ के बीच भी निरापद/निष्कण्टक यात्रा कर सकते है।

विज्ञान और प्रौद्योगिकी का सदुपयोग

यह सहचिन्तन के लिए आवश्यक है कि हम विज्ञान और प्रौद्योगिकी का उपयोग अपनी धार्मिक, सास्कृतिक और आध्यात्मिक विरासत को बचाने और उसे समृद्ध करने मे तथा मनुष्य को लिप्सा एवं दुराकांक्षाओ के मिथ्या दंभ और जाल मे फँसने से बचाने के लिए करे।

जैन अध्यात्म

'जैन अध्यात्म' जब हम कहते हैं, तब उसका अर्थ होता है वह जैन चिन्तन जो आत्मा के स्वरूप पर परिपूर्णता से विचार करता है। इस तरह वह प्रश्न करता है कि आत्मा क्या है उसका क्या स्वरूप है उसे कैसे जाना या पाया जा सकता है ? बहिर्जगत् से उसका क्या नाता-रिश्ता है ? इत्यादि।

व्यवहार और निश्चय नय

जैन अध्यात्म मे आत्मा के स्वरूप पर व्यवहार और निश्चय नयो की छाया मे विस्तृत विचार किया गया है। व्यवहार नय के अनुसार सांसारिक जीव को भी आत्मा ही कहा गया है, किन्तु निश्चय नय के अनुसार आत्मा न तो उत्पन्न होता है, और न ही बंध-मोक्ष को करता है। अध्यात्म के अन्तर्गत, इसीलिए, शुद्ध आत्म-स्वरूप का ही कथन किया गया है।

वैज्ञानिक पद्धति

आत्मा ज्ञानमय है। कैवल्य आत्मा है। ज्ञान के अन्तर्गत मति, श्रुति, अवधि, मन.पर्यय और केवलज्ञान का जिस तरह विवेचन किया गया है, उससे अध्यात्म की निष्पत्तियो पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। जैन दर्शन/धर्म मे द्रव्यो/तत्त्वो/पदार्थों की जो विवेचनाएँ दी गयी है, उनके गहन अध्ययन से भी कई तथ्य स्पष्ट होते है। हमारी यह मान्यता स्पष्ट हो जाती है कि हमे धार्मिक निष्कर्षों की प्रस्तुति वैज्ञानिक पद्धति से करनी चाहिये।

धर्म और विज्ञान में कोई विरोध नहीं

धर्म ओर विज्ञान में परस्पर कोई विरोध नहीं है। दोनो के बीच अनेक समानताएँ है; किन्तु ऐसे अवसर बहुत कम आते है जब हमने इन समानताओ का खुले मन से अध्ययन/प्रतिपादन किया हो।

जैनधर्म/दर्शन और विज्ञान : समानताओं की खोज़

संक्षेप मे हम दोनो की समानताओ को इस तरह रख सकते है

१. विज्ञान की प्रमुख विशेषताएँ है-न्यास (डाटा) का आकलन, उसका सावधान निरीक्षण, तदनुसार प्राप्त तथ्यो का तर्कसंगत वर्गीकरण और परीक्षण तथा निष्कर्षण। जैनधर्म दर्शन मे भी इसी प्रक्रिया का अनुसरण होता है। जैन आचार्यो के अध्ययन और प्रतिपादन की पद्धति यही रही है। टीकाओ और व्याख्याओ मे भी इसी पद्धति की पुष्टि हुई है।

२ विज्ञान की प्रयोगशालाएँ शरीर के बाहर स्थित होती हैं, किन्तु धर्म और अध्यात्म की शरीर के भीतर बहुत गहरे कही। अध्यात्म के क्षेत्र मे भाषा आगे चल कर लगभग उदासीन और व्यर्थ हो जाती है। विज्ञान मे भी ऊँचाई पर अक्षरो का स्थान अक और सान्तता का स्थान अनन्तता लेती है। इस समानता की ओर हमारा ध्यान जाना चाहिये।

३ वैज्ञानिक शोधो ने भी अब जैनधर्म के कई निष्कर्षों/उसकी स्थापनाओ पर हस्ताक्षर किये है। डॉ जगदीशचन्द्र बसु ने वनस्पति-विज्ञान के क्षेत्र मे यह भलीभाँति स्थापित कर दिया है कि पेड-पौधो मे भी मनुष्य की तरह प्राण/चेतना होती है। जैनधर्म ने पेड़-पौधो को एकेन्द्रिय जीवो की श्रेणी मे रखा है। कहा गया है कि यदि हम पेड-पौधो के साथ समुचित बर्ताव करे तो प्रदूषण के घातक नतीजो से अपनी तथा दुनिया की रक्षा कर सकते है। जैन दृष्टि कितनी अप्रमत्त और सूक्ष्म है, हम इस बात का अभी ठीक-से अनुमान नही लगा पाये है।

४ जैनधर्म मानता है कि परमाणु अविभाज्य है। विज्ञान मे अभी एटम (परमाणु) के अन्तिम घटक (इकाई) की खोज़ शेष है।

५ जैनधर्म की अध्ययन-प्रक्रिया का प्रमुख आधार अनेकान्त/स्याद्वाद है। यह अन्य शब्दो मे सापेक्षावाद (थिअरी ऑफ रिलेटिव्हिटी) का ही दूसरा नाम है।

६ जैनधर्म ने छह द्रव्य माने है, ये है जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। भौतिकी (फिजिक्स) ने दिक् (आकाश)-काल पर विस्तार से विचार किया है। यही अध्ययन आकाश और काल शीर्षको से जैनाचार्यों के चिन्तन का विषय है। जैनधर्म और भौतिकी की दिक्-काल (स्पेस-टाइम) की धारणओ मे काफी समानता है।

७ जैनधर्म मे श्रावक की स्पष्टत दो श्रेणियाँ मानी गयी है-'आगम-प्रधानी' और 'परीक्षा-प्रधानी'। इसमे 'परीक्षा-प्रधानी' को ऊँचा दर्जा दिया गया है। यह वृत्ति भी जैनधर्म की दृष्टि पर प्रकाश डालती है।

८ जैनधर्म मे आराधना को चतुर्मुख माना गया है दर्शन, ज्ञान, चरित्र और तप। इन आराधनाओ का लक्ष्य शरीर और आत्मा के श्लेष को समझना और उसे तोडना है। दोनो के पृथक् अनुभव करने और उन्हे पृथक् करने की प्रक्रिया मे आत्मा का विशुद्ध रूप प्रकट होता है। जैन तप को भेद-विज्ञानपरक माना गया है। यह जैन धार्मिक रसायन-विज्ञान है, जो शरीर और आत्मा दोनो को अलगाता है और उनके मूल रूपो को अनुभव की प्रक्रिया मे डालता है। यह सारी क्रिया अन्त स्थित प्रयोगशाला मे संपन्न होती है। एकासन, उपवास आदि इसी प्रक्रिया के उपकरण है। स्वाध्याय भी इसी प्रक्रिया का एक महत्त्वपूर्ण औजार है।

९. मन और शरीर के संबन्ध में जैनाचार्यो ने जो तथ्य सामने रखे है, वे भी अत्यन्त वैज्ञानिक हैं। इनकी मीमांसा मननीय है।

१०. जैनधर्म वस्तु-स्वरूप के अनुसंधान का सावधान प्रयत्न करता है। उसका यह सूत्र अत्यन्त वैज्ञानिक है 'वत्थु सहाओ धम्मो' (वस्तु-स्वभाव ही उसका धर्म है)। जैसे आग का व्यक्तित्व उष्णता और जल का शीतलता, उसी तरह आत्मा दर्शन-ज्ञान-रूप है। वस्तुत जैनधर्म विज्ञान की तर्ज पर ही वस्तु के व्यक्तित्व को समझने/अनुभव करने वाला धर्म है।

११. विज्ञान तथ्यो को तर्क की कसौटी पर कसे बिना स्वीकार नही करता, इसी तरह जैनधर्म/दर्शन भी बिना कार्य-कारण पर विचार किये किसी बात को मानने से इकार करता है। जैन न्याय (जैन तर्क-शास्त्र) के अध्ययन से उक्त कथन स्पष्ट हो जाता हे। वस्तु-स्वातन्त्र्य की धारणा से भी हम जैनधर्म की वैज्ञानिकता का अनुमान लगा सकते है।

१२. द्रव्य का लक्षण सत् है (दव्व सल्लक्खणीय)। जैनधर्म अस्तित्ववादी है। वह 'गा' या 'था' की अपेक्षा 'है' मे विश्वास करता है। वह 'वर्तमानता' की खोज का धर्म है, क्योंकि 'गा' और 'था' पर्याय (फॉर्म) मूलक है और 'है' वस्तु-स्वभाव। इस तरह जो मुख्य विन्दु जैनधर्म का है, वही विज्ञान का भी है। सूक्ष्म-स्थूल का भेद ही वहाँ है; वाकी सब समान है।

१३. जैनधर्म ध्वनि को रूपी द्रव्य/पुद्गल मानता है। जेनदर्शन मे कर्म को पोद्गलिक माना गया है। ध्वनि को जेनदर्शन और भोतिकी दोनो रूपी द्रव्य/पुद्गल मानते है/सुबूत है ध्वनियोका प्रसारित होनाऔर टेपरिकार्डर पर अंकित होना तथा उनका पुन उत्पादित होना।

१४. इस तरह भोतिकी, जैविकी और वनस्पति-विज्ञान के माध्यम से हम जैनधर्म और विज्ञान की समानताओं का अध्ययन कर सकते है।

धर्म और विज्ञान : गतिशीलता का तत्व (विशेष संदर्भ : जैनधर्म)

भारतीय धर्मों का स्पष्ट उद्घोष है **आत्मानं बिद्धि** (अपने को जानो, स्वय को पहिचानो) कहा है **आत्मनि विज्ञाते सर्व विज्ञातं भवति** (जिसने स्वयं को जान लिया, उसने सब को जान लिया)। ससार के सारे अस्तित्व दो वर्गों मे विभाजित है जड, चेतन; अजीव, जीव। जो अजीव है वह स्वय को न तो जान सकता है और न ही कुछ सोच-विचार कर सकता है, किन्तु जो जीव है उसमे जानने, सोचने, खोजने की असीम शक्ति और असख्य सभावनाएँ है।

जैनधर्म ने जीव-जगत् के सूक्ष्मतम विस्तार पर विचार किया है। उसने वनस्पति, यहाँ तक कि पृथ्वी/जल/अग्नि/वायु कायिक जीवो तक की गहन व्याख्याएँ की हैं, विस्तृत वर्णन दिये है। जैनधर्म के अनुसार जीव की सब मे बडी गलत-फहमी होती है अजीव को आत्मतत्त्व-रूप मान लेने की। धर्म और दर्शन उसके इस भ्रम को तोडते है। जैनदर्शन कार्य-कारण पद्धति से जीव, अजीव, धर्म, अधर्म, आकाश, और काल द्रव्यो की असंदिग्ध विवेचना करता है। वह बताता है कि अनादि से जीव और अजीव परस्पर किस भ्रान्ति में निबद्ध है ? क्या इस भ्रम को दूर करना सभव है ? इस तरह का जो चिन्तन जैन धर्म/दर्शन ने विकसित किया है, वह उसकी गतिशीलता का परिचायक है। विश्व के तमाम तथ्यों के प्रति द्रव्य और पर्याय-दृष्टियो से देखना, किसी एक सिरे पर जिद पकड कर अड न जाना, बल्कि सचाई/सम्यक्त्व को तर्कसंगत ढंग से उघाडना/सापेक्ष जानना, बहुमुखीन दृष्टि रखना जैन धर्म और दर्शन को गतिशील/प्रगतिशील (डायनेमिक/प्रोगेसिव्ह) बनाते है। और भी कई मुद्दे हैं, जो जैन धर्म/दर्शन को गतिशीलता से जोडते है।

धर्म का आध्यात्मिक पक्ष

जब हम कुछ गहरे जाते है तब हमे अनायास पता चलता है कि धर्म और विज्ञान की दृष्टियाँ अलग-अलग नही है, अन्तर है तो सिर्फ इतना कि विज्ञान बाह्य जगत मे भौतिक तथ्यो की तर्कसगत खोजबीन करता है और धर्म अन्तर्जगत् के तथ्यो की सम्यक यथार्थवादी सूक्ष्मतर विवेचना करता है, उन्हे अनुभूति के स्तर पर जानने के प्रयत्न करता है। विज्ञान की अपेक्षा धर्म का काम अधिक कठिन है। धर्म का आध्यात्मिक पक्ष आत्मा के स्वरूप पर केन्द्रित होता है और निरन्तर यह जानने के लिए प्रयत्नशील बना रहता है कि आत्मा क्या है और जड तत्त्व से वह किस तरह जुदा है ? जैनदर्शन में पुद्गल, परमाणु आदि की जो विवेचना हुई है वह अत्यन्त वैज्ञानिक और तर्कसंगत है। धर्म-द्वारा प्रस्तुत यह भौतिक तत्त्वगत विवरण विज्ञान-के-विवरण से काफी हद तक तालमेल रखता है। इससे भी जैनधर्म की गतिशीलता का सकेत मिलता है।

जिस तरह विज्ञान किसी छोर को अन्तिम नहीं मानता और अपनी खोज-यात्रा जारी

रखता है, ठीक उसी तरह जैनधर्म ने भी किसी तथ्य को कभी अन्तिम नही माना और अपनी शोध-यात्रा को निरन्तर रखा है। पगडंडियाँ अवश्य बनी है, किन्तु आत्मबोधि की यात्रा हर व्यक्ति को स्वयं करनी पडी है और तदनुसार निष्कर्ष सामने आये है।

तीर्थंकरों द्वारा आध्यात्मिक तथ्यों की पुष्टि

जैनधर्म द्वारा प्रस्तुत आध्यात्मिक तथ्य तीर्थंकरो द्वारा पुष्ट है, एक नहीं कम-से-कम २४ प्रयोगधर्मा मनीषियों ने इन तथ्यों को खोजा, जाना, और सही पाया है। आत्मा है, अतः उसके 'होने' पर जो भी काम जैनदर्शन के अन्तर्गत हुआ है, वह मननीय है। इसी तरह चरणानुयोग के अन्तर्गत व्यक्ति और समाज के आचरण-शास्त्र की जो विवेचना हुई है, वह भी अत्यधिक गतिशील है। श्रावको और श्रमणो की जो आचरण-सहिताएँ प्रकाश मे आयी है, उनमे जैनाचार की विकास-यात्रा को भलीभाँति देखा जा सकता है। जैनाचार ने कभी भी अपने युग-संदर्भों की अनदेखी नहीं की, बल्कि तदनुसार जैनधर्म की मौलिकताओ का ध्यान रखते हुए उसने स्वयं को समायोजित किया है। यह भी उसकी प्रगतिशीलता का जीता-जागता सुबूत है।

जहाँ तक जैन दर्शन/धर्म की चिन्तन-प्रक्रिया का संबन्ध है, उसका विज्ञान की प्रक्रिया से काफी साम्य है। जिस तरह विज्ञान किसी कार्य/प्रभाव को बिना किसी कारण से स्वीकार नही करता, जैन दर्शन/धर्म भी विना किसी हेतु के किसी कार्य/प्रभाव/परिणाम को नही मानता। उसके चिन्तन की दूसरी विशेषता है हर वस्तु/स्थिति का सापेक्ष अध्ययन, वह किसी वस्तु/स्थिति/व्यक्ति को सापेक्ष देखे विना किसी निष्कर्ष को कभी ग्रहण नही करता। विज्ञान की नींव भी सापेक्ष चिन्तन पर खडी है। अनेकान्त और स्याद्वाद इस तरह जहाँ एक ओर जैनधर्म को विज्ञान की धरती पर ला खडा करते है, वही दूसरी ओर उसकी गतिशीलता के तथ्य को भी प्रमाणित करते है।

जैनधर्म ने कभी भी नयी प्रामाणिक/तर्कसगत स्वीकृतियो के लिए अपने द्वार बन्द नही किये, यदि हम जैनाचार का उसके विभिन्न समकालीन संदर्भों मे अध्ययन करे तो देखेगे उसने युगापेक्षा और लोकाकांक्षा का कभी भी असम्मान नहीं किया है वरन् उन्हे स्पष्ट आध्यात्मिक और नैतिक दिग्दर्शन की दृष्टि से यथासमय आवश्यक निर्देश दिये है। यह तथ्य भी उसकी गतिशीलता को सिद्ध करता है।

अत्यन्त वैज्ञानिक

जैनधर्म मे तपस्या के जिस रूप का प्रतिपादन है, वह भी अत्यन्त वैज्ञानिक है। छोटी-छोटी बाते यहाँ सूक्ष्मता आत्मतत्त्व से जुडी हुई है। जिस तरह रसायनशास्त्र मे किसी मिश्रण (कम्पाउण्ड) के स्वतन्त्र तत्त्वो को पृथक् किया जाता है, ठीक उसी तरह जैन

प्रगतिशीलता का परिचायक

आकाश (दिक्/स्पेस) और काल (टाइम) को ले कर जैन धर्म/दर्शन की जो अवधारणाएँ हैं उनका आज के वैज्ञानिक विश्लेषण से काफी तालमेल है। इससे भी जैन धर्म/दर्शन की गतिशीलता सिद्ध होती है।

चरणानुयोग के अन्तर्गत जिस तरह व्यक्ति और समाज के आचरण का विश्लेषण हुआ है, वह भी उसकी विकासोन्मुखता को प्रकट करता है। व्रतो के स्वरूप, उनके अतिचारो/अनाचारो के जो विवरण जैन शास्त्रो मे मिलते है उनसे यह पता चलता है कि जैनधर्म ने आत्मशुद्धि के सन्दर्भ मे समाज-शुद्धि पर भी निरन्तर ध्यान दिया है। इन विवरणो मे एक सशक्त सामाजिक क्रान्ति को सहज ही करवट लेते देखा जा सकता है। यह भी जैनधर्म की प्रगतिशीलता का परिचायक है।

गतिशीलता का सदैव स्वागत

जैनधर्म और जैनदर्शन की एक बहुत बडी उदारता यह है कि उसने कभी भी संभावनाओं के द्वार बंद नही किये। अनेकान्त/स्याद्वाद के माध्यम से हम उसकी इस सहिष्णुता और उदाराशयता को जान सकते है। जो है, वह मान्य है, जो नही है, उसे मानने, या उसे ले कर जूझने में कोई तुक नही है। जो तर्क की कसौटी पर सम्यक् और वास्तविक है उसे मान लेने मे जैन धर्म और दर्शन ने कभी अपने क़दम पीछे नही रखे है, किन्तु जो रूढ है, दुराग्रह-प्रेरित है, उसे उसने पूरे साहस के साथ नकारा है। इस तरह संभावनाओं के दरवाजे प्रतिक्षण खुले रख कर गतिशीलता का सदैव स्वागत किया है।

जीवन जीने की कला

अहिंसा और अपरिग्रह-जैसी आचरणिक सूक्ष्मताओ पर जब हम विचार करते है, तब हमे पता चलता है कि जैनाचार ने इनके सभी पहलुओ पर गहन विचार किया है। दुराग्रह उसका कही नही है, किन्तु वास्तविकताओ को सामने रख देने मे उसने कभी कोई सकोच महसूस नही किया है। जीवन जीने की जो स्वस्थ प्रक्रिया हो सकती है, जैनधर्म ने उसका कदम-दर-कदम प्रतिपादन किया है। उसका 'जियो और जीने दो' का मन्त्र-घोष संसार का सर्वश्रेष्ठ उद्‌घोष है। हम नही सोचते कि किसी धर्म की इससे बडी कोई और गतिशीलता हो सकती है। वस्तुत जैनधर्म के प्रवर्तकों ने आज से शताब्दियो-पूर्व सह-अस्तित्व का यह उद्‌घोष किया था, जो आज भी प्रासंगिक है, कल भी रहेगा, और अतीत मे तो जो अपनी सार्थकता और गुणवत्ता सिद्ध कर ही चुका है।

(जैन विद्या पत्राचार पाठ्यक्रम इकाई -१) △

जैन दर्शन : शब्द, उद्भव, विकास, पृष्ठभूमि, परम्पराएँ, जैन दृष्टि

- जैन सत्य-दृष्टाओ ने जो देखा है उसे बौद्धिक मापदण्ड पर व्यवस्थित कर समझना-समझाना दर्शन है ।

- जैन परम्परा मे तीर्थंकर ही सत्य-दृष्टा है, अत जैन परम्परा मे दर्शन का मूल स्रोत तीर्थकरो की सत्य-दृष्टि ही है।

- 'जियो और जीने दो' या अहिसा की धार्मिक अनुभूति मे-से ही प्रकट हुआ वैयक्तिक स्वतन्त्रता का दर्शन। प्रत्येक व्यक्ति स्वभावत स्वतन्त्र है, स्वतन्त्रता उसका जन्मसिद्ध अधिकार है।

- जैन दर्शन के अनुसार जीव-के-स्वभाव का लक्षण है दर्शन और ज्ञान, देखना और जानना। दर्शन-ज्ञान-युक्त चेतन-व्यापार (वृत्ति) का एक नाम है 'उपयोग'। इसमे दर्शन, ज्ञान, चेतन-व्यापार अथवा चारित्र नाम के तीन तत्त्व निहित हैं। यही जैन दर्शन का 'त्रिशूल' है, त्रिरत्न है, जिसे सम्यक् रूप मे धारण करना ही सहज स्वभाव को पाना कर्म-विकारो से मुक्त होना है, अथवा धर्म मे दीक्षित होना है। यही धर्म मोक्षमार्ग है। धर्म इस तरह ईश्वर-तत्त्व का विकास है और कर्म उसमे बाधा है, अत इस बाधा से जूझते हुए दिव्य तत्त्व को विकसित करना तपश्चर्या है। तप सम्यक्त्व की व्यावहारिक अवस्था का ही दूसरा नाम है।

- व्यक्ति-की-सत्ता और उसकी स्वतन्त्रता की रक्षा और उस स्वातन्त्र्य का सर्वांग विकास ही जैन दर्शन की व्याख्या का प्रमुख लक्ष्य-विन्दु है।

- अनेकान्त पर खडी सत्यानुभूति ही सम्यग्ज्ञान है, प्रमाण है। प्रमाण समग्र दृष्टि का वोध है।

- वैयक्तिक स्वतन्त्रता के विवेक-सम्मत समायोजन के लिए जैनधर्म-दर्शन ने अहिसा, अपरिग्रह, अचौर्य, सत्य और ब्रह्मचर्य-जैसे सामाजिक मूल्यो से मण्डित व्रतो की उत्सर्जना की जो एक स्वस्थ समाज और राज्य के निर्माण के लिए आवश्यक है। इसी के आधार पर वैयक्तिक स्वतन्त्रता, सह-अस्तित्व, लोकतन्त्र और शोषण-मुक्त समाज की नींव को सुदृढ वनाया जा सकता है।

भारतीय दर्शन और जैन दर्शन

- भारत मे हजारो वर्षों से तत्त्व-जिज्ञासा की जाती रही है। 'योग' से ले कर 'मीमासा' तक भारतीय दर्शन विस्तृत है। जैनदर्शन की अपनी स्वतन्त्र सत्ता है। वह अनेकान्त/स्याद्वाद पर आधारित है। नय और प्रमाण दृष्टियो से उसने सत्य-की-खोज का सार्थक प्रयास किया है।

- भारत मे जिन दार्शनिक पद्धतियो का विकास हुआ वे है लोकायत (चार्वाक् या आद्य भौतिकवाद) सांख्य, न्याय, वैशेषिक, योग, मीमासा, जैन और वौद्ध। जिनके प्रवर्तक हैं क्रमशः बृहस्पति, कपिल, गौतम, कणाद, जैमिनी, वर्द्धमान महावीर, वुद्ध।

-विचार-जगत् का अनेकान्त-दर्शन नैतिक जगत् मे अहिसा का उदार और व्यापक सिद्धान्त बन जाता है। समन्वय और सही समझ अनेकान्त-दर्शन के मुख्य प्रयोजन तथा परिणाम हैं। इसीलिए जहाँ एक ओर अन्य दर्शन परमत-खण्डन की ओर भटकते है, जैन दर्शन अनेकान्त-दर्शन की अँगुली थाम कर वस्तुस्थिति-मूल्य समन्वय का प्रयत्न करता है

भारतीय दर्शन को जैनधर्म का योगदान

- जैनधर्म/दर्शन ने भारतीय दर्शन को काफी कुछ दिया है। इस देन के कई पहलू है। लोक-रचना, अनेकान्त-दर्शन, स्याद्वाद, वस्तु-स्वातन्त्र्य की धारणा, 'जन्मना की अपेक्षा कर्मणा' की सामाजिक कसौटी, स्त्री-पुरुष-समानाधिकार, प्रमाण-नय दृष्टियाँ इत्यादि ऐसे क्षेत्र है जो जैन दर्शन की एक स्वतन्त्र छबि निर्मित करते है।

- जैनदर्शन की सबमे बड़ी देन यह है कि उसने दार्शनिक टकराहटो के युग में जनमानस को एक पूर्वाग्रह-मुक्त उदार दृष्टि प्रदान की और कहा कि सापेक्षता के रास्ते चल कर ही सत्य की संपूर्णता तक पहुँचा जा सकता है। लोक और व्यक्ति-दृष्टि को सहिष्णु और अ-सकीर्ण बनाने की दृष्टि से जैनदर्शन के इस अवदान को कभी विस्मृत करना संभव नही है।

- सामाजिक दृष्टि से भी जैनदर्शन ने एक अभिनव क्रान्ति खडी की। उसने दो बातें कहीं १. प्रत्येक वस्तु और व्यक्ति स्वाधीन है, कोई अन्य उनकी सत्ता का अतिक्रम (उल्लंघन) नहीं कर सकता, २. जन्मना न कोई जाति है, न वर्ण, जो कुछ है कर्मणा है। अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य व्रत मात्र नही थे, वे समाज-दर्शन के बडे क्रान्तिकारी सूत्र थे। इन दोनो के तर्क-सम्मत निरूपण द्वारा जैनदर्शन ने नारी की स्वाधीनता का प्रवर्तन किया।

- इस तरह हम देखते है कि जैनधर्म ने सापेक्ष चिन्तन, वस्तु/व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और प्रखर समाज-दर्शन के द्वारा भारतीय दर्शन और समाज को एक नयी ही प्रतिष्ठा प्रदान की है।

अनेकान्त-दर्शन : स्वरूप और विशेषताएँ

- पदार्थ/वस्तु वहुकोणिक या वहुमुखीन है, अतः उसे सापेक्ष ही जाना जा सकता है। जैन तार्किको ने सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान की स्पष्ट कसौटी दे दी है। जो ज्ञान सापेक्ष है, वह सम्यक् है और जो सापेक्ष नहीं है, वह मिथ्या है। वास्तव मे निरपेक्ष ज्ञान जैसी चीज

दुनिया मे है नही, ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र मे सापेक्ष (रिलेटिव्ह) हुए बिना कुछ भी करना/जानना सभव नही है।

- अनेकान्त-दर्शन का साफ-सुथरा सुगम-सुबोध अर्थ है- किसी भी वस्तु को समझने के लिए उस वस्तु को सब ओर से देखना, समझना और यह मानना कि उसका न तो एक ही आयाम है और न ही एक पहलू, अत यदि उसे उसके समस्त सदर्भों, गहराइयो और विस्तारो मे समझना हो तो उसके समस्त पक्ष/कोण देखने चाहिये और फिर क्रमश उसका सापेक्ष कथन करना चाहिये।

- अनेकान्त एक ऐसी चिन्तन-प्रक्रिया है जिसके अन्तर्गत हम संसार के तमाम पदार्थों को बहुआयामी मानते है, और मानते हैं कि स्याद्वाद के द्वारा हम इन तमाम पहलुओं की व्याख्या कर सकते है। 'अनेकान्त' वस्तु की विशेषता है और 'स्याद्वाद' इन विशेषताओ को समझने की कुँजी।

याद्वाद विषय-प्रतिपादन की निर्दोष कथन-शैली

- यह समझ लेने पर कि वस्तु-का-स्वरूप अनेकान्तात्मक है, उसे एक ही कोण या पहलू से समझने की भूल नही करनी चाहिये, ऐसा करने से मन अशुद्ध होता है। चित्त-शुद्धि के लिए वस्तु-स्वरूप को उसके सपूर्ण सम्यक्त्व और उसकी बहुमुखीनता मे जानने का प्रयत्न आवश्यक है। अनेकान्त-दर्शन सापेक्ष दृष्टि की अपेक्षा रखता है। सापेक्षता इस चिन्तन की बुनियाद है। सापेक्षता की विशेषता है कि एक तो उससे तमाम ग़लत-फहमियाँ दूर हो जाती हैं, दूसरे चित्त निर्विकल्प बनता है। जिस तरह अनेकान्त-दृष्टि से मन की शुद्धि सभव है, उसी तरह स्याद्वाद अनेकान्त को प्रतिपादित करने के भाषिक उपाय से वचन-शुद्धि होती है। तन-की-शुद्धि का उपाय तप है। इस तरह अनेकान्त-से-मन, स्याद्वाद-से-वचन और तप-से-तन निर्भ्रम-नि शक बनते है।

नैनदर्शन विश्व-शान्ति के संदर्भ में

अनेकान्त और स्याद्वाद मे वे सारी सभावनाएँ हैं जिनके द्वारा हम विश्व-शान्ति के स्वप्न को साकार कर सकते है। वैचारिक सहिष्णुता, समन्वय/सामंजस्य की भावना, परस्पर की प्रीति और प्रतीति बगैर किसी रंग, वर्ण, जाति और भाषा-भेद के समानाधिकार की स्वीकृति, व्यक्ति की स्वतन्त्रता की स्थापना, हस्तक्षेप न करने की नैतिक व्यक्ति और समूह द्वारा अनुसरण, एक-दूसरे के प्रति सम्मान का भाव तथा [illegible] दृष्टि कुछ ऐसे मानवीय गुण हैं, जो अनेकान्त और स्याद्वाद मे सन्निहित हैं तथा जिनके सतत् अनुसरण से सतप्त/युद्धरत विश्व को शान्ति, सुख और सन्तुलन की [illegible] लाया जा सकता है।

अनेकान्त-दृष्टि और स्याद्वाद चिन्तन की ऐसी [illegible] और [illegible] प्रणालियाँ हैं.

जिनके द्वारा हम जहॉ एक ओर दुनिया के पेचीदा सवालो को आसानी से समझ सकते है, वही दूसरी ओर हम धरती पर इसके विभिन्न भागो मे वैविध्य और विषमताओ के बीच रह रहे लोगो के बीच प्रीति, प्रतीति, और प्रमोद की सभावनाओं को भी जगा सकते है। आज ऐसे शुभ प्रयत्नो की आवश्यकता है, जो एक-दूसरे को नजदीक लाते हो, जोडते हो, और आपस मे भरोसे/भाई-चारे के बीज बोते हों। आगे हम ऐसे ही गुणो की चर्चा करेंगे जो जैनदर्शन के अध्ययन के परिणाम-स्वरूप पल्लवित हो सकते है; व्यक्ति मे, समाज मे।

अनेकान्त-दर्शन वस्तुत वैचारिक अहिसा का दूसरा नाम है। जो लोग खुद को अन्तिम मानते है, वे नफरत और अहंकार के बीज बोते है, किन्तु जो यह मानते है कि किसी भी वस्तु को उसकी परिपूर्णता मे युगपत् नही रखा जा सकता, वे वैचारिक सहिष्णुता को जन्म देते है और विश्व को मैत्री तथा बन्धुत्व की दिशा मे अग्रसर करते है।

जैनदर्शन कहता है · 'वस्तु-स्वरूप को जानने के लिए उसे सभी कोणो और आयामे मे जानो/खोजो। अपनी खोज अविराम रखो। कोई दुराग्रह मत करो। दूसरा किस कोण से/ किस आयाम को व्यक्त कर रहा है, इसे जानने की पूर्वाग्रह-मुक्त कोशिश करो ताकि जहॉ एक ओर वस्तु-स्वरूप को उसकी सर्वांगीणता मे जाना जा सके, वही दूसरी ओर एक-दूसे में उपजने वाली कटुताओ से बचा जा सके।' मानव-कल्याण की दृष्टि से अनेकान्त-दर्शन मे सन्निहित यह रचनात्मक सहिष्णुता जहॉ एक तरफ बहुत बडा वरदान है, वही दूसरी तरफ वस्तु-स्वरूप की गहराइयो मे डुबकियॉ लगाने का एक वैज्ञानिक आधार भी है।

विश्व-शान्ति कायम करने के लिए आज परस्पर-विरोधी विचारो को समझने की जरूरत है। जब तक हम एक-दूसरे के बीच स्वस्थ समझ को जन्म नही देगे, कटुताएँ और खाइयॉ लगातार बढती जाएँगी, किन्तु जैसे ही हम आपसी सीमाओ को और सद्भावनाओं को समझने, वैसे ही एक-दूसरे के नजदीक आयेगे और एक व्यापक/गहरी समझ की सृष्टि करेंगे। अनेकान्त और स्याद्वाद से एक रचनात्मक समझ के लिए आवश्यक वातावरण बनाया जा सकता है और परस्पर-विरोधी व्यक्तियो/समूहो को एक-दूसरे से निकट लाया जा सकता है, क्योकि यह बिलकुल संभव है कि जिन्हे हम परस्पर विरोधी मान रहे है, वे एक-दूसरे के पूरक हो। जब तक हम सह-अस्तित्व और परस्पर-पूरकता के रहस्य और उसमे बैठी संभावनाओ को ठीक से समझ नही लेते, विश्व-शान्ति का हमारा चिरप्रतीक्षित स्वप्न पूरा नहीं हो सकता।

जैनदर्शन का सबमे बडा प्रतिपाद्य यह है कि प्रत्येक वस्तु/पदार्थ/व्यक्ति स्वतंत्र है। उसकी अपनी अस्मिता है, अत कोई वस्तु/व्यक्ति किसी दूसरे पदार्थ/व्यक्ति की प्रभुसत्ता मे कोई विघ्न नहीं डाल सकता। बावजूद इस स्वतन्त्रता के, दुनिया के तमाम अस्तित्वो मे कही

कोई टकराहट नही है, सब एक-दूसरे का उपग्रह (उपकार) कर रहे है और अपने अस्तित्व मे प्रमुदित हैं। यदि व्यक्ति और वस्तु-स्वातन्त्र्य के इस महामन्त्र को भलीभाँति समझ लिया जाए तो विश्व मे कही किसी टकराहट के लिए कोई जगह बाकी नही रहेगी। हम जानते है विश्व मे परमाणु-मात्र पूरी स्वतन्त्रता से विचरण कर रहा है, ध्यान दे अलग-अलग अस्मिताओ के हो कर भी ये परमाणु एक-दूसरे से टकरा नही रहे है वरन् सह-अस्तित्व मे लोक की ध्रुवता की रक्षा कर रहे है -पहरेदारी कर रहे है। यदि जैनधर्म की इस दार्शनिक शुभ कामना को ठीक से समझा जा सके तो दुनिया मे अमनोअमान के लिए एक अनुकूल वातावरण बनाने मे कोई अडचन नही आयेगी।

इसी तरह जैनधर्म और दर्शन मे सामाजिक समता की बात भी पूरे जोर से कही गई है। वस्तु-स्वातन्त्र्य-के-सिद्धान्त मे परस्पर समानाधिकार का तथ्य आपोआप सम्मिलित हुआ है, फिर उसमे-से जो सामाजिक स्वीकृति झलकती है, वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

भगवान् महावीर ने जिन महा/अणुव्रतो की सीख दी थी, उसमे समता का तथ्य गर्भित था। अहिसा मे परस्पर-सम्मान और सह-अस्तित्व की भावना सुरक्षित है। अहिसा का पालन करते हुए यह सभव ही नही है कि हम दूसरे की अस्मिता का हनन करें और स्वय के मिथ्यादभ को उस पर थोपे। अहिसा मे प्रीति और प्रतीति (विश्वास) के अतिरिक्त किसी अन्य भावना के लिए गुजाइश नही है। अहिसा का सहज अर्थ है एक-दूसरे का सम्मान और एक-दूसरे पर विश्वास। वहाँ न तो कोई रंग ही आडे आता है, न वर्ण, न जाति- जहाँ प्राणि-मात्र के लिए गुजाइश हो, वहाँ मानव-मात्र के लिए तो है ही/होगी ही, अत हम 'अहिसा' मे ही, उसकी उदार और व्यापक धारणा मे ही विश्व-शान्ति की धडकने सुन सकते है।

अपरिग्रह मे भी सामाजिक समानता के स्वर स्पष्ट सुनायी देते है। भगवान् महावीर चाहते थे कि एक शोषण-मुक्त समाज-की-रचना हो। व्यक्ति अपने पास उतना रखे, जितना उसके लिए ज़रूरी हो, शेष का संविभाग (दान) करे। इसी तरह ब्रह्मचर्य व्रत के माध्यम से महावीर -के-युग मे नारी-मुक्ति का प्रयत्न हुआ। महावीरकालीन नारी दासता की जंजीरो मे जकडी हुई थी। महावीर ने उसे पारिवारिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, और मानसिक दासताओ से मुक्त किया और स्त्री-पुरुष दोनो को समान धरातल पर ला खडा किया।

इस तरह हम देखते है कि जैनधर्म/दर्शन के मूल ढाँचे मे वे सारे तत्त्व विद्यमान है, जिनसे हम विश्व-मे-शान्ति की स्थापना कर सकते है और मनुष्य को एक-दूसरे [illegible] ला सकते है।

(जैन विद्या पत्राचार पाठ्यक्रम इकाई-२)

लोक : परिचय और स्वरूप

जहाँ तक छह द्रव्यों (जीव, पुद्‌गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल) की स्थिति है, या वे पाये जाते है, वहाँ तक 'लोक' है, और जहाँ ये अनुपस्थित है, सिर्फ आकाश है, वहाँ/वह अलोक है। द्रव्य कभी नष्ट नहीं होता; 'है' द्रव्य का लक्षण है। द्रव्य को समझने के लिए यह जानना जरूरी है कि द्रव्य मे ध्रौव्य प्रतिपल रहता है, उसकी निजता यानी सत्ता कभी मिटती नही है। उसकी पूर्वावस्था मात्र मिट कर उत्तरावस्था को स्थान देती रहती है। अवस्थाओं या पर्यायों का यह उदय-अस्त अनादि-अनन्त है। लोक में यह क्रिया अनादि से चली आ रही है और अन्तहीन चलेगी। द्रव्य अविनाशी है, उसका कभी नाश नही होता, हॉ, पर्याय (फॉर्म) मात्र बदलती है। यह क्रिया सतत् चलती है, अत जो भी परिवर्तन विश्व मे होते हैं, उन्हे समझने के लिए द्रव्य के स्वरूप को गहराई से समझना आवश्यक है।

द्रव्य : परिभाषा, संख्या, भूमिका

द्रव्य गुण और पर्यायो का एक अभिन्न-अपृथक् गुच्छ है। द्रव्य से न तो गुणो को अलग किया जा सकता है और न ही उससे पर्यायो को अलगाया जा सकता है। दोनो ही उसके व्यक्तित्व की रचना करते है। द्रव्य का मुख्य लक्षण सत् (टू बी) है। सत्+ता (सत्ता) ही द्रव्य है और होना (टू एक्झिस्ट) ही सत्ता है। **'दव्वं सल्लखणियं'**- सत् द्रव्य का लक्षण है उसकी पहचान है। यही वाक्य जैनधर्म का प्राणसूत्र है। द्रव्य की इस संक्षिप्त परिभाषा मे ह जैनधर्म का मर्म सन्निहित है। द्रव्य की, उसके द्रव्यत्व की, वस्तु की, उसके वस्तुत्व की सम्यक् पहचान ही जैनधर्म की सही पहचान है। यह जैनदर्शन का नाभि-बिन्दु है।

द्रव्य छह है। जीव, पुद्‌गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्य हैं। इनकी य सख्या पूर्णतया निश्चित है।

जीव और पुद्‌गल को छोड शेष सारे द्रव्य निष्क्रिय हैं। जीव का लक्षण उपयोग- चैतन्य परिणति है। इसके दो भेद है संसारी और मुक्त। पुद्‌गल द्रव्य रूप, रस, गंध औ स्पर्श युक्त है। जिसका पूरण और गलन होता है, उस द्रव्य की संज्ञा पुद्‌गल है। पुद्‌गल परमाणुओ के स्कन्ध (मॉलीक्यूल) वनते है। पुद्‌गल मूलत परमाणु रूप है। धर्म द्रव्य एक है। वह जीव और पुद्‌गल के क्रियाशील होने का माध्यम है। यदि वे चलना चाहते है तो वह उनका उपकार करता है। वह प्रेरक नही है, मात्र माध्यम है। इसी तरह अधर्म भी एक द्रव्य है। वह जीव और पुद्‌गल के लिए स्थिति का माध्यम है। वह उन्हे रोकता नही है, किन्तु यदि वे रुकना चाहे तो वह उन पर उपकार करता है। आकाश अवगाह (स्थान) देता है। काल का लक्षण वर्तना है। परिवर्तन की वजह से यानी रूपान्तर या पर्यायान्तरण से हमे उसके होने की सूचना मिलती है।

परमाणु की कहानी का कोई छोर नही है, किन्तु यह संभव ही नही है कि परमाणु के स्वरूप को जाने बिना हम जैनदर्शन की मौलिकताओ को जान सके। भेद-विज्ञान को कार्मण वर्गणा की विवेचना से ही जाना जा सकता है। यह लोक परमाणुओ से किस तरह ठसाठस भरा हुआ है इसका अनुमान हम एक दृष्टान्त से लगा सकते है।

आधा छटाक यानी २९ ग्राम जल हम ले। इस जल मे जल के स्कन्धो की सख्या (आबादी) इतनी अधिक है कि यदि संसार के सारे मनुष्य (जिनकी सख्या आज लगभग साढे तीन अरब है जिसमे बच्चे, जवान, बूढे सभी शरीक है) पूरी गति से गिनना आरम्भ करें (एक सेकण्ड मे पॉच, रात-दिन बिना रुके) तो इन्हे गिनने मे ४० लाख वर्ष लगेगे, और यदि सपूर्ण लोक के परमाणुओ की गिनती का काम उठाया जाए तो इस गणना मे कितने वर्ष लगेगे इसे बता पाना किसी संगणक (कम्प्यूटर) के वश की बात नही है।

वस्तुत प्रश्न चौंकने का नही है, जानने और खोजने का है। जैन दार्शनिको ने परमाणु के विषय मे जो तथ्य प्रस्तुत किये है, वे इतने अद्भुत और स्वयंसिद्ध है कि भौतिकी को उस मंजिल तक पहुँचने मे हजारो वर्ष लग जाएँगे।

क्या शब्द तथा आकृतियाँ पुद्गल हैं ?

जैनदर्शन ने शब्द (ध्वनि) की बनावट पर गहराई से विचार किया है। उसने माना है कि शब्द पुद्गल है। अब हम पूरी तरह जानने लगे हैं कि पुद्गल का बुनियादी अन्तिम और अविभागी घटक 'परमाणु' है। इन्ही परमाणुो के संयोग से स्कन्ध बनते है। शब्द सूक्ष्म-स्थूल पुद्गल है।

अब तक कुछ लोग ध्वनि को निराकृत मानते थे कि वह अमूर्त कुछ है, किन्तु ऐसा नही है, ध्वनि या शब्द पुद्गल है। पुद्गल रूपी-द्रव्य है, तदनुसार शब्द भी रूपी है। भौतिकी (फिजिक्स) ने यह सिद्ध कर दिया है कि शब्द को रेकार्ड किया जा सकता है। उसका पुनरुस्पादन सभव है। उसका सवहन (ट्रांसमिशन) संभव है। उसे लम्बे समय तक ठहराना और दोहराना (रिप्रोड्यूस) सभव है। टीवी, रेडियो, टेपरिकार्डर आदि पर शब्दाकन या ध्वन्यकन उसके रूपी होने के अकाट्य प्रमाण है।

शब्द की तरह ही विश्व की समस्त आकृतियाँ भी पुद्गल है। त्रिकोण, चतुष्कोण, षट्कोण, वृत्त, बिन्दु, रेखा इत्यादि स्कन्धजनित है। ध्यान रहे स्कन्ध ही आकृत होते हैं, अत लोक मे जितने भी आकार है वे सब पौद्गलिक है। पुद्गल ही यथाप्रसग विविध आकार ग्रहण करता है।

आधुनिक विज्ञान ने पूरी तरह स्पष्ट कर दिया है कि ध्वनि और आकृति; शब्द और पर्याय स्कन्धजनित है।

(जैन विद्या पत्राचार पाठ्यक्रम इकाई-३) △

कर्म-सिद्धान्त : परिचय और स्वरूप

जैनदर्शन मे कर्म की व्याख्या करते हुए कहा है कि कर्म विशेष जाति के वे सूक्ष्म पुद्गल स्कन्ध है जो जीव के साथ बँध जाते है। ये मन, वचन और काय के द्वार से जीव के प्रदेशो को परिस्पन्दित करते है, इसीलिए इन्हे 'योग' कहा गया है।

योग और उपयोग जैनागम के तकनीकी शब्द हैं, जीव की परिस्पन्द-क्रिया को योग कहा गया है। मन,वचन, काय त्रि-कारण है। इन कारणो के माध्यम से चेतना-शक्ति के क्षुब्ध,चचल, सक्रिय होने की क्रिया को 'योग'कहते है।

जीव को उपयोगमय बताया है। उपयोग जीव की भावात्मक पर्याय अथवा उसका जानने-देखने का, या उसका रागद्वेषात्मक भाव है।

इस आधार पर कर्म के दो भेद किये गये है-द्रव्यकर्म, भावकर्म। द्रव्यकर्म पुद्गल की क्रिया है। भावकर्म जीव की क्रिया है। कर्म की रासायनिक प्रक्रिया है भावकर्म से प्रभावित हो कर कुछ सूक्ष्म पुद्गल स्कन्ध जीव के प्रदेशो मे दाखिल होते है और उसके साथ निबद्ध होते है।

इस सूक्ष्म स्कन्धो को अजीव कर्म या द्रव्य कहा जाता है। ये ही आगे चल कर रूप-रसादि के धारक मूर्तिक हो जाते है। सूक्ष्म होने के कारण इन्हे देखा नही जा सकता।

सक्षेप मे, वह शरीर या आच्छद या आवरण या खोल जो जीव के स्वभाव को आवृत करता है, कर्म है। कर्म जड़ है। वे सूक्ष्म पुद्गल स्कन्ध है। भावकर्म जीव का विषय है और द्रव्यकर्म पुद्गल का। दोनो अर्थात् जीव और पुद्गल स्वतन्त्र द्रव्य हैं। हर हालत मे दोनो की सत्ता/अस्तित्व अक्षत वनी रहती है। जीव और पुद्गल के सेतु हैं करण, जो कार्मण वर्गणा के लिए द्वार का काम करते है। इन्ही से हो कर कार्मण वर्गणा जीव-प्रदेशो मे प्रवेश करती है और जीव अज्ञानवश स्वयं को कर्मरूप मानने लगता है, होता वह कतई नहीं है। उसे सिर्फ भ्रान्ति हो जाती है। सम्यक्त्व के प्रकट होते ही भ्रम-का पर्दा हट जाता है और जीव अपने मूल स्वभाव मे व्यक्त हो कर मुक्त हो जाता है।

तत्त्व : क्या, कितने; संबन्ध-चक्र

जैनदर्शन के अनुसार जीव सचेतन एव अमूर्तिक तथा अजीव (पुद्गल)अचेतन एवं मूर्तिक है। दोनो भिन्न है, क्योकि जीव कभी पुद्गल नहीं हो सकता और पुद्गल कभी जीव नहीं हो सकता। विश्व-चिन्तन को जैनदर्शन की सवसे वडी देन है वस्तु-स्वातन्त्र्य।

द्रव्य छह है जीव, अजीव (पुद्गल), धर्म, अधर्म, आकाश,काल। ये सत् है। इनका विनाश नही है। ये स्वतन्त्र है। संसार, जिसमे हम रहते है,जीव और अजीव की

संयोग-कथा है। 'कष' कर्म अथवा ससार की संज्ञा है। जो कर्म-मल या ससार को प्राप्त करायें, वे है कषाय। ये चार है-क्रोध, मान, माया, लोभ। ये आत्मा का विघात (उसकी स्वाभाविक शक्तियों को ढॉकना) करती है। अर्थात् उसके स्वरूप को प्रकट नही होने देती।

संसार और कुछ नही सिर्फ जीव-अजीव द्रव्यों की बद्ध-अबद्ध कथा है। असल मे यह एक रोचक उपन्यास है, जिसके सात परिसर्ग (भाग) हैं : जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष। कर्म की भाषा मे इन्हें 'तत्त्व' कहा गया है। इनमे-से जीव चेतनावान् और अमूर्तिक तथा अजीव चेतना-रहित और मूर्तिक तत्त्व है।

आत्मा मे नये कर्म-परमाणुओ के प्रवेश को 'आस्रव' कहा जाता है और उनका आत्म-प्रदेशो के साथ नीर-क्षीर की तरह का सहवर्तन (बन्ध) है। आस्रव के निरोध को संवर तथा पूर्वबद्ध कर्मों के एकदेश क्षय (नाश) को निर्जरा कहा गया है। समस्त कर्मों का (नवानत+पूर्वबद्ध) आत्मा से सदा-सर्वदा के लिए पार्थक्य मोक्ष है। इस तरह जीव तत्त्व उपादेय है और अजीव तत्त्व हेय। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोक्ष-के-मार्ग हैं। इनसे हो कर ही बन्ध के समस्त कारणो को नष्ट किया जा सकता है। **इन तत्त्वों का सही और संतुलित श्रद्धान, उनका सही और संतुलित ज्ञान, तथा सही और संतुलित भेदविज्ञानमूलक आचरण मोक्षमार्ग है।**

अब हम रूपक द्वारा समझेगे। मान लीजिये जीव एक जहाज है, जो संसार-समुद्र पर तैर रहा है। जहाज मे छेद हो गये है। योग छेद हे। इन छेदों से हो कर कर्म-जल प्रवेश कर रहा है। जीव का ध्यान इस विषम और घातक परिस्थिति की ओर गया हे। वह सोच रहा है कि यदि जल इसी तरह आता रहा तो मै डूब जाऊँगा, अत वह इन्हे बद करने का यत्न करता है। जल का आना आस्रव और ठहरना बन्ध है। छेदो को बंद करना सवर है। सवर आस्रव के निरोध की सज्ञा हे। यद्यपि जल का आना रुक गया हे तदापि जो जल पहले मे है उसका क्या ? इसे भी उलीच कर बाहर करना होगा। कर्म-जल का उलीचना निर्जरा है। निर्जरा विरेचन-की-क्रिया है। पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय निर्जरा हे, जिसे साधक तप और ध्यान द्वारा सभव करता है। जल को पूरी तरह उलीच देना मोक्ष है। मोक्ष जीव की शुद्धावस्था के प्रकट होने की सज्ञा है। जीव की प्रभुसत्ता का आविर्भाव मोक्ष या मुक्ति है।

तत्त्व वस्तु-व्यवस्था के [illegible] हैं। इनके द्वारा जीव और अजीव दोनो के स्वरूप का [illegible] होता है तथा इस प्रक्रिया मे इस पगडंडी पर पाव जम जाता है जो मोक्ष तक जाती है।

यहाँ प्रधानत सबन्ध-तत्त्व को समझना चाहिये। जीव क्या है ? अजीव क्या है ? क्या इनका कोई आपसी रिश्ता है ? क्या ये एक-जैसे है, या भिन्न है ? यदि भिन्न है तो उस भिन्नता-का-स्वरूप क्या है ? क्या इन दोनो को अलगाया जा सकता है ? यदि हाँ, तो अलगाने की प्रक्रिया क्या है ? आस्रव से मोक्ष तक की पहली दो सीढियाँ जीव तत्त्व के अजीव तत्त्व से निबद्ध होने तथा शेष दो सीढ़ियाँ मुक्त होने की सीढियाँ है। अन्य शब्दो मे, कर्म-प्रवेश, कर्म-बन्ध, कर्म-निरोध, कर्म-क्षय प्रथम चार सीढियो के नाम है। पाँचवी और अन्तिम सीढी है मोक्ष। जैसे ही सम्यक्त्व का घन (बडा हथौडा) भेदविज्ञान के छैनी-शीर्ष पर पडता है, सवर की प्रक्रिया आरम्भ हो जाती है। यह प्रक्रिया गुप्ति (३), समिति (५), धर्म (१०), अनुप्रेक्षा (भावना)-१२ आदि के द्वारा तीव्रतर हो कर मोक्ष के रूप मे फलीभूत होती है।

पदार्थ : स्वरूप तथा समीक्षा

तत्त्व सात है जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा, मोक्ष। इनमे पुण्य और पाप को जोड देने से नौ पदार्थ बन सकते हैं। नौ पदार्थों मे जीव और अजीव मुख्य है। वास्तव मे यदि हम जीव और अजीव को छोड़ दे तो शेष पाँच तत्त्वो अथवा सात पदार्थों की व्याख्या हम नहीं कर पायेगे। ये तत्त्व अथवा पदार्थ जीव और अजीव पर आश्रित है।

तत्त्व और तत्त्वार्थ मे फर्क है। 'तत्त्व' वस्तु-स्वरूप की सज्ञा है। 'अर्थ' का अर्थ है जिसे जाना जाए और तत्त्वार्थ के मायने है जो पदार्थ जिस रूप मे अवस्थित है उसका उस रूप मे ग्रहण। पदार्थ का अर्थ है व्यक्ति, आकृति और जाति का महायोग (टोटल)।

पुण्य और पाप के हेतु है शुभ और अशुभ भाव। सुख/दु ख, अनुकूलता और प्रतिकूलता, पुण्य और पाप के कार्य फल हैं। निश्चय-दृष्टि से पुण्य और पाप मे अन्तत: कोई भेद नहीं है। पुण्य यदि सोने की बेडी है तो पाप लोहे की। बेड़ियाँ दोनो है। शुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धि के लिए शुभ और अशुभ, पाप और पुण्य दोनो से छुटकारा ज़रूरी है। प्रश्न उठता है जो शुभ-अशुभ से परे है वह शुद्ध आत्मतत्त्व क्या है ? यथार्थ मे असली मोर्चा यहीं से शुरू होता है। जब हम स्वयं की खोज आरम्भ करते है, तब हम शुद्धत्व की ओर जाते है। मै कौन हूँ ? मेरा स्वरूप क्या है ? क्या मै पुण्य हूँ ? क्या मै पाप हूँ ? नहीं हूँ, तो फिर क्या हूँ ? निजता की इस खोज़-यात्रा में ही हमारी भेंट होती है आत्मा के शुद्ध रूप से। जाने हम, कि शुभ और अशुभ संसार के हेतु है और शुद्धत्व या अशुद्धत्व की खोज मोक्ष-हेतु है।

तत्त्वो और पदार्थों को जानने की मुख्य वजह है उन हेतुओ की-खोज जो आत्मा को दूषित करते है, उसकी स्वाभाविकता को ढाँकते है, उसमे कर्मास्रव और कर्मबन्ध करते है।

कर्मास्रव, फिर वह चाहे पुण्य का हो अथवा पाप का, संसार का हेतु वह है। वह सवर नही है। शुभ अथवा अशुभ भावो या परिणामो से आस्रव ही होगा, संवरण या निर्जरण नहीं होगा, अत ये दोनो आस्रव हैं। इनका निरोध ही मुक्तिमार्ग है।

हॉ, जहॉ तक आध्यात्मिक प्रगति का प्रश्न है, उस प्रक्रिया का सूत्रपात इस तरह किया जा सकता है। जब हम अशुभ से हट कर शुभ की ओर जाने लगते है तब शुद्ध की ओर आने की संभावनाएँ बनने लगती है, किन्तु जो लोग मात्र शुभ की चकाचौध मे अपने मूल लक्ष्य को भूल बैठते है उनकी मुट्ठी खाली रह जाती है। शुभ पर रुके हुए लोग शुद्ध की ओर जाने की अपेक्षा अशुभ की ओर जाते देखे गये है। वस्तुत स्वयं-की-खोज का क्रम इस तरह कुछ होना चाहिये।

अशुभ-से-शुभ में प्रवृत्ति; शुभ-से-शुद्ध में प्रवृत्ति

हम अशुभ से इसलिए निवृत्त हों ताकि शुभ की रचनात्मक पगडंडी पर आ सके और शुभ से इसलिए मुक्त हो ताकि शुद्धत्व की दिशा मे हमारे कदम उठ सके। तप, असल मे, शुद्धत्व को पाने के लिए है, अत जो लोग शुभ या अशुभ में अटक जाते है, उन्हे अपनी निजता-का-बोध नही होता और वे जिस लक्ष्य को बार-बार पाना चाहते हैं वह हर बार उनकी दृष्टि से चूक जाता है।

पाप और पुण्य मनोदशाएँ है, अत· उन पर सूक्ष्मता से विचार किया जाना चाहिये। सात तत्त्वों के साथ पुण्य-पाप को इसलिए जोडा गया है, ताकि यह जाना जा सके कि आस्रव किसका होता है और मुक्ति किसकी ? क्या इस दुश्चक्र को काटना/खत्म करना संभव है ?

पुनर्जन्म . जैन/विज्ञान दृष्टि

'आत्मा है' और वह अजर-अमर है- अध्यात्म और धर्म की इस-एक निष्कर्ष मे अविचल आस्था है।

आत्मा-की-अमरता अर्थात् शरीर के न रहने के वाद भी उसका अस्तित्व महत्त्व का विपय है। सव जानते है कि कोई प्राणी मरना नही चाहता- वह विषमतम स्थिति में भी जीना चाहता है। रुग्ण, अपंग, अशक्त चाहे जैसा हो, संसार का कोई जीव मरना नही चाहता। उसमे एक-अदृप्त जिजीविपा-जीने की इच्छा प्रज्वलित रहती है, धधकती रहती है। क्या उसकी यह प्रखर जिजीविपा उसके पुनर्जन्म के लिए उत्तरदायी नहीं है ?

प्रकृति के गठन को देखिये। वहॉ पुनर्जन्म प्रतिफल घटित है। वीज है तो वृक्ष है। वीज मे फल है। फल मे पुन वीज है और इस तरह एक अटूट सन्तति वनी हुई है। जल है। सौर ताप है। वाष्पीकरण की प्रक्रिया से वादल वनते है और पुन जल के रूप मे धरती

पर, और क्रमश समुद्र मे लौटते है- यह सब क्या है ? क्या हम इसे पुनर्जन्म के अलावा कुछ और कह सकते है ?

जैन साहित्य मे तीर्थंकरो के जीवन-वृत्त उपलब्ध है। इन वृत्तो मे उनके पूर्वभव वर्णित है। क्या हम इन पर अविश्वास कर सकते है ? धर्म मे तो कर्मानुसार फल की व्यवस्था है, अत 'जेसा कर्म, वैसा फल' के हिसाब से विभिन्न योनियो मे उसका जन्म होता है। आठ कर्मो मे-से आयु, नाम, और गोत्र पुनर्जन्म को नियन्त्रित करते है।

विज्ञान ने भी उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध से कई चौंका देने वाले निष्कर्ष प्रस्तुत किये है। परामनोविज्ञान की खोजे इस सदर्भ मे काफी महत्त्व की है। देश-विदेश के कई विश्वविद्यालय परामनोविज्ञान (पेरासायकोलॉजी) के क्षेत्र मे अनुसधानरत है। इस खोजो के जो निष्कर्ष सामने आये है, उनसे भी पुनर्जन्म की धारणा को बल मिलता है, उसकी सपुष्टि होती है।

अतीन्द्रिय अनुभवो-ई एस पी. (एक्स्ट्रा सेन्सरी पर्सेप्शन) के द्वारा भी पुनर्जन्म का तथ्य प्रमाणित होता है। 'ईएसपी' के कई ठोस निष्कर्ष सामने आये है।

दुरानुभूति (टेलिपैथी) की तो असख्य घटनाएँ अख़बारो मे प्रकाशित हुई है। इनसे भी पुनर्जन्म की धारणा सुदृढ होती है।

भविष्यवाणियो मे-से भी पुनर्जन्म के अस्तित्व की पुष्टि होती है। ज्योतिष आदि ने भी कुछ ऐसे तथ्य सामने रखे है, जिनसे पुनर्जन्म सिद्ध होता है।

मृत्यु क्या है ? इस प्राणप्रश्न का कोई परिपूर्ण उत्तर आज भी विज्ञान के पास नही है। धर्म के पास है। धर्म पूछता है कि यह छानवीन/पूछ्ताछ कौन कर रहा है कि मृत्यु होती है अथवा नही। मै कौन हूँ ? कहाँ से हूँ ? क्यो हूँ ? इत्यादि प्रश्न कौन कर रहा है ? क्या ये सारे/ इस तरह के प्रश्न शरीर कर सकता है ? नही कर सकता। तो फिर निश्चय ही ऐसा कोई यात्री है जो शरीर-रूपी-सराय मे ठहरता है और मियाद खत्म होने पर चल देता है। जव मुसाफिर चला जाता है तव क्या फिर खाली कमरा किसी प्रश्न का उत्तर दे सकता है ? नहीं दे सक्ता। इससे सिद्ध होता है कि शरीर का अन्त है, चेतना की अविरल धारा उसके वाद भी अटूट वहती है। यह धारा इतनी प्रखर, स्वाधीन, और शाश्वत है कि शरीर के न होने पर भी वनी रहती है. वनी रह सकती है। मुक्ति की अवस्था शरीर के पुन न होने की अवस्था है, किन्तु जव तक कोई प्राणी सासारिक रागद्वेष से मुक्त नही होता शरीर की सन्तति वनी रहती है- उसका वारम्वार जन्म होता है।

इस तरह हम देखते है कि जीव का पुनर्जन्म है और धर्म का लक्ष्य है- जन्म-मरण की इस शृखला या सन्तति को समाप्त करना।

रत्नत्रय : स्वरूप और व्याख्या

'रत्नत्रय' जैनागम का एक उपमामूलक पारिभाषिक शब्द है, जिसका अर्थ है-'तीन रत्नो का समूह' रत्न है तीन, किन्तु उनसे बनने वाला गुच्छ एक है। वास्तव मे ये तीन मिल कर ही मोक्षमार्ग की रचना करते है। 'तत्त्वार्थसूत्र' का प्रथम सूत्र है· 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग .- सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोक्षमार्ग है। जहाँ संस्कृत-व्याकरण की दृष्टि से ये तीन बहुवचन मे हैं और मोक्षमार्ग एक वचन मे, अत· इससे यह सिद्ध होता है कि रत्नत्रय का होना मात्र पर्याप्त नही है वरन् इनका क्रमश एकमेव होना महत्त्वपूर्ण है।

सम्यक् का अर्थ है सही, समीचीन, उपयुक्त, शुद्ध, समस्त। इस तरह चाहे दर्शन हो, ज्ञान हो या चारित्र हो, उसका सही, समीचीन और शुद्ध होना आवश्यक है। यदि इनके निर्दोष होने मे कोई कमी होगी तो मोक्षमार्ग नही बन पायेगा।

'दर्शन' शब्द यहाँ रुचि, आस्था और श्रद्धान के अर्थ मे प्रयुक्त है। दर्शन का अर्थ यहाँ फलसुफा/फिलॉसफी नही है, बल्कि विश्वास है। जब तक हमे किसी वस्तु या स्थिति मे आस्था नहीं होगी, हमारे भीतर तत्संबन्धी बोध की संभावनाएँ नही उपजेगी, अत यहाँ सम्यग्दर्शन का अर्थ हुआ-मोक्षमार्ग के लिए प्रयोजनभूत सात तत्त्वो के जानने मे रुचि और आस्था। जब तक इनके दीख-पडने-वाले अपार्थक्य मे-से न-दीख-पडने वाले, किन्तु-सच पार्थक्य की आस्था नही बनती और वस्तु-स्वरूप के लिए मन में गहरी और सम्यक् ललक नही जनमती, सम्यग्दर्शन आविर्भूत नहीं होता। यही कारण है कि सम्यग्दर्शन को मोक्षमार्ग की वर्णमाला का 'अ' कहा गया है। इसके बिना हम एक कदम भी आगे नही रख सकते।

इसके बाद आता है- 'सम्यग्ज्ञान'। जैन शास्त्रो मे दो शब्दो का व्यापक प्रयोग हुआ है ज्ञान, विज्ञान। ज्ञान का अर्थ है बोध और विज्ञान का चारित्र। पहले बोध और फिर चारित्र मे उसकी क्रमश परिपूर्ण अभिव्यक्ति। सम्यग्दर्शन मे हमने जीवादि तत्त्व है, इन पर अपना अविचल चरण जमाया है, फिर हमने प्रयत्न किये। जाने कि ये क्या है ? जीव क्या है ? अजीव क्या है ? इनके परस्पर रिश्ते क्या है ? क्या दोनों एक हैं ? दोनो जुदा है ? क्या देह-जीव मे और जीव-देह-मे रूपान्तरित हो सकते है ? इस तरह की जिज्ञासाओ मे-से जन्म लेता है भेद-विज्ञान। हम जीव,अजीव आदि के स्वरूप को खोजने/जानने लगते है कि द्रव्य स्वाधीन और शाश्वत है। वे न तो एक-दूसरे को बाधित करते है और न एक-दूसरे की सत्ता ग्रहण कर सकते है, अर्थात् देह अलग है, आत्मा अलग है, दोनो का श्लेष है, दोनों दीखते संबद्ध है, किन्तु दोनों जुदा और आत्मनिर्भर है। 'दोनो पृथक् और स्वतन्त्र है' इस तरह के स्वरूपाचरण का नाम भेद-विज्ञान है।

भेद-विज्ञान तप-रूप चारित्र है। उपवास, एकासन, सामायिक, स्वाध्याय आदि का लक्ष्य सम्यक्त्व को पाना मात्र है-यह जानना और पाना कि 'आत्मा शरीर नही है, शरीर आत्मा नही है'। दोनो दो है, एक नही है-इस अटल स्वानुभव का नाम सम्यग्ज्ञान है। जानें हम कि ससार के सारे संकट शरीर को आत्मवत् मान लेने के है। यदि हम इस ग़लतफ़हमी से बचते है तो, न तो कही कोई सक्ट है, और न ही कही ऐसा कुछ है जिसे प्राप्त करना शेप वच रहता है।

ऊपर हमने जिन सात तत्त्वो का उल्लेख किया है उनमे-से जीव और अजीव तत्त्व मूल है, शेष उनके भ्रान्त सबन्धो मे-से निष्पन्न है। कर्म क्या है ? क्या वह आत्मा का कोई भाग है, या ऊपर से कुछ है ? क्या उन्हे अलगाया जा सकता है ? क्या उनके आगामी प्रवाह का सवरण संभव है ? क्या पूर्वसचित कर्ममल को नष्ट करना सभव है ? और यदि आत्मा को कर्म-कल्मष से पूरी तरह निवृत कर लिया जाए तो उसका परिणाम क्या होगा ? क्या ऐसी ही किसी स्थिति का नाम मोक्ष है ? इस तरह की प्रश्नोत्तर-यात्रा मे-से हो कर हम अपने गन्तव्य-मोक्ष तक पहुँचते है। वास्तव मे सम्यग्ज्ञान जीव और अजीव के संयोग-वियोग की मर्मकथा को उसकी समस्त गहराइयो और सचाइयो मे जानने की प्रक्रिया है।

सच्ची आस्था और सम्यग्ज्ञान के बाद नम्वर आता है सही आचरण का। वे कौन-से उपाय है जिनके द्वारा जीव-अजीव की अनादि युति या श्लेष को क्रमश तोडा जा सकता है ? आस्रव और बध के वोध के बाद सवर और निर्जरा चारित्र का श्रीगणेश होता है। कर्म के प्रहारक प्रवाह को रोकने के लिए गुप्ति, समिति, धर्म, परीषहजय, तप, अनुप्रेक्षा और चारित्र हेतु वनते है।

मन, वचन और काय की खिडकियाँ बद करना (गुप्ति) है। गुप्तियो से पहले समितियॉ हैं। ये पाँच हैं ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निपेक्षण और उत्सर्ग। जो साधु या साधक गुप्तियो मे सीधे नही उतर पाते, उन्हे समितियो मे-से छन कर उन तक पहुँचना होता है। गुप्तियो और समितियो को प्रवचन-माताएँ (चारित्र-जननी) कहा गया है। ये आठो सम्यक्त्व के अष्टाग की जननी है।

गुप्तियो और समितियो की तरह ही दस धर्म है। ये है -उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, सयम, तप, त्याग, आकिचन्य, व्रह्मचर्य। यहाँ जो उत्तम विशेपण प्रयुक्त है, वह महत्त्वपूर्ण है। चाहे क्षमा हो या व्रह्मचर्य. उसका उत्तम होना जरूरी है। वही प्रयोजननीय है। परीषह आवश्यक है। इन पर महाव्रतधारी मुनि ही विजय पाता है। अनुप्रेक्षाएँ या भावनाएँ वारह हैं। इनमे-से छन कर प्रकट होता है सम्यक्त्व और भेद-विज्ञान का अदृप्त आलोक।

सात तत्त्वो मे सच्चा श्रद्धान, उनका यथार्थ वोध, और तदनुसार देह और आत्मा का पृथक्करण-जैसी भेद-विज्ञानमूलक साधना की नींव रत्नत्रय है। इन तीन रत्नो से रोशनी लिये विना हम संसार के निविड अन्धकार पर विजय प्राप्त नहीं कर सकते।

संसार तथा मुक्ति : स्वरूप एवं व्याख्या

जब हम बारह भावनाओ (द्वादशानुप्रेक्षा) के माध्यम से ससार के स्वरूप को जानना शुरू करते है, तब हमारी इस अनुभव-यात्रा मे बहुत सारे तथ्य स्पष्ट हो जाते है।

बारह भावनाएँ : अनित्यत्व, अशरणत्व, ससार, एकत्व,अन्यत्व, अशुचित्व, आस्रव, सवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ, धर्मस्वाख्याततत्व।

अनित्य भावना मे कहा गया है कि उत्पन्न हुए जीव को सबमे पहले क्षणभगुरता अपनी गोद मे आश्रय देती है, धरती और धाय या माता बाद मे। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि यह संसार असार और भगुर है। जब तक हम आकृतियो (पर्यायो) के इस मेले मे-से आकृत (द्रव्य) को नही ढूँढ लेते, तब तक इस दुश्चक्र का कोई सिरा पाना असभव है।

अशरण भावना का आशय है कि मृत्युरूपी बाघ ने इस जीव को सूँघ लिया है, अत. अब इसकी रक्षा यह स्वय ही कर सकता है-किसी देव की शरण मे जाने के बाद भी इसे स्वयं-की-रक्षा-स्वयं ही करनी होगी।

एकत्व भावना का केन्द्रीय अभिप्राय है कि इस संसार मे कोई किसी का नहीं है। यहाँ कौन किसका पुत्र है ? कौन किसका पिता है ? कौन किसका भाई या बहिन है ? कौन किसकी माता या पत्नी है ? वस्तुत इस दुनिया मे कोई किसी का नही है। यह जीव अनादि से अकेला ही घूम रहा है। संबन्ध सिर्फ भ्रम है, अत जीव को सम्यक्त्व-की-शरण-मे-निर्भ्रान्त होने का प्रयत्न करने चाहिये।

अन्यत्व मे कहा गया है कि यद्यपि सचेतन जीव जुदा है और अचेतन देह पृथक् है, तथापि दु खद यह है कि मोहाच्छन्न मनुष्य इन दोनो की भिन्नता को समझ नही पा रहा है और एक अन्तहीन भ्रान्ति मे नाच रहा है।

यहॉ हमे मुक्ति-की-भूमिका स्पष्ट दिखायी देती है। मुक्ति अर्थात् जीव और शरीर की मिथ्या-ग्रन्थि का खोला जाना। ग्रन्थि है, किन्तु निर्ग्रन्थ के लिए वह नही है। निर्ग्रन्थ असल मे वह है जो सचेतन और अचेतन, जीव और अजीव की मिथ्या-ग्रन्थि को भेदता-वेधता है और इस रहस्य को पहिचानता है कि इन दोनो की सत्ताएँ भिन्न है, दोनो स्वाधीन है, दोनो निर्ग्रन्थ है। स्वस्थ आध्यात्मिक समझ के माध्यम से ही इस द्वन्द्व का सर्वथा या क्रमवर्ती मोचन संभव है।

अशुचित्व के अन्तर्गत शरीर मे व्याप्त मल की ओर हमारा ध्यान जाता है, ताकि हमारी दृष्टि इस तथ्य पर टिके कि हम इस भंगुर और मलिन देह की इतनी देख-भाल और सार-संभाल करते हैं, किन्तु आत्मा-जैसे निर्मल तत्त्व को भूले बैठे है।

आस्रव भावना मे हमारा ध्यान जीवन-रूपी इस जलपोत (नौका) पर जाता है जिसमे

मन, वचन, काय-रूप छिद्रो मे-से कर्मरूप जल लगातार आ रहा है और पोत के डूबने की आशका मँडराने लगी है।

संवर भावना मे खयाल आता है कि क्या किन्हीं उपायो से इन योग-छिद्रो को बद किया जा सकता है ? क्या कर्मों के अबाध प्रवाह को रोक कर शेष सचित जल को बाहर नही उलीचा जा सकता ताकि जलपोत निरापद और सुरक्षित हो और उसे संसार-समुद्र मे डूबने से वचाया जा सके ?

निर्जरा अनुप्रेक्षा मे जीव सोचता है 'चलो, इस जल को उलीच ही डालते है, ताकि गन्तव्य स्पष्ट हो सके और जलपोत को निष्कटक, निरापद, निराकुल, और निश्चिन्त राह मिल सके।'

लोकभावना मे जीव अनुचिन्तन करता है 'यह लोक कितना विशाल है ? मै इसमे कहाँ नही गया हूँ ? इसकी नाना बस्तियो मे वक्त-दर-वक्त मेरा ठहरना हुआ है, यदि अब मै नही सँभला तो मेरे इस अन्तहीन भटकाव का कभी कोई सिरा नही मिलेगा। मुझे अवश्य कोई उपाय करना चाहिये।'

बोधिदुर्लभ भावना मे वह इस तट पर आ लगता है कि मोक्षरूपी महल तक पहुँचने के लिए उसे जो निसैनी चाहिये वह सम्यक्त्व ही है, अन्य नही । यह वोध कि आत्मा और शरीर दो भिन्न सत्ताएँ है, शरीर अलग है, आत्मा अलग है। वस्तुत वोधि, जिसे पाना वेहद कठिन है, रत्नत्रय का ही दूसरा नाम है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र ही वोधि है।

धर्मस्वाख्यातत्व अनुप्रेक्षा मे सम्यत्व की उपलब्धि को आधारभूत वताया गया है। कहा गया है कि अनुप्रेक्षाएँ ही सवर की सिद्धियाँ है। इसके वाद है निर्जरा और उससे सटा हुआ पडाव है मुक्ति।

यहाँ हम मुक्ति की तकनीकी/शास्त्रोक्त सूक्ष्मताओ मे न जाते हुए इतना ही कहेंगे कि मुक्ति आत्मा और शरीर के वीच पडी झूठी गाँठ को पहचानने और उसे अन्तिम रूप से खोल चुकने का नाम है। एक वार इस गाँठ के स्पष्ट स्वरूप-वोध के वाद यह असभव ही है कि जीव मुक्त न हो।

इस तरह ग्रन्थि यानी संसार और ग्रन्थि-मोचन यानी मुक्ति। ग्रन्थि किसके वीच ? जीव और शरीर (अजीव) के वीच, मोह की। मोचन किसका ? मोचन मोह-ग्रन्थि का। इस तरह कुछ कि अनुभव हो कि गाँठ झूटी है और मेरा स्वरूप इससे विल्कुल भिन्न है। मै 'मै' हूँ, यह 'यह' है जैसी स्पष्ट अनुभूति ही मुक्ति का हेतु वनती है।

ध्यान रहे भेद-विज्ञान से मिली सही चावी के माध्यम से मुक्ति-गृह का द्वार खोलने मे कोई देर नही लगती, प्रश्न मात्र चावी की पहचान और उसे पाने का है।

(जैन विद्या पत्राचार पाठ्यक्रम इकाई-४) △

जैनाचार : आधार और विशेषताएँ

जैनाचार का अर्थ इस तरह हुआ आचरण के वे नियम-उपनियम या आचरण की-वह संहिता जिसके परिपालन से जैन धर्म, या दर्शन को मैदान मे या प्रत्यक्ष जाना, देखा, और समझा जा सकता हो। जब हम दर्शन को जी कर देखने लगते है, तभी उसका मर्म समझ मे आता है। जैनाचार मे हम देह और मन को इस तरह संयत करते है कि उसमे-से-भेद-विज्ञान अर्थात् 'आत्मा अलग, शरीर अलग' वाला तथ्य खुल कर सामने आने लगता है। आचार में हम जिसे ज्ञान द्वारा जानने लगते हैं, उसे आनुभूतिक सत्य के रूप मे प्रमाणित देखने लगते है।

जैनाचार के प्रमुख आधार क्या है ? ऐसे कौन-से सिद्धान्त है, जो जैनाचार के राजमार्ग पर 'माइलस्टोन' (मील के पत्थर) की तरह काम करते है ? ऐसी कौन-सी प्रवृत्तियाँ है, जिन्हे जीवन मे प्रकट करने से जैन दर्शन और अध्यात्म से हार्द को समझने मे सुगमता होती है ?

सामर्थ्यानुसार जैनाचार को दो भागो मे विभाजित किया गया है · श्रावकाचार, श्रमणाचार। श्रावक में प्रतिपल श्रमण की सभावना रहती है। यदि कोई व्यक्ति ठीक से श्रावक ही न हो तो उसमें-से किसी सम्यक्/समर्थ श्रमण का उद्भव या शिल्पन भला कैसे हो सकता है ?

श्रावकाचार हो अथवा श्रमणाचार, उसके पाँच प्रमुख आधार हो सकते है १ सम्यक्त्व, २. उत्तमता, ३. हेयोपादेय-विवेक, ४. अहिसा, ५. वस्तु-स्वरूप की खोज। इनके अतिरिक्त अन्य प्रासंगिक या आनुषंगिक है और इधर, या उधर से इन्ही के साथ जुड़े हुए हैं। अहिसा मे-से हम किसी भी आचरणिक निर्मलता को उभरता-बनता देख सकते है। अहिंसा, जो करुणा की माँ है, मे-से हम संपूर्ण जैनाचार को करवट लेता पाते है। जहाँ अहिसा है, वहाँ जैनधर्म क्रमश अपनी परिपूर्णता मे प्रकट हो सकता है। वह बुनियाद है।

अहिसा साधक को सजग और सावधान रखने वाली चित्तवृत्ति है। वह एक ऐसा व्रत है, जिसके चारो ओर है सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अ-संग्रह। वस्तुत अहिसा इन चारो की जननी है। ये माँ-वेटे एक पल को भी एक-दूसरे को नही छोडते, इसलिए अहिसा के परिपालन मे शेष चारो का पालन आपोआप संभव होता है।

इसी अहिसा के गर्भ मे-से प्रकट होती है समता। समता में-से उत्पन्न होता है अनेकान्त। अन्य शव्दों मे अनेकान्त वैचारिक अहिसा का नाम है। अनेकान्त द्वारा हम दूसरो के विचारों का सम्मान करना सीखते है और सहिष्णु मन से उसे अधिकाधिक समझने का प्रयास करते हैं। अनेकान्त समता का जनक है। स्याद्वाद अनेकान्त को जानने का भाषिक

उपाय है। सव जानते है कि शब्द अपूर्ण है। वे पूरा ज्ञान नही करा पाते। यही कारण है कि शब्द-के-द्वारा अलग-अलग समयो पर अलग-अलग स्थितियो को जान कर उन्हे समन्वित करने से परिपूर्ण ज्ञान की कोई सभावना प्रकट होती है। अनेकान्त और स्याद्वाद मे-से जो समत्व या साम्य प्रकट होता है उसी में-से अंगडाई भरती है प्रशमरति यानी वह परमानन्द जो रागद्वेष को सर्वथा शेष करने मे-से उत्पन्न होता है। वीतरागता और प्रशमरति परस्पर जुडे हुए तथ्य है।

इस तरह ये कुछ आधार है, जो श्रावक को एक वेहतर मनुज, और आगे चल कर उसे एक श्रमण के रूप मे शिल्पित (विकसित) करते है।

णाचार प्रमुख आधार

'श्रमण' वह है जो समत्व/साम्य के लिए वाह्य तपो के साथ-साथ अतरग श्रम अर्थात तप भी करता है। 'श्रमण' के लिए सामान्यत. संयत, ऋषि, मुनि, साधु, वीतराग, अनगार, भदन्त इत्यादि शब्द काम मे आते है।

श्रमणाचार की आठ माताएँ वतायी गयी है। ये है पाँच समितियाँ (ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेपण एवं व्युत्सर्ग) और तीन गुप्तियाँ (मन, वचन, और काय)।

श्रमणाचार मे छह आवश्यक निर्धारित है। ये है सामायिक, चतुविशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग।

श्रमण के लिए दस धर्मो के प्रतिपालन का विधान भी है। ये है क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, सयम, तप, त्याग, आकिंचन्य, व्रह्मचर्य।

श्रमण के लिए कषाय-जय मुख्य है। एक श्रमण पिण्डस्थ से रूपातीत ध्यान तक की यात्रा करता हुआ आत्मसमाधि मे आ टिकता है और पूरी तरह संकल्प-मुक्त होने के प्रयास करता है।

एक रूपक है। शरीर नाव है, जीव नाविक है, संसार समुद्र है। जो श्रमण भेद-विज्ञान की पतवार प्राप्त कर लेता है, वह इस दुस्तर समुद्र को विना किसी वाधा के तिर लेता है।

एक श्रमण मरण को अवश्यम्भावी मान कर उसे धीरतापूर्वक स्वीकार करता है। जैनागम मे पण्डितमरण (ज्ञानपूर्वकमरण) को सैकडो जन्मो को निर्वंश करने वाला कहा है। सल्लेखना (सथारा) का अर्थ है कषाय और काय का ज्ञानपूर्वक/हँसते-मुस्कराते क्षरण। इसके दो भेद है-वाह्य, आभ्यन्तर। शरीर को कृश करना वाह्य और कषाय को कृश करना आभ्यन्तर सल्लेखना है।

कहा गया है कि जिसका मन विशुद्ध है, उसका संथारा (संस्तारक) न तो तिनकों का है और न ही प्रासुक भूमि का - उसकी आत्मा स्वयमेव संस्तारक (संथारा) है।

श्रावकाचार : प्रमुख आधार

'श्रावक' शब्द संस्कृत की 'श्रु' (सुनना) धातु से बना है। इस दृष्टि से इसका अर्थ हुआ वह व्यक्ति जो सावधानी से श्रुताभ्यास करता है।

वैसे श्रावक शब्द का एक मनोरंजक (अर्थोद्‌घाटक/सजेस्टिव्ह) विश्लेषण भी हुआ है। 'श्रावक' शब्द मे तीन अक्षर है-श्र, व, क। 'श्र' श्रद्धा का, 'व' विवेक का, और 'क' कर्तव्य का सूचक है। इस तरह श्रावक वह हुआ जो सम्यक्त्व मे श्रद्धा रखता है; अच्छे/बुरे, खरे/खोटे मे भेद करता है, और जो सोचता है उसे अपने आचरण मे प्रकट करता है। सक्षेप मे यह श्रावक का सर्वोत्तम अर्थ है।

जैन शास्त्रो में श्रावक को नि शंक, नि काक्ष (निष्काम), ग्लानि-रहित (सेवा मे), रूढियो और अन्धविश्वासो से मुक्त, गुणग्राही, अविचल, वात्सल्य-से-भरपूर, और सदाचार की प्रभावना करने वाला कहा गया है।

उसे अहंकार से मुक्त कहा गया है। कहा गया है कि एक उत्कृष्ट श्रावक को आठ मदों (ज्ञान, प्रतिष्ठा, कुल, जाति, बल, धन, तप, सौन्दर्य) से मुक्त होना चाहिये।

एक श्रावक को 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग' के गूढार्थ को खोजने और समझने वाला होना चाहिये। तदनुसार उसे चाहिये कि वह सम्यक्त्व मे अविचल आस्था रखे, प्रतिपल वस्तु-स्वरूप की खोज मे रहे, तथा राग-द्वेष से निवृत्त होने का उपाय करे। यही वह त्रिभुज है जो थोडे मे, श्रावक और श्रमण दोनो की इबारत (परिभाषा) और इमेज (छवि) खडी रकता है। श्रद्धा, ज्ञान और क्रिया-सही विश्वास, सही ज्ञान, और इन दोनो का सम्यक् आचरण ही उक्त त्रिकोण की रचना करता है।

श्रावक और श्रमण दोनो के लिए आवश्यक है कि वे पाँच व्रतो का पालन करे। ये है-अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, और अपरिग्रह। श्रावक इन्हे अणुरूप मे (अशत) तथा श्रमण इनका सर्वथा (निरतिचारपूर्वक) पालन करता है, इसीलिए श्रावक के स्तर पर इन्हे 'अणुव्रत' और मुनि के स्तर पर 'महाव्रत' कहा गया है।

इसके अलावा कुछ ऐसे मूलभूत विधान है, जिनका पालन एक श्रवण को हर हालत मे करना होता है। इन्हे अष्ट मूलगुण कहा जाता है। ये है पँचाणुव्रतो का पालन और तीन मकारो (मद्य, मॉस, मधु) का त्याग। इनके अतिरिक्त सात शीलव्रत है दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत, भोगोपभोगपरिमाण-व्रत, शिक्षाव्रत-देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास, वैयावृत्य।

दान के चार भेद है आहारदान, औषधदान, शास्त्र/ज्ञानदान, अभयदान, जो श्रावक के कर्त्तव्य माने गये है। भक्ति को श्रावक का विशेप गुण रेखांकित किया गया है।

श्रवकीय श्रेष्ठताओ को क्रमश प्राप्त करने के लिए ग्यारह कक्षाओ (पदो/श्रणियो/ग्रेडों) का निरूपण किया गया है। शास्त्र की भाषा मे इन्हे 'प्रतिमा' कहा गया है। ये प्रतिमाएँ है दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषध, सचित्त-त्याग, रात्रिभुक्ति-त्याग, व्रह्मचर्य, आरभ-त्याग, परिग्रह-त्याग, अनुमति-त्याग, उद्दिष्ट-त्याग।

किन्हीं अपरिहार्य और प्रतिफल परिस्थितियो मे श्रावक के लिए समाधिमरण (सल्लेखना, सथारा) की व्यवस्था है। ये है- अटल उत्सर्ग, अकाल, असाध्य रोग। ऐसी विषम स्थिति मे श्रावक को रत्नत्रय-स्वरूप धर्म का पालन करते हुए शरीर छोडना चाहिये। समाधिमरण-के-क्षणो मे उसे आलोचनापूर्वक महाव्रतों को धारण करना चाहिये।

व्रत महाव्रत/अणुव्रत

व्रत एक ऐसी जीवन-शैली है, जिसमे हम हिंसा, झूठ, चोरी, अ-संयम और परिग्रह-जैसी वुराइयो से उत्तरोत्तर मुक्त होने का प्रयत्न करते हैं। व्रतो को व्यक्ति की क्षमता के अनुसार दो श्रेणियो मे रखा गया है . महाव्रत. अणुव्रत। अधिक सरल शब्दो मे. महाव्रतों का पालन मुनियो/श्रमणो/साधुओ द्वारा और अणुव्रतो का गृहस्थो/श्रावकों द्वारा होता है। इस दृष्टि से महाव्रती को 'अनगार' और अणुव्रती को 'सागार' कहा जाता है।

व्रत पाँच है अहिंसा सत्य. अचौर्य. व्रह्मचर्य और अपरिग्रह। हमें यह जानना है कि व्रत सयम-की साधना के माध्यम है। ये वे पीढ़ियाँ हैं जिनसे हो कर हम मुक्ति-की-मंजिल तक पहुँचते है और मन को आध्यात्मिकता की ओर उन्मुख करते है। व्रत-साधना (इन्द्रिय-निग्रह) व्यक्ति अपनी क्षमता और शक्ति के अनुसार करता है। साधु (महाव्रती) स्वय को पूर्ण साधना की ओर ले जाता है और गृहस्थ इस मार्ग पर अंशत और क्रमश पैर बढाता है।

समिति/गुप्ति : स्वरूप, संख्या, व्याख्या

गुप्ति और समिति [illegible] संवर [illegible] है। इन्हें [illegible] हेतु [illegible] किया गया है। गुप्तियाँ तीन हैं और समितियाँ पाँच। गुप्तियाँ हैं— [illegible] गुप्ति [illegible] और वचनगुप्ति [illegible]। समितियाँ हैं— ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेपण और उत्सर्ग। [illegible] है [illegible] के [illegible] है। [illegible] पर प्रमुख [illegible] है।

[illegible] है। [illegible] होते हैं।

[illegible]

परिपालन श्रावक भी कर सकता है। इन सभी के गर्भ मे अच्छी नागरिकता का बीज पड़ा हुआ है। श्रावक को भी चाहिये कि वह देख कर (चौकस) चले, निर्दोष वचन-बाले, शुद्ध आहार ग्रहण करे या उपकरणो की शुद्धि का ध्यान रखे, वस्तुओ को सावधानी से धरे-उठाये तथा जहॉ मल-मूत्र, कफ आदि विसर्जित करे, जीव-जन्तुओ की हिसा न हो इसका पूरा-पूरा ध्यान रखे।

गुणस्थान : क्या, कितने

गुणस्थान मोक्ष-भवन की सीढियॉ है।

ये जीवो के पारिणामिक वर्ग है। इनमें बाह्याचार का इतना महत्त्व नही है, जितना साधक के अन्तर्जगत् मे घटित घटनाओ का।

गुणस्थान चौदह है।

इनके द्वारा जीव की उन कक्षाओ का निर्धारण होता है, जिनसे हो कर उसकी चेतना ऊर्ध्वारोहण करती है। प्रतिमाओ और गुणस्थानो को सरल शब्दो मे समझने के लिए हम कह सकते है कि प्रतिमाएँ 'श्रावकीय गुणस्थान' है तो गुणस्थान 'साधुत्व-विकास की प्रतिमाएँ' है। गुणस्थान जीव की अन्तर्यात्रा से संबन्धित है।

गुणस्थानो के नाम इस प्रकार है १. मिथ्यादृष्टि, २ सासादन सम्यग्दृष्टि, ३. सम्यक् मिथ्यादृष्टि, ४. असंयत सम्यग्दृष्टि, ५. संयतासंयत, ६. प्रमत्त संयत, ७. अप्रमत्त सयत, ८ अपूर्वकरण उपशमक क्षपक, ९. अनिवृत्ति बादर साम्पराय उपशमक क्षपक, १०. सूक्ष्म साम्पराय उपशमक क्षपक, ११ उपशान्त कषाय वीतराग छद्मस्थ, १२ क्षीण-कषाय वीतराग छद्मस्थ, १३. सयोग केवली, १४. अयोगकेवली।

प्रतिमाएँ : क्या, कितनी

'प्रतिमा' शब्द के कई अर्थ हैं। प्रतिमा मूर्ति या अनुकृति को भी कहते है। प्रतिमा का एक अर्थ चिह्न या पहिचान भी है। प्रतिमा जैनाचार का एक विशिष्ट तकनीकी शब्द है। यहाँ इसका अर्थ श्रावकपद, श्रावकश्रेणी, श्रावकीय विकास-की-सीढी है। ये ग्यारह है। गुणस्थानो की संख्या चौदह है। समीक्षकों का कहना है कि प्रतिमाएँ पाँचवे गुणस्थान संयत (देशसंयत) की विस्तार अथवा पल्लवन है।

प्रतिमाओं की एक विशेषता है, उनका क्रमश सघन होते जाना। एक जैनाचार्य ने प्रतिमा शब्द के सार 'क्रमविवृद्ध' विशेषण का उपयोग किया है, जिसका अर्थ है पृष्ठभूमि पर हुए विकास को समेटते चलना। जैनाचार मे 'आगे पाठ, पीछे सपाट' वाली कहावत निरर्थक है। जो श्रावक द्वितीय प्रतिमा का धारक है उसके लिए नितान्त आवश्यक है कि

दूसरी प्रतिमा सिर्फ दूसरी प्रतिमा ही न हो बल्कि वह पहली तथा दूसरी दोनो ही प्रतिमाओ की गुणवत्ता का योग (टोटल) हो। आगे बढते जाना और पीछे, जो कुछ उपलब्ध किया है उसे, छोड़ते जाना जैनाचार मे संभव नही है। इसी तरह ग्यारहवीं प्रतिमा के सिरे पर खडा उत्कृष्ट श्रावक केवल 'ग्यारहवी प्रतिमा' का धारक नही होगा वह 'ग्यारहो प्रतिमाओ' का धारक होगा। सामान्य गणित द्वारा हम इसे यो समझ सकते है - १+२ =२, १+२+३ =३, १+२+३+४+५+६ =६ इत्यादि। इस प्रक्रिया को 'क्रमविवृद्धि' कहा गया है। यह चक्रवृद्धि व्याज की तरह का विकास है।

प्रतिमाएँ इस प्रकार है दर्शनिक, व्रतिक, सामायिक, प्रोषध/अनशन/सचित्त-विरत, रात्रिभोजन-विरत, व्रह्मचारिक, आरंभ-विरत, परिचित्त-परिग्रह-विरत, अनुमति-विरत, उत्कृष्ट श्रावकीय।

जैनाचार मे किसी भी श्रावक को मुनिपद पर छलाँग मारने की अनुमति नही है। जब तक कोई श्रावक सयम-पालन की इन ग्यारह कक्षाओ को सफलतापूर्वक उत्तीर्ण नही करता, मुनि-दीक्षा के योग्य नही होता।

इस तरह ग्यारहवी प्रतिमा की चरम रेखा पर खडा उत्कृष्ट श्रावक मुनितुल्य ही होता है, या क्रमश हुआ होता है।

(जैन विद्या पत्राचार पाठ्यक्रम इकाई-५) △

भारतीय संस्कृति के प्रमुख उपादान

भारतीय सस्कृति के मूल आधार/प्रमुख उपादान (रचना-तत्त्व) इस प्रकार है

१ यह धर्म-निरपेक्ष सस्कृति है। धर्म-निरपेक्षता का अर्थ है विभिन्न धार्मिको (धर्म के मानने वाले) का सह-अस्तित्वपूर्ण सहजीवन। इसे हम धार्मिक सहिष्णुता अथवा उदारता भी कह सकते है।

२ विविधता-मे-एकता, या विषमता-मे-समता। समायोजन और समन्वयन, सतुलन और समवेदन भारतीय सस्कृति के ऐसे रचना-तत्त्व हैं जो उसे एक करते हैं, जोड़ते हैं।

३ सत्य पर अखण्ड अविचल आस्था, उसकी निरन्तर खोज हर क़दम पर उसका आग्रह।

४ 'भोग नहीं, त्याग'-यह सस्कृति भोगमूलक न हो कर त्याग और समर्पण-मूलक है। 'सारी वसुधा-एक-कुटुम्ब' जैसा रचना-तत्त्व है, जो भारतीय संस्कृति को विशाल उदार और सर्वोदयी चेतना से सपन्न करता है।

५. भावना और विचार दोनो के बीच सेतु बना कर चलना न सिर्फ ज्ञान-विज्ञान बल्कि सहृदयता भी भारतीय संस्कृति की उज्ज्वलता का जीवन्त प्रतीक है।

६ स्वीकृति-की-ओर-रुझान-कल्याणकारी/हितकारी अर्थात् अच्छाई को चाहे वह किसी भी स्रोत हो, गले लगाओ, पचाओ और बिना किसी पूर्वाग्रह के उसे अपने जीवनाचार का अंग बनाओ।

७ एक-दूसरे की सहायता, एक-दूसरे पर अहेतुक प्रीति, एक-दूसरे पर विश्वास-भारतीय लोक जीवन मे जहाँ भी आज करुणा-की-उपस्थिति है, वह इसी रचना-तत्त्व का उपकार है।

श्रमण संस्कृति के प्रमुख उपादान

भारतीय संस्कृति मूलत दो धाराओ मे प्रवाहित है-वैदिक, श्रमण। वैदिक सस्कृति प्रवृत्ति-मूलक, ईश्वर के कर्तृत्व मे विश्वास रखने वाली सस्कृति है, इसकी तुलना मे श्रमण संस्कृति निवृत्ति-प्रधान, आत्म-स्वातन्त्र्य मेआस्था रखनेवाली पुरुषार्थ-मूलक सस्कृति है।

श्रमण संस्कृति भोग-से-योग-की-ओर प्रस्थान करने वाली संस्कृति है। उसने प्रवृत्ति-चक्र को काट फेका और मनुष्य को वीतरागता (वीततृष्णता) की ओर मोडा। कर्म-सिद्धान्त को ईश्वर से विलग्न कर उसे भेद-विज्ञान, वस्तु-स्वरूप, और आत्म-स्वातन्त्र्य का आधार प्रदान किया। वस्तुत सामान्य आदमी की आध्यात्मिक भागीदारी लगभग समाप्त हो चुकी थी। वह एक अजीब-सी टूटन-घुटन महसूस करने लगा था। इतिहास बताता है कि महावीर-से-पूर्व 'विशिष्ट मनुज' ही सर्वेसर्वा हो गया था। सामान्य आदमी (कॉमन मेन) लगभग अस्तित्व-शेष था। उसका मनोबल टूट चुका था। उसके पाँव-तले की जमीन खिसक चुकी थी। ऐसे विषम क्षणो मे श्रमण संस्कृति ने विशिष्ट व्यक्तियो के एकाधिकार को चुनौती दी और अपने पतित-पावनी-स्पर्श-से उस आदमी को बल-सम्बल प्रदान किया जो समाज मे लगभग शत-प्रतिशत तिरस्कृत हो चुका था। भाषा और चिन्तन, धर्म और अध्यात्म, दर्शन और सस्कृति आदि सभी स्तरो पर श्रमण संस्कृति ने सामान्य व्यक्ति को महत्त्व दिया और उसे तत्कालीन दासताओ से मुक्त किया। इस तरह 'स्वतन्त्रता' श्रमण सस्कृति का सर्वोपरि रचना-तत्त्व है।

पुरुषार्थ से, परिश्रम से क्या संभव नही है ? सब कुछ संभव है। यहाँ तक कि यदि व्यक्ति पुरुषार्थ करे तो उसे मोक्ष या निर्वाण-जैसी अलभ्य वस्तु, जिसे अब तक विशिष्टो की बपौती माना जाता था, भी मिल सकती है।

श्रमण सस्कृति ने भिक्खु/भिक्खा/कर-पात्र-मे-आहार/नग्नता जैसे प्रयोगो द्वारा धन-दौलत की व्यर्थता को उजागर किया। अपरिग्रह को उसकी चरण सीमा तक ले जाया गया। श्रमण सस्कृति ने परिग्रह और त्याग के जो प्रतिमान सामने रखे, विश्व-की-अन्य कोई सस्कृति उस ऊँचाई को नही छू सकी। नग्नता से बडा अपरिग्रह और क्या हो सकता है ? इस तरह भय तक को भयभीत कर इस सस्कृति ने चारो ओर अहिसा का शखनाद किया और लोगो के शुभ्र विवेक को जगाया।

श्रमण सस्कृति के तीन रचना-तत्त्व उल्लेखनीय हैं   समता, स्वतन्त्रता, अहिसा। इस त्रिकोण मे सब कुछ आ गया है। अहिसा मूलाधार है, इसमे-से समता और स्वतन्त्रता का जन्म होता है। जो अहिसक है, वह स्वप्न मे भी शोषक नही हो सकता और जो शोषक नही है वह दूसरो को पराधीन करने जैसी घृणास्पद कल्पना कभी नही कर सकता। ध्यान रहे, अहिसाके गर्भ मे समता और स्वतन्त्रता, आत्मनिर्भरता और पुरुषार्थमूलकता अवस्थित है।

इस तरह श्रमण सस्कृति ने आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व अपनी निरन्तरता मे भारत मे एक ऐसे समाज का प्रवर्तन किया था जो शोषण-मुक्त था और जो समानता और स्वाधीनता-जैसी आधार-भूमियो पर मुस्कराता खडा था।

जैन संस्कृति के प्रमुख उपादान

जैन संस्कृति का विशाल भवन जिन प्रमुख स्तम्भो पर खडा है वे है-अहिसा, अनेकान्त,अपरिग्रह, और भेद-विज्ञान।

अहिसा जैन सस्कृति का आधारभूत रचना-तत्त्व है। यह बात अलग है कि आज जैनधर्म के अनुयायी अपने जीवन मे अहिसा को वह जगह नही दिये हुए है जो उन्हे देनी चाहिये, किन्तु ऐसा होने से अहिसा-के-स्वरूप पर कोई असर नही पडता। वह ज्यो-का-त्यो बना रहता है।

आचार के क्षेत्र मे जिसे 'अहिसा' कहा गया है, जैन शब्दावली मे, विचार के क्षेत्र मे उसे ही 'अनेकान्त' कहा गया है।

जैन सस्कृनि का द्वितीय महत्त्वपूर्ण उपादान है समता। ध्यान रहे   समत्व का जन्म अहिसा की कोख से होता है। जहाँ अहिसा है, वहाँ परतन्त्रता और विपमता की पटरी नही बैठ सकती। वस्तुत समता अहिसा का पर्याय शब्द है।

जैन सस्कृति ने उसे बताया कि लोक मे सब समान और स्वाधीन है। केवल जो ढँका है उसे उघाडने, खोजने, और पाने की आवश्यकता है। यह जो अमृतघट जैन सस्कृति ने [illegible] दिया, इसकी सानी (बराबरी) कहीं नहीं है।

भेद-विज्ञान की दृष्टि जैन संस्कृति का ऐसा आधार-स्तम्भ, है जो मुक्ति का स्पष्ट दिशा-बोध कराती है। वह कहती है कि शरीर और आत्मा दो स्वतन्त्र अस्तित्व है। दो भिन्न सत्ताएँ है। ये एक नही है, एकमेक है।

जैन संस्कृति, जो दीख नही पड रहा है, उसे खोज कर दिखाने की सस्कृति है। भेद-विज्ञान, इस तरह, जैन संस्कृति की एक महत्त्वपूर्ण आधार-शिला है।

सामाजिक समानता के क्षेत्र मे अणुव्रतो और महाव्रतो का जो ढाँचा खडा किया गया है, वह भी क्रान्तिकारी है। चतु·संघ के पुनरुद्भव ने नारी की स्वतन्त्रता का जो उद्घोष किया है, वह उल्लेख्य है। समन्वय, सहिष्णुता, परस्पर-प्रीति और उपग्रह (सहयोग), वस्तु-स्वातन्त्र्य, आत्मनिर्भरता, अनेकान्त-दृष्टि इत्यादि कुछ ऐसे रचना-तत्त्व है, जो जैन संस्कृति को एक पृथक् अस्मिता प्रदान करते है।

जैन संस्कृति : स्थापत्य और कला

गत चार-पाँच दशकों मे विश्व-स्तर के विद्वानो का ध्यान 'जैनविद्या' के विविध समृद्ध पक्षो की ओर गया है। उन्हे लगा है कि 'जैनविद्या' का क्षेत्र बहुआयामी है और उसने भारतीय संस्कृति को काफी समृद्ध किया है।

भारतीय ललित कलाओं-के-विकास का अध्ययन करने से पता चलता है कि जैन स्थापत्य/कला का भी एक सिलसिलेवार विकास हुआ है और उसकी सृजनधर्मिता एव रचना-प्रक्रिया की अस्मिताएँ/मौलिकताएँ भी रही है। स्थापत्य, मूर्ति, चित्र, नृत्य, संगीत, काव्य आदि सभी क्षेत्रो में जैन मनीषियो ने बहुमूल्य योगदान किया है और अपनी अलग पहचान बनायी है।

जैन संस्कृति : विकास, इतिहास और पुरातत्त्व

जैन शास्त्रो मे जैन संस्कृति के विकास की जो रूपरेखा मिलती है वह इतनी व्यवस्थित है कि उसमे-से हम इतिहास और पुरातत्त्व से अर्जित सामग्री की समीचीन (तथ्यो-पर-आधारित) व्याख्या कर सकते है।

जैन साहित्य : जैन साहित्य के इतिहास-लेखन का सूत्रपात बीसवी शताब्दी के आरम्भ मे हुआ। इस सिलसिले में 'जैन साहित्य का इतिहास', 'जैन साहित्य का बृहद् इतिहास', 'हिन्दी जैन साहित्य का परिशीलन' जैसी बहुमूल्य कृतियाँ प्रकाश मे अवश्य आयीं, किन्तु उनके द्वारा भी इतिहास-लेखन की वह परम्परा खडी नहीं हो सकी, जो अपेक्षित थी।

अर्धमागधी · भगवान् महावीर ने जिस भाषा मे धर्मोपदेश किया और आगे चल कर जिसमे जैन सूत्रो (जैन आगमो) की रचना हुई वह 'अर्धमागधी' ही है। अर्धमागधी के अन्य नाम है - ऋषिभाषिता, आर्ष। 'ऋषिभाषिता' का अर्थ है 'ऋषियो-की-वाणी' और 'आर्ष' का अर्थ है ऋषियो-द्वारा प्रयुक्त प्राकृत।

जिस तरह बौद्धो ने मागधी (पालि) को सब भाषाओ की गगोत्री निरूपित किया है, उसी तरह जैनो ने अर्धमागधी को महत्त्व दिया है।

हमारे मन मे यह प्रश्न सहज ही करवट लेता है कि अर्धमागधी मे प्रयुक्त 'अर्ध' का क्या अर्थ है ? क्या अर्ध का अर्थ 'आधा' लिया जाए अथवा ईषत् , अल्प किया जाए। जिस तरह अहिसा,अपरिग्रह आदि मे प्रयुक्त 'अ' का अर्थ हिसा या परिग्रह का सर्वथा अभाव नहीं है, बल्कि अधिकतम अभाव है, उसी तरह अर्ध का अर्थ आधा न होकर 'ईषत्' है।

यह भी स्पष्ट हुआ है कि जैनधर्म और दर्शन उन लोगो के बीच प्रचारित हुआ था जो अधिक पढे-लिखे नहीं थे तथापि धर्म और अध्यात्म का ज्ञान प्राप्त करना चाहते थे। मालूम है कि शौरसेनी और महाराष्ट्री प्राकृतें तथा अर्धमागधी जनभाषाएँ थीं, जिन्हे सामान्य आदमी अपने दैनदिन उपयोग मे लाता था।

ज्ञातव्य है कि श्वेताम्बर जैन आगम अर्धमागधी मे है और दिगम्बर जैन आगम शौरसेनी प्राकृत मे। 'आचारांग' आदि की भाषा अर्धमागधी है।

अपभ्रंश : अपभ्रंश, और राजस्थानी, गुजराती तथा हिन्दी के बीच माँ-बेटी-जैसा सबन्ध है। उसने इन तीनों को [illegible] है। इन तीनों भाषाओं के [illegible] अपभ्रंश की एक [illegible] भूमिका रही है।

अभी जैन [illegible] है। [illegible]

[illegible]

अन्य भाषाएं

तमिल की अमर साहित्यिक कृति 'तिरुक्कुरल' (तिरुवल्लुवर/प्रथम शताब्दी) तमिल वेद कहलाती है। जैन संत-प्रणीत यह जनकाव्य तमिलनाडु ही नही, पूरे विश्व की अमर सपदा है। 'कुरल' (तिरुक्कुरल का संक्षिप्त संबोधन) को आचार्य कुन्दकुन्द की कृति माना जाता है। जब हम 'कुरल' की विषय-वस्तु का अध्ययन करते है, तब अन्त साक्ष्यो की खिडकियो से हमे उसमे श्रमण-जीवन-दर्शन झॉकता दिखायी देता है।

कन्नड कर्नाटक प्रदेश की भाषा है। इसमे जो प्राचीन जैन साहित्य मिलता है, वह अखिल मानव-समाज के लिए गर्व-गौरव की वस्तु है। कन्नड़ और तमिल जैन वाड्मय अधिकांशत ताड़पत्रो पर लिखा गया है। कर्नाटक के शास्त्र-भण्डार ताडपत्रीय पाण्डलिपियों से भरे पडे है।

संस्कृत साहित्य विशेषत काव्य के विकास मे भी जैन साहित्यकारो की एक उल्लेखनीय भूमिका रही है। जैन चरित्र-काव्यो ने संस्कृत साहित्य को काफी समृद्ध किया है।

हिन्दी साहित्य का आदिकाल, जिसमे अपभ्रंश-साहित्य बना,जैन साहित्य की दृष्टि से काफी महत्वपूर्ण है। इस युग मे विपुल जैन साहित्य लिखा गया है। यदि हम भाषा और साहित्य की दृष्टि से हिन्दी साहित्य के इस कालखण्ड को 'जैनयुग' भी कहे तो यह अतिशयोक्ति नही है।

वस्तुत जैन साहित्य मे विलक्षण वस्तु-वैविध्य है। जीवन का ऐसा कोई पक्ष नही है, जो जैन साहित्यकारो की कलम-की-नोक के नीचे आने से बच रहा हो। उसमे तत्त्व-ज्ञान, न्याय, योग, ध्यान, आचार, इतिहास, कथा, नीतिशास्त्र, व्याकरण, भूगोल, ज्योतिष, गणित, मंत्र, तंत्र, शकुन, आयुर्वेद, प्राणिविद्या, वनस्पतिशास्त्र, कृषिविद्या, पाकविद्या, वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीत आदि सभी विषयो पर विपुल साहित्य उपलब्ध है। उसकी इस बहुभाषिकता और बहुमुखीनता ने उसे न सिर्फ राष्ट्रीय अपितु वैश्विक महत्त्व प्रदान किया है।

हिन्दी साहित्य को जैन साहित्य का योगदान

गत शताब्दियों मे जैन साहित्य ने हिन्दी-साहित्य को जो कुछ दिया है, उसे संक्षेप मे हम इस तरह रख सकते है .

- हिन्दी को राष्ट्रीय समन्वय की बहुमूल्य चेतना जैन साहित्य से मिली। जब हम हिन्दी के सत-साहित्य का अवलोकन करते है तब यह स्पष्ट हो जाता है कि इसमे जिन नैतिक और मानवीय मूल्यो को प्रतिपादित किया गया है, वे वही है जिन्हे सदियो पूर्व महावीर ने

तत्कालीन जन-जीवन मे प्रवर्तित किया था। ये थे -समता, सयम, संतोष, सम्यक्त्व, निरहकार, अहिसा, क्षमा, अपरिग्रह, अचौर्य आदि।

- गतिशीलता और सृजनधर्मिता (क्रिएटिविटी) जैन साहित्य की आत्मा है। जब हम सपूर्ण जैन साहित्य का विहगावलोकन करते है तब यह तथ्य और अधिक स्पष्ट हो जाता है। हम देखते है कि जैन रचनाकारो ने कई नये प्रयोग किये है और अपने समकालीन साहित्य को तदनुसार प्रभावित किया है। एकागिता से जैन साहित्य का कोई सरोकार नही है। जैन साहित्य के सतत् सपर्क के कारण हिन्दी की प्रकृति भी प्रयोगधर्मा रही है।

- व्यापक और उदार दृष्टि, जैन रचनाकारो को महावीर से विरासत मे मिली। स्वयं महावीर ने जैनधर्म-के-ढाँचे मे क्रान्तिकारी परिवर्तन किये थे, अत यह असभव ही था कि जैन साहित्यकार उनकी उस सर्वहारा चेतना से अछूता रह जाता। जैन साहित्य की समतामूलक दृष्टि ने सत-साहित्य को नखशिख प्रभावित किया है।

- जैन साहित्य की प्रेरणा का स्रोत विशिष्ट जीवन न हो कर कल-कल वहता निर्मल जल है, इसीलिए जन-जीवन की सभी विशेषताएँ उसमे दिखायी देती है।

- विविधिता और वहुमुखीनता (जीवन के सभी पक्षो को समेटना) जैन साहित्य की बहुत बड़ी विशेषता है।

- हिन्दी का भक्ति और रीतिकालीन छन्द-विधान अपभ्रश के कवियो की देन है। 'पद्मावत' (जायसी) और 'रामचरितमानस' (तुलसी) की छन्द-योजना महाकवि स्वयम्भदेव के 'पउमचरिउ' की छन्द-योजना है।

- जैन साहित्य ने सदेव भारतीयेतर प्रभाव से भारतीय साहित्य की रक्षा की। उसने मौलिक देने का प्रयत्न किया और जो मौलिक चलाजा रहा था उसकी प्राणपण से रक्षा की।

- जैन साहित्य ने हिन्दी साहित्य को लोकोत्तर दृष्टि प्रदान की। जैन पद-साहित्य और जैन गीति-काव्य इसके सर्वोत्तम उदाहरण है।

- उसने शान्तरस को प्रमुखता दे कर रागात्मिकता वृत्ति को उदात्त बनाया। हिन्दी के भक्ति-साहित्य पर इसकी छाप देखी जा सकती है।

- हिन्दी को पहली आत्मकथा देने का श्रेय जैन साहित्य को है। १६४१ ई मे महाकवि बनारसीदास ने 'अर्धकथानक' शीर्षक से मध्यदेश-की-बोली मे इसे लिखा। यह न केवल जैन या भारतीय साहित्य की वरन् विश्व-साहित्य की अमर कृति है। 'हाफ ए टेल' के नाम से इसका अंग्रेजी मे अनुवाद भी प्रकाशित हुआ है।

- हिन्दी-जैन-साहित्य को जैन कोशकारो ने खूब समृद्ध किया है। इन ग्रन्थो की [illegible]

बहुत बड़ी तालिका बनायी जा सकती है। महाकवि बनारसीदास की 'नाममाला' (१६१३ ई.) इसकी अनुपम बानगी है। सत्रहवी सदी मे इस तरह के कई कोश बनाये गये।

जैन साहित्य ने हिन्दी-साहित्य को 'क्या दिया, किस-किस क्षेत्र मे दिया' इसका एक बेलौस और विस्तृत मूल्यांकन होना चाहिये। इससे इसकी स्वतन्त्र छवि प्रवर्तित करने मे सहायता मिलेगी।

भारतीय संस्कृति को जैन संस्कृति का योगदान

जैनधर्म, या जैन संस्कृति का सबसे प्रमुख योगदान है-चिन्तन-मे-उदारता। जैन मनीषियो ने अपने समकालीनो को बगैर किसी वैचारिक टकराव के समझने का सार्थक और सफल प्रयत्न किया। जैन संस्कृति ने एक तो जनभाषा को जन-से-सम्वाद-बनाने-के-लिए अपनाया, दूसरे उसने सभावनाओ को एक पल के लिए भी नही नकारा। असल मे, अनेकान्त 'संभावनाओ-का-शास्त्र' है। इसका कहना है कि कोई भी वस्तु कभी एकमुखी/एक-आयामी नही है, वह बहुमुखी और नाना आयामी है।

यो जब हम अतीत मे सुदूर तक आँख पसारते है तब देखते है कि जैन मनीपियो ने मात्र एक ही क्षेत्र मे नही वरन् अनेक क्षेत्रो मे महत्त्वपूर्ण कार्य किया और अपनी प्रखर प्रतिभा के माध्यम से कई कीर्तिमान स्थापित किये। भारतीय भाषाओ, कला और शिल्प, न्याय और दर्शन, इतिहास और पुरातत्त्व, चिन्तन और शास्त्रार्थ, नीति और सदाचार, विश्वबन्धुत्व और विश्वशान्ति, लिपि और लेखन-कला, चिकित्सा ओर आयुर्वेद, ज्योतिप और सामुद्रिक, तन्त्र ओर मन्त्र, गणित ओर विज्ञान, भूगोल, व्यापार ओर उद्योग, पत्र-पत्रिकाओ, राजनीति, व्यक्ति-उत्थान, राष्ट्रीयता आदि अनेक क्षेत्रो मे जैन मस्कृति ने अपूर्व भमिका का निर्वाह किया है।

आर्यभाषाओ के क्रमिक विकास का अध्ययन करना चाहे तो यह जैन साहित्य के अध्ययन के बिना सभव नहीं है।

लिपि और लेखन-कला की दृष्टि से भी जैन साहित्य महत्त्वपूर्ण है। कहा जाता है कि प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभनाथ के सौ पुत्र और दो पुत्रियाँ थी। इनमे भरत प्रथम चक्रवर्ती हुए। उनके नाम पर ही 'भारत' का नाम 'भारत' हुआ। बाहुबली छोटे थे। उन्होंने युद्धशास्त्र का नया मोड़ दिया, जिसका अभी समीचीन मूल्याकन नही हुआ है। वस्तुत बाहुबली ने मानव-विकास के आदिकाल मे ही युद्धरहित समाज-रचना को प्रवर्तित किया और कहा कि युद्ध प्राय व्यक्तिगत होते है अत उन्हे व्यक्तियो तक ही सीमित रखा जाए, व्यापक नर-सहार का कारण न बनने दिया जाए। भरत-बाहुबली-युद्ध का प्रसग वस्तुत एक ऐसी रचनाधर्मी समाज-रचना का प्रसग है जो मनुष्य की मनीषा को गौरवान्वित करता है और युद्धशास्त्र को एक सर्वथा नया आयाम देता है।

ज्योतिष और तन्त्र-मन्त्र के क्षेत्र भी जैनाचार्यों की दृष्टि से नही छूटे। जैन तन्त्र आदि-से-अन्त तक अहिसक और सदाचारमूलक है। वहाँ माँसाहार, सुरापान, सुन्दरी-सेवन इत्यादि के लिए कोई स्थान नही है।

जहाँ तक तन्त्रशास्त्र का प्रश्न है जैनाचार्यो ने इस क्षेत्र मे अच्छा कार्य किया है। महामन्त्र णमोकार को ले कर जो भी लिखा गया है उससे इस तथ्य का पता चलता है कि जैनाचार्यो को बीजाक्षर-विज्ञान, ध्वनिशास्त्र, वर्ण-विज्ञान, आकृति-विज्ञान इत्यादि का गहन ज्ञान था। णमोकार की रहस्य-भूमियो को स्पष्ट करते हुए जैनाचार्यो ने योग/ध्यान से सबन्धित शास्त्र को भी समृद्ध किया है। आचार्य शुभचन्द्र का 'ज्ञानार्णव' इस दृष्टि से एक उल्लेखनीय ग्रन्थ है।

जैनाचार्यो ने केवल शरीर को जाना हो, ऐसा नही है, उन्होंने सृष्टि-रचना को समझने का प्रयत्न भी किया है। उनका प्रतिपादन है कि सृष्टि अनादि-अनन्त है, इसका कोई सृष्टा नही है। इसके निर्माता द्रव्य ६ है - जीव, पुद्गल धर्म, अधर्म आकाश, काल। उक्त द्रव्य जहाँ तक गमनशील है वहाँ तक लोकाकाश और शेष अलोकाकाश है।

जहाँ तक राजनीतिक क्षेत्र का सबन्ध है, जैन अवदान (योगदान) बहुत स्पष्ट है। जैन तीर्थंकर क्षत्रिय कुल से आये ऐसे राजघरानो से जिनकी गणतन्त्र मे गहन, सम्पूर्ण आस्था थी। लिच्छवि गण जिसमे-से भगवान् महावीर आये एक ऐसा गणराज्य था जिसमे गण का महत्त्व जन और पद का अधिक था।

जनतन्त्र मे स्वतन्त्रता का महत्त्व सर्वोपरि है। जैन धर्म संस्कृति की रीढ़ भी स्वतन्त्रता है। व्यक्ति की स्वतन्त्रता के लिए, उसकी स्वाधीन अस्मिता के निमित्त जैन धर्म [illegible]

जो काम किया है वह भारतीय सस्कृति के इतिहास मे अपनी तरह का निराला है। आत्मस्वातन्त्र्य को युक्तियुक्त रूप मे रखने की दृष्टि से भी जैन सस्कृति की उल्लेखनीय भूमिका है।

पत्रकारिता के क्षेत्र मे भी जैन धर्म/समाज का ऐतिहासिक योगदान है। 'विज्ञप्ति पत्रों' के रूप मे जो वृत्त-विवरण मिलते है वे अद्‌भुत है। ये पत्र १४ वी सदी से १९ वी सदी तक के है। माना, ये पूरी तरह अखबार नही हैं, किन्तु इनका मूल चरित्र अखबार-जैसा ही है, समाचारात्मक है।

कला और शिल्प के साक्षी भारतीय इतिहास और पुरातत्त्व है। वास्तु-से-चित्र-तक जैन अवदान अविस्मरणीय है। गुजरात, राजस्थान, बिहार और कर्नाटक के सरस्वती-भाण्डार इस तथ्य के जीवन्त प्रमाण है कि जैनों ने कला/शिल्प के क्षेत्र मे भारत का मस्तक सदैव ऊँचा किया है।

यदि भारत के समस्त सरस्वती-भाण्डारो और जैन मन्दिरो को बिना किसी पूर्वाग्रह के एक साथ ले लिया जाए तो भारतीय संस्कृति का जो दीप्तिमन्त मुख-मण्डल बनेगा वह अप्रतिम होगा। **(जैन विद्या पत्राचार पाठ्‌यक्रम : इकाई-६)** △

जैन योग : स्वरूप और विशेषताएँ

जब हम जैनयोग के स्वरूप और उसकी मौलिकताओ पर विचार करते है कि वह चित्तवृत्तियो के परिपूर्ण निरोध और मनुष्य को समग्र-समान्वित करने की साधना है तथा वीतरागता तक एकाग्र चित्त से पहुँचने का निर्विकल्प पुरुषार्थ है।

तप और ध्यान

तप वह साधना है, जिसके द्वारा शरीर के रस, रुधिर, माँस, मेद, अस्थि, मज्जा, और शुक्र तप कर शुष्क और अनकुरणशील (बाँझ) हो जाते है, फलत अशुभ कर्म झड जाते है, क्षीण और ध्वस्त हो जाते है-जड से उजड जाते है।

इस तरह तप आत्मशोधन का सर्वोत्कृष्ट और सुलभ साधन है। जैन आगमो में ध्यान के चार भेद प्रतिपादित है-आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान, शुक्लध्यान, जिनमे-से प्रथम दो अप्रशस्त (संसार मे रुलाने वाले) तथा शेप दो प्रशस्त (संसार से मुक्त कराने वाले) है। आर्त और रौद्र मन स्थितियो मे व्यक्ति क्रूर, कठोर, हिसक, ईर्ष्यालु, लोभी, मानी, क्रोधी, रागी, द्वेपी वना रहता है, दूसरी ओर धर्म और शुक्ल मन:स्थिति मे वह स्व-दर्शन के लिए अन्त प्रवेश करता है और चित्तशुद्धि की प्रक्रिया मे कषाय-जय करता है।

१९५० ई के वाद से तीन ध्यान-पद्धतियाँ भारतीय क्षितिज पर आयी। एक,

विपश्यना, दो, प्रेक्षा, तीन, समीक्षण। इन पद्धतियो के अलावा अलग-अलग साधु-संतो-साधको ने किंचित् हेरफेर के साथ अपनी-अपनी लघुध्यान-पद्धतियाँ विकसित की और कई शिविर आयोजित किये। आज ध्यान-शिविरो के आयोजनो ने फैशन का रूप भी ले लिया है। (जैन विद्या पत्राचार पाठ्यक्रम इकाई-७) △

जैन समाज: वर्तमान अवस्था और भावी विकास

जब हम जैन समाज की वर्तमान अवस्था की ओर आँख उठाते है, तब देखते है कि आधुनिक सभ्यता ने उसके व्रतो के ढाँचे को जडमूल से छिन्न-भिन्न कर दिया है। अहिसा-से-अपरिग्रह-तक का सपूर्ण ढाँचा लगभग चरमरा गया है। हिसा ने व्यक्ति और समाज के खानपान और रहनसहन मे काफी गहरी सैध लगायी है तथा उसे ध्वस्त किया है। जैनो की आजीविकाओ मे अब कोई हिसा-अहिसा, सत्य-असत्य, चौर्य-अचौर्य का विवेक नही रहा है। जहाँ से, जिस स्रोत से भी धन आ सकता है, वहाँ से, उस स्रोत से धन प्राप्त करने की कोशिश मे आज का जैन जन चूक नही रहा है। ध्यान रहे कि जब तक हमारे आजीविका-के-स्रोत निर्मल और निष्कलक नहीं होंगे, तब तक आत्मधर्म की साधना निरापद/निर्विघ्न नहीं बन पायेगी।

परम्परित विकास की तुलना मे भावी विकास को देखना वस्तुत अत्यन्त रोमाचक है। हम देख रहे हे कि गत दो शताब्दियो मे अनगिनत सदर्भ बदले है। कई सार्थकताओ ने अपने बिस्तर गोल किये है, और कई निरर्थकताओ ने हमारे जीवन मे डेरे डाले है। कुछ गया है, कुछ नया है, दोनो स्थितियाँ परस्पर समायोजन के लिए गुत्थमगुत्था है। बुजुर्ग पीढी और तरुण पीढी मे टकराहटे है। दोनो एक-दूसरे से कतरा रही है, किन्तु तय है कि इन दोनो के मध्य कोई रचनात्मक सेतु निर्मित होगा ताकि दोनो किसी अनुबंध पर हस्ताक्षर करे और एक नये युग की शुरूआत हो।

(जैन विद्या पत्राचार पाठ्यक्रम इकाई-८) △

जैनविद्या/अध्ययन का संक्षिप्त/पर्यवलोकन

जैनधर्म में विश्वधर्म की संभावनाएँ

इकाई-१ के पाठों मे हमने जैनधर्म के बहुआयामी स्वरूप पर प्रकाश डाला है। जैनधर्म वस्तुत. भेद-विज्ञानमूलक व्रत-प्रधान धर्म है; किन्तु इन व्रतो का लक्ष्य शुद्धात्म स्वरूप की प्राप्ति है, कोई लौकिक प्रयोजन नही है। व्रतो की सम्पूर्ण आयोजना इस उपलब्धि पर केन्द्रित है।

तप साधन है, साध्य कैवल्य है। यह जानना कि शरीर शरीर है, आत्मा आत्मा है- जैनधर्म का मूल लक्ष्य है। यही तप है। यही परमार्थ-साधना है।

जैनधर्म मे वस्तु-स्वरूप को खोजने और जानने पर बल दिया गया है। इसके दो आधार है · १. वस्तु स्वाधीन है, २. कही, कोई हस्तक्षेप नही है।

लोक छह द्रव्यो से बना है। ये हैं- जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल। जीव चेतनावान है, पुद्गल चेतना-रहित है। धर्म गति और अधर्म स्थिति के माध्यम है। आकाश द्रव्यो को अवगाह (स्थान) देता है। यह द्विविध है-लोकाकाश, अलोकाकाश। जहाँ तक द्रव्यो का गमनागमन है, लोकाकाश है; जहॉ नही है, अलोकाकाश है। छहो द्रव्य अनादि-अनन्त है। ये है, 'होना' ही इनकी विशिष्टता है। 'होना' इनका स्वभाव है। द्रव्य की नाना पर्यायें सम्भव है, तथापि उनका ध्रौव्य अप्रभावित रहता है। सत् अर्थात् द्रव्य उत्पाद, व्यय, और ध्रौव्य युक्त होता है। उत्पाद का अर्थ है द्रव्य का एक पर्याय छोड कर अन्य पर्याय को ग्रहण करना। ध्यान रहे जब विगत का व्यय होगा, तभी आगत का उत्पाद होगा। उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य के त्रिकोण △ को भलीभॉति समझ लेने पर सम्पूर्ण लोक का मर्म समझ में आ जाता है।

जीव पुद्गल से संवद्ध होने के कारण 'स-बन्ध' है, इसीलिए वह नाना प्रकार की यातनाएँ भोग रहा है। यदि उसे इस रहस्य का पता चल जाए कि जीव और पुद्गल दो स्वतन्त्र अस्तित्व है, तो शरीर को आत्मरूप मानने का उसका भ्रम छिन्न-भिन्न हो सकता है। इस सारी व्यवस्था को सात तत्त्वो की सतुलित समीक्षा द्वारा समझा जा सकता हे। तत्त्व है- जीव, पुद्गल, आस्रव, वध, संवर, निर्जरा, मोक्ष।

जैन दर्शन तक अपनी निर्विघ्न पहुँच वनाने के लिए अनेकान्त-दृष्टि आवश्यक हे। यह जानना ज़रूरी है कि वस्तु वहुआयामी (मल्टीफेसेड) है। उसमे नाना गुण-धर्म है, जिनका युगपत् (एकसाथ) वर्णन सभव नहीं है।

'अनेकान्त' और स्याद्वाद' जुडवा शब्द है। इन दोनो का जैन चिन्तन-प्रक्रिया से गहन संवन्ध है। स्याद्वाद 'स्यात्' और 'वाद' इन दो शब्दो से वना है। ध्यान रहे 'स्यात' संदेह के अर्थ मे प्रयुक्त शब्द नहीं है, वल्कि किसी वस्तु को उसकी अधिकतम सम्पूर्णता मे जानने का एक अतिसमर्थ भाषिक उपाय है। 'स्यात' का अर्थ है जो कुछ कहा गया है, या कहा जा रहा है, वह अन्तिम नहीं है, कुछ और भी है जो अभी, या कभी भी कहा जाने को है। जो कहा नहीं जा सका है, वह नहीं है, ऐसा कैसे हो सकता है ?

इसी इकाई मे तुलनात्मक धर्मविद्या पर प्रकाश डाला गया है। हम तुलना करे, निन्दा न करे। हेयोपादेय विवेक पल-पल जगाये रखे । विवेक की आँख से वस्तु-स्वरूप को पहचाने। अपनी बात कहे। आग्रह, किन्तु किंचित् न रखे। तर्क दे, कुतर्क-के-कुचक्र से बचे। जहाँ तक सम्भव हो विवेक और विज्ञान को पग-पग पर समन्वित रखे। हम जोडे, तोडे नहीं। धर्म जोडने और जीने की कला है, वह तोडने या नष्ट करने का साधन नही है।

विज्ञान और धर्म या अध्यात्म परस्पर पूरक हैं। उनमे कोई टकराहट या अन्तर्विरोध नही है। जहाँ विज्ञान की भूमिका सपन्न होती है, वही तुरन्त बाद अध्यात्म की भूमिका शुरू हो जाती है।

हमने जैनधर्म और विज्ञान की समानताओ का सिन्धुमन्थन किया है। हमने देखा है कि दोनो *गतिशील है और दोनो की अन्धविश्वास और मिथ्याज्ञान से कोई संगति नही है।*

इकाई-२ मे हमने जैनदर्शन पर व्यापक/गहन दृष्टि से विचार किया है। ध्यान रहे जैनदर्शन अस्तित्ववादी दर्शन है। वह 'है' को खोजता-जानता है। वह 'स्वभाव' और 'विभाव' मे फर्क करता है, उन्हे तर्कसगत शैली मे अलगाता है। इस तरह वह सम्यक्त्व की गहराइयो मे अतल तक उतर जाता है। द्रव्य (गुणपर्ययवद्द्रव्यम्) की इबारत मे सब कुछ आ गया है। वस्तु अनेकान्तात्मक है, अत उसका स्वरूप-कथन स्याद्वाद-की-कथन-शैली मे ही सम्भव है। उसी से उसके व्यक्तित्व पर सही पकड़ बनती है।

जैनदर्शन का आध्यात्मिक महत्त्व तो है ही, समाज-रचना की दृष्टि से भी उसकी महत्ता कम नहीं है। वह व्यक्ति को गहरा, उन्मुक्त, सापेक्ष और तर्क-संगत बनाता है और उसे समाज की एक सुसस्कृत इकाई के रूप मे प्रवर्तित करता है।

अनेकान्त-दर्शन किसी भी वस्तु को उसकी समग्रता मे देखने-जानने का परामर्श देता है और स्याद्वाद उसकी उस समगता का निर्दोष-निर्विवाद कथन करता है। यही कारण है कि वह व्यक्ति की टकराहटो, कडवाहटो और मतभेदो को शान्त करता है तथा विश्वशान्ति और विश्वबन्धुत्व के लिए लचीली सम्भावनाएँ खडी करता है।

इकाई-३ मे हमने लोक-रचना पर विचार किया है। हमने कहा है कि जहाँ तक द्रव्य-व्यवस्था है लोक है, जहाँ नहीं है, अलोक है। द्रव्य छह है। सभी स्वाधीन है। इनकी चर्चा हम ऊपर कर आये है। परमाणु, प्रदेश और समय क्रमश पुद्गल आकाश और काल के अविभाज्य घटक है, जिन्हे जान कर हम जैनधर्म और जैनदर्शन की वैज्ञानिकता को [illegible] सकते है। लोक की तमाम हलचल उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य के त्रिभुज मे घटित है। इस त्रिभुज की सर्वांग समझ जरूरी है।

इकाई-४ में हमने कर्म-सिद्धान्त की चर्चा की है। हमने कहना है कि जीव मे पर-कर्तृत्व नहीं है। स्व-पर-विज्ञान को जानना आवश्यक है। 'स्व' क्या है, 'पर' है- जबतक हम इसे नही जानते, कर्म-सिद्धान्त का ककहरा नहीं समझ सकते। जीव ज्ञाता-दृष्टा है। वह स्वाधीन है। अन्य द्रव्य भी स्वाधीन है। ये एक-दूसरे पर निर्भर नही हैं। जीव-पुद्गल-संयोग मात्र भ्रम है। वास्तविकता नही है। जैन साधना इस वास्तविकता के अनुसधान का वैज्ञानिक/तर्कसंगत अनुष्ठान है। जीव-पुद्गल दोनो पृथक् और अत्यन्त स्वाधीन हैं। इन-दोनो-का-कैवल्य मुक्ति है। मुक्ति जैन साधना का चरम लक्ष्य है। यह इकाई द्रव्य,तत्त्व और पदार्थ के स्वरूप-समीक्षण पर केन्द्रित है। जैनाचार अहिसामूलक है। अहिसा उसकी पहली और अन्तिम कसौटी है। सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य क्रमश. अहिसा की ही अभिव्यक्तियॉहै। इनपॉचोका, श्रावक अंशत. औरश्रमण लगभग सर्वांशत. पालनकरता है

इकाई-५ में भारतीय, श्रमण, और जैन संस्कृतियो पर विचार हुआ है। भारतीय संस्कृति विषमताओ-में-एकता का अप्रतिम समन्वय है। श्रमण संस्कृति के उपादान है समता, स्वाधीनता और सहिष्णुता। इसमें पग-पग पर इन्ही पर जोर दिया गया है। जैनधर्म में इस चतुष्क पर बल दिया गया है-अहिंसा, अनेकान्त, अपरिग्रह और अलग्न भाव (भेद विज्ञान)। ये स्तम्भ है, जिन पर जैन संस्कृति का भव्य प्रासाद अपनी प्रखर मृत्युंजयता में अविचल खडा हुआ है।

जैन संस्कृति वैसे वैराग्यमूलक है; किन्तु उसमे कला-बोध को भी सर्वोपरि महत्त्व मिला है। कला प्रकट होती है कृत्रिमताओ की पूर्णाहुति मे, जैनाचार मे कृत्रिमताओ को स्वाहा करने का जो महायज्ञ प्रस्तावित है, वह अन्यत्र नही है। जैन साधना कृत्रिमताओ अर्थात् विभावो के विसर्जन का आध्यात्मिक उपाय है। यही कारण है कि उसमे-से स्वाभाविकता अँगड़ाई भरती है और सर्वत्र एक अद्वितीय सौदर्य छा जाता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है कि संसार मे शुद्धात्म भाव से बडा कोई कला-बोध नही है। यही कलाबोध या कलाचेतना जैन साधको द्वारा स्थापत्य-से-काव्य-तक-की-कलाओ-मे व्यक्त हुई है।

जैनो के इस कला-बोध ने मनुष्य-जीवन की उदात्तता को समृद्ध किया है और उसकी गुणवत्ता को बढाया है। जैन संस्कृति की दो विशेषताएँ है-१. जीवन की गुणवत्ता को समृद्ध करना (टू इम्प्रूव द क्वालिटी ऑफ लाईफ), २. जीवन के प्रति सम्मान का भाव जगाना (अवेयरनेस टुवर्ड्स रेवरेन्स ऑफ लाइफ)।

इकाई-६ सामाजिक विकास और कला-की-अवधारणा पर विस्तार से विचार किया

गया है। जैन साहित्य और उससे सबन्धित भाषाओ की भारतीय वाड्मय के विकास मे वृहत और उल्लेखनीय भूमिका रही है। राष्ट्रभाषा हिन्दी के विकास के शौरसेनी प्राकृत और शौरसेनी अपभ्रंश के अवदान को हिन्दी साहित्य कभी विस्मृत नहीं कर पायेगा। इन दोनो भाषाओ मे जो विपुल जैन साहित्य भरा पडा है, उससे भारतीय भाषाओ मे जैन साहित्य के अवदान का पता लगता है।

इकाई-७ मे हमने जैन योग और ध्यान पर विचार किया है। अब तक यह माना जाता है कि जैनधर्म मे योग और ध्यान की कोई स्पष्ट भूमिका नही है। इस इकाई मे हमने इधर के दो-तीन दशको मे जैन योग और ध्यान पर जो सामग्री सामने आयी है और ध्यान की जिन पद्धतियो से समाज प्रभावित हुआ है, उन पर व्यापक प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है। ध्यान की तीन पद्धतियाँ क्षितिज पर आयी है - विपश्यना, प्रेक्षा और समीक्षण। हमने इन तीनो के स्वरूप, उद्भव और विकास की सक्षिप्त चर्चा की है।

इकाई-८ मे जैन समाज के विस्तार पर विचार किया गया है। प्राप्त आँकडो तथा तथ्यो के आधार पर जैन समाज की बनावट पर समीचीन प्रकाश डाला गया है। जैन समाज की रचना मे दो प्रधान दृष्टियाँ है-समता और स्वाधीनता। दोनो ही लोकतन्त्र की आधारभूत चेतनाएँ है। समता व्यक्ति की, समता समूह की-जैन समाज के हर स्तर पर महत्त्वपूर्ण बनी रही है। स्वाधीनता का तत्त्व दार्शनिक, धार्मिक और सामाजिक तीनो धरातलो पर सक्रिय रहा है। वस्तु-स्वातन्त्र्य अथवा आत्मस्वातन्त्र्य के तत्त्व ने जैन समाज को जहाँ एक ओर शक्तिशाली बनाये रखा है, वहीं उसने उसे अस्तित्व-के-कडे-से-कडे सघर्ष मे भी सुरक्षित बने रहने की शक्ति प्रदान की है। यही कारण है कि जैनो ने इस देश को पराधीनता से जूझने मे अपना अद्वितीय योग दिया है। आज भी भारत को भारत बनाये रखने मे जैनो ने जो भूमिका निभायी है, अन्य जन उसे उतनी प्रखरता से नहीं निभा सके है।

नैतिक दृष्टि से जैनो की जीवन-शैली प्राकृतिक, सद्गुण-युक्त, व्यसन-रहित अहिंसक और हस्तक्षेप-मुक्त रही है। जिसे धर्मनिरपेक्षता कहा जाता है, जैन समाज ने उसे लगभग शत-प्रतिशत निभाया है। यद्यपि इधर के दशको मे जैनो की प्रामाणिकता, ईमानदारी, विश्वसनीयता कम हुई है तथापि सापेक्ष दृष्टि से उनकी गुणवत्ता अभी भी उल्लेख्य है।

जैन समाज न्यूनाधिक पूरे विश्व मे बिखरा है और उसकी राष्ट्रीय अन्तर्राष्ट्रीय [illegible] [illegible] देन है। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] जैन समाज के योगदान को [illegible] जाना सम्भव नहीं है।

जैनधर्म में विश्वधर्म की संभावनाएँ

कहा जा सकता है कि जैनधर्म मे विश्वधर्म की वे सारी संभावनाएँ है, जो विश्व को युद्ध से अयुद्ध, अशान्ति से शान्ति, हिंसा से अहिंसा और असंतोष से संतोष की ओर ले जा सकती है। संक्षेप में हम इन संभावनाओ को इस तरह सामने रख सकते है :

१. आज भी देश में रूढियो और अन्धविश्वासो का बोलबाला है। यदि हम चाहे तो अन्धविश्वासोको चुनौती दे सकते है और देशमे सम्यक्त्व केलिए अवकाश बना सकते है।

२. देश मे, विदेश में चारो ओर खानपान बिगड़ गया है; पूरी तरह असतुलित और हिसामूलक हो गया है। जैन समाज यदि चाहे तो अहिसा का लोकोपयोगी सस्करण प्रस्तुत कर सकता है और खानपान के क्षेत्र मे शाकाहार की उपयोगिता को प्रवर्तित कर सकता है।

३. चारो और व्यसनों का फैलाव है। यदि व्यसन-मुक्ति के लिए कोई तर्कसगत अभियान छेड़ा जाए तो पूरे विश्व को स्पष्ट दिशा दी जा सकती है।

४. क्रूरताओ के आधुनिकीकरण के लिए पश्चिम और पूर्व के प्रायः सभी देश नये-नये उपकरण और उपाय, तकनीके और संसाधन जुटा रहे है। पर्यावरण (ईकोसिस्टम) पूरी तरह खतरे मे है, ऐसी विषम स्थिति मे यदि हम चाहे तो अहिसा और करुणा के माध्यम से पूरी दुनिया मे नव्यमानवता का सूर्योदय ला सकते है। इस सबके लिए, असल मे, पुरुषार्थ और त्याग की जरूरत है। आज देश मे क़त्लखाने जिस तेजी से और जितनी बडी संख्या मे स्थापित किये जा रहे है, उससे अहिंसा-की-शक्तियाँ क्षीण हो गयी है। जैनो को चाहिये कि वे इन शक्तियो का नेतृत्त्व करे और पूरे विश्व मे करुणा-के-साम्राज्य के लिए पहल करे। उन्हे वधशाला-मुक्त विश्व के लिए भरपूर प्रयत्न करना चाहिये।

५. धर्म को ले कर आज जो अनास्था और असतोष, क्षोभ और अज्ञानता है, जैन समाज को चाहिये कि वह धर्म की वैज्ञानिकता को सामने लाये और प्रवर्तित करे कि इस समय युद्ध-मे-क्षुब्ध विश्व के लिए धर्म ही एकमात्र संवल/शरण है।

६. अपरिग्रह को सामाजिक साम्य का आधार बना कर हम शोषण-मुक्त समाज-रचना के भगवान् आदिनाथ और भगवान् महावीर के स्वप्न को पूरा कर सकते है। समत्व और स्वाधीनता जैनधर्म के मुख्य प्रतिपाद्य है, अत यदि हम चाहें तो इन दोनो को प्रवर्तित कर पूरे विश्व को एक नयी दृष्टि प्रदान कर सकते है।

७ राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय जीवन मे असहनशीलता की जो आग धधक रही है, यदि जैन समाज चाहे तो अनेकान्तवाद/स्याद्वाद के व्यापक/सहज प्रचार-प्रसार से उसे सहिष्णुता के गंगाजल मे परिवर्तित कर सकता है।

(जैन विद्या पत्राचार पाठ्यक्रम . इकाई-१) △

डॉ. नेमीचन्द जैन

जन्म वड़नगर (जिला उज्जैन, मध्यप्रदेश), ३ दिसम्वर १९२७।

शिक्षण इन्दोर मे उच्च शिक्षा-प्राप्ति के अन्तर्गत साहित्यरत्न (१९४८), एम ए (हिन्दी, १९५२), एम ए (अर्थशास्त्र, १९५३), विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन से 'भीली का भाषा-शास्त्रीय अध्ययन' शोध-प्रवन्ध पर पी-एच डी की उपाधि (१९६२)।

भाषा-ज्ञान · सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, गुजराती, मराठी, वाग्ला, डिगल, भीली, अग्रेजी।

अध्यापन सन् १९५२ से ८७ की अवधि मे मध्यप्रदेश के इन्दौर, गुना, वड़वानी, नीमच, [illegible] और देवास नगरो मे सर्वप्रथम इन्दोर क्रिश्चियन कॉलेज मे, तत्पश्चात् शासकीय महाविद्यालयो म हिन्दी के प्राध्यापक और विभागाध्यक्ष।

सस्थागत प्रवृत्तियाँ . स्व माँ श्रीमती हीरावाई ओर पिता श्री भैयालालजी जैन की पावन स्मृति मे श्रद्धाजलि-स्वरूप सन् १९६२ मे स्थापित हीरा भैया प्रकाशन, इन्दोर के सस्थापक/अध्यक्ष, प्रकाशन के अन्तर्गत विविध विषयो की लगभग ८० पुस्तिका-पुस्तको का सपादन / प्रकाशन । प्रकाशन की पुस्तको को अन्तर्राष्ट्रीय मानक पुस्तक-सख्या के अन्तर्गत लाने का श्रेय।

- हीरा भैया जैन विद्या पत्राचार पाठ्यक्रम सस्थान, इन्दौर (१९९०) के सस्थापक/निदेशक, [illegible] पाठ्यक्रम की ९ इकाइयो के ५६ पाठो का आलेखन।

- शाकाहार के प्रचार-प्रसार हेतु सन् १९८६ मे स्थापित तीर्थंकर शाकाहार प्रकोष्ठ के सचालक, [illegible] शाकाहार-विज्ञान चेतना-परिषद् इन्दौर (१९९४) के सयोजक।

'[illegible] दिन एक अच्छा काम' क्लव, इन्दौर (१९९६) के सस्थापक।

- जैन दर्शन, साहित्य, सस्कृति, पत्रकारिता से सवन्धित अखिल भारतीय सगोष्ठियो/ [illegible] के सहयोगी। अ भा तृतीय जैनविद्या विचार-सगोष्ठी, इन्दौर -१९९६ के सयोजक।

सपादन · तीर्थंकर (सद्विचार की वर्णमाला मे सदाचार का प्रवंतन-विचार (मासिक) मई [illegible] से नियमित/निरतर, इसके ५० वहुचर्चित विशेषाको (अक-विशेष सहित) का [illegible]। तीर्थंकर (अग्रेजी) मासिक, त्रैमासिक १९७७-८८। - शाकाहार-क्रान्ति (आहार-क्रान्ति [illegible] अहिंसक जीवन-शैली का [illegible] मासिक), मई १९८७ से नियमित/निरतर। [illegible] (जैन अध्यात्म का त्रैमासिक) जुलाई ८८ से जून ८९।

मौलिक कृतियाँ विविध विषयो से सवन्धित ५० पुस्तके, रचना-काल का आरभ [illegible]।

जैन विद्या पत्राचार पाठ्यक्रम

यह जैनधर्म/दर्शन/समाज/साहित्य/सस्कृति की मौलिकताओ का समकालीन वैज्ञानिक और तकनीकी सदर्भो में तुलनात्मक अध्ययन है।

इस पाठ्यक्रम मे नौ इकाइयॉ है। पहली इकाई में जहॉ एक ओर जैनधर्म के बुनियादी सिद्धान्तो का परिचय तथा उनका तुलनात्मक अध्ययन किया गया है, वही दूसरी ओर इकाई-२ मे जैनधर्म की विकास-कथा प्रस्तुत की गयी है। इकाई-३ में सृष्टि-रचना के स्वरूप पर विचार किया गया है। इकाई-४ के अन्तर्गत कर्म-सिद्धान्त की विज्ञान और गणित की दृष्टि से समीक्षा की गयी है। इकाई-५ के अन्तर्गत आचार-शास्त्र को सयोजित किया गया है। प्रयत्न किया गया है कि इस इकाई के माध्यम से अध्ययनार्थी को साधुओ और गृहस्थो के आचार-धर्म का विस्तृत/आगमोक्त परिचय दिया जाए और यह बताया जाए कि आज के आचार-शास्त्र से उसका कितना तालमेल सभव है। इकाई-६ मे भारतीय साहित्य और सस्कृति तथा जैन साहित्य और सस्कृति का तुलनात्मक अध्ययन सामने रखा गया है। इकाई-७ मे ध्यान-पद्धति और योग, जो इन दिनो हमारे युग के विशिष्ट प्रयोग-क्षेत्र बने हुए है, पर विचार किया गया है। इकाई-८ मे जैन समाज की बनावट (बुनावट भी) और उसके व्यावसायिक वैविध्य पर विचार किया गया है। उन सभावनाओ को भी इस इकाई मे कलम की नोक के नीचे लिया गया है जो हमारे जमाने मे बढती हुई हिसा, अनुशासनहीनता इत्यादि की प्रतिफल है। इकाई-९ के अन्तर्गत जैनधर्म मे विश्वधर्म की सभावनाओ की छानबीन की गयी है।

सपूर्ण पाठ्यक्रम का आलेखन **डॉ. नेमीचन्द जैन** ने किया है। स्वाध्याय हेतु यह सजिल्द रूप में उपलब्ध है। मूल्य है **रु. २००.०० (दो सौ रुपये)**। अग्रिम मूल्य मनीऑर्डर अथवा वैक ड्राफ्ट **'हीरा भैया प्रकाशन'** के नाम से भेजे।

ॐ

स्वाध्याय
तीर्थंकर-चिह्न
जैन पद-साहित्य
श्रावकाचार
पण्डित-परम्परा
पर्युषण
जैन जैविकी
जैन भौतिकी
जैन जतर-मतर
आहार विज्ञान

चयनिका

वर्द्धमान महावीर
वीर-निर्वाण-चयनिका
गोम्मटेश्वर/
महामस्तकाभिषेक
श्री महावीर तीर्थ
मुनिश्री विद्यानन्दजी
श्रीमद् राजेन्द्रसूरीश्वर
मुनिश्री चौथमल जन्म-शताब्दी
साध्वीश्री विचक्षणजी
आचार्य श्रीविद्यासागरजी
आचार्य/साधुमार्ग
जैन पत्र-पत्रिकाएं
जैन जन-जागरण
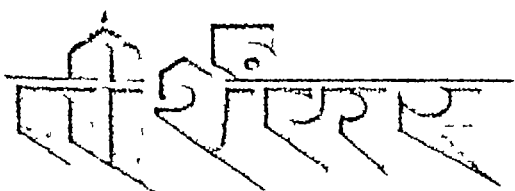
विशेषांकों के ये संपादकीय

गुरुचाबी (मास्टर की) है संदर्भित विषयो को समझने/समझाने के लिए ○ आत्मकथा/विकास-कथा है सबन्धित विशेषाको की ○ पारदर्शी/दूरदर्शी है ○ अन्तरावलोकन है ○ सश्लेषणात्मक/समन्वयात्मक है ○ आमुख/प्रवक्ता हैं ○ मौलिक/मार्मिक हैं ○ सुदीर्घ चितन के परिणाम/सुफल है ○ खिलाने-खोलने वाले है संबद्ध विशेषांको को ○ सुवाच्य/सुपठनीय है एकता/एकाग्रता है विशेषांको की विविधता मे ○ गागर मे समाये हुए है विशेषाको के सागर मे-बिन्दु मे सिन्धु की तरह ○ श्रृंखला की कडियो को जोडने वाले है ○ अर्थ/भाव से ओतप्रोत हैं ○ शिखर हैं विशेषाको के मन्दिर के ○ विशेषता/विशिष्टता लिये हुए है ○ दिशाबोधक/दिशादर्शक है।

कुल मिलाकर विगत २५ वर्षों मे प्रकाशित 'तीर्थंकर' के ५० विशेषांक (अक-विशेष सहित) के ये संपादकीय जैन धर्म/दर्शन/संस्कृति/समाज/साहित्य की स्वस्थ/समन्वित चिन्तनधारा की संप्रदायातीत उज्ज्वलता को अग्रसर होने के लिए पुनीत-विनीत आलेख है। आत्मोन्नयन के लिए 'नयन' है। वैज्ञानिकता/आधुनिकता के परिप्रेक्ष्य/सदर्भ मे श्रमण सस्कृति के शाश्वत मूल्यो को प्रतिपादित करते है। सक्षेप मे, ये सपादकीय विशेषाको की गभीरता/व्यापकता को रेखांकित करते हुए संपूर्णता/समग्रता को उजागर करने वाले है। विशेषाको की अक्षय/अखूट निधि-संपादकीय लेखो के सान्निध्य मे स्वाध्याय-मूलक बन कर जीवन-पाथेय के रूप मे सार्थक हो सकती है।

प्रस्तुत चयनिका मे विशेपाको के संपादकीय लेखो के जिन अश का समावेश नही किया जा सका है, उन्हे चयनिका (तीर्थंकर-सपादकीय) मे पढा/समझा जा सकता है। दोनो परस्पर पूरक है-वहाँ उन्हे व्यापक/सपूर्ण परिपेक्ष्य मे एक साथ सम्मिलित किया गया है।

-प्रेमचन्द जैन

चयनिका (डॉ नेमीचन्द जैन संपादित 'तीर्थकर' के पचास विशेपाको (अक-विशेप-सहित) संपादकीय लेखो मे-से चयनित अश), चयनकर्ता - **प्रेमचन्द जैन** © हीरा भैया प्रकाशन; प्रकाशन हीरा भैया प्रकाशन, ६५, पत्रकार कॉलोनी, कनाड़िया मार्ग इन्दौर-४५२००१, (म प्र) मुद्रण नई दुनिया प्रिन्टरी, बाबू लाभचन्द छजलानी मार्ग, इन्दौर-४५२००९ (म प्र), टाईप सेटिंग प्रतीति टाईपोग्राफिक्स, इन्दौर ४५२००१ (म प्र), प्रथम संस्करण १६ जनवरी १९९७; मूल्य दस रुपये।

च य नि का

स्वाध्याय · सबका विशेषाधिकार

कुछ लोग स्वाध्याय को एक धार्मिक कर्तव्य मान कर उसकी उपेक्षा कर जाते है, किन्तु यह उनकी भूल है। स्वाध्याय धार्मिक कर्तव्य हो, न हो, किन्तु यह एक मानवीय कर्तव्य अवश्य है। इस तथ्य को पहचानना चाहिये। यह आवश्यक नही है कि दुनिया के सारे लोग विश्वविद्यालयो के स्नातक बने, और किसी एक साँचे में ढल कर अपनी जागतिक भूमिका में आए, स्वाध्याय से भी सक्रिय जीवन के लिए आवश्यक स्फूर्ति और साहस जुटाया जा सकता है। जो काम कई बार बडी-बडी यूनिवर्सिटियाँ नही कर पाती, वह काम स्वाध्याय-की-कुटिया मे बड़े सहज भाव मे संपन्न हो जाता है। आज की तालीम मे विद्यार्थी पर जो दबाव है, जो बोझ-वजन है, स्वाध्याय मे इस तरह की कोई लाचारी या भार नहीं है। यहाँ का सारा काम अन्तःकरण की प्रेरणा से होता है। भीतर से एक उमग, एक तरग उठती है और जीवन की हर दिशा मे समा जाती है। उसे हम न धार्मिक कह सकते है, न साम्प्रदायिक और न औपचारिक। स्वाध्याय को इन सबसे परे उसकी स्वाभाविकता मे देखा चाहिये। वह किसी का विशेषाधिकार नहीं है और सबका विशेषाधिकार है। सूरज है, और फिर स्वाध्याय के क्षितिज पर उदित सूरज को-संकीर्णता की हथेली से ढाँकना सम्भव नहीं है। उसकी कोमल किरणे इस या उस मार्ग से स्वाध्यायी को उसके गन्तव्य तक अवश्य पहुँचा देती है।

('स्वाध्याय के साथ/के बाद', स्वाध्याय, अगस्त, १९७१) Δ

अनेकान्त/स्याद्वाद का प्रसार वैचारिक असहिष्णुता/संकीर्णता पर

हमारा विश्वास है कि अनेकान्त/स्याद्वाद की यह चिन्तन-प्रणाली इतने महत्त्व की है कि इससे सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक, धार्मिक और नामालूम कितने विवादो का समाधान हो सकता है। विरोधो के शमन मे तो इस प्रणाली का उदय ही हुआ है। 'स्याद्वाद', असल मे, एक ऐसा बिन्दु है, जहाँ से सत्य को इधर के, उधर के दोनो ही तटो पर देखा और पाया जा सकता है। ('हथेली की आँख', महावीर-जयन्ती, मार्च,'७२) △

अनेकान्त है गुलदस्ता

अनेकान्त और गुलदस्ते मे कोई फर्क नही है। दोनो वैविध्य को मानते है, और उसे एक ही बन्धन मे समेटने की क्षमता रखते है। जिस तरह एक गुलदस्ता कई महकीले-सुरभीले रगो और आकृतियो के फूलो को एक साथ लेकर अपने व्यक्तित्व की रचना करने मे समर्थ है, ठीक वैसे ही अनैकान्तिनी प्रतिभा कई परस्पर-विरोधी शक्तियो और दृष्टिकोणो का समायोजन है।

विश्वधर्म की आधार-भूमि

जब हम दुराग्रह से विरक्त हो जाते है और अपनी स्वाभाविक ऊर्जा मे श्वास लेने लगते है तो जो धर्म करवट लेकर सामने आता है, वही विश्वधर्म है। विश्वधर्म कोई सम्मिश्रण नही है, वह समझौता भी नही है। वह 'कुछ इससे, और कुछ उससे' की परिणति भी नहीं है; वस्तुत वह आत्मा की निर्मल अवस्था का ही उद्रेक है। यदि आप स्वभाव मे आ जाएँ तो ऐसी स्थिति मे आत्मा का जो विकिरण (रेडिएशन) होगा वही विश्वधर्म की आधार-भूमियाँ तैयार करेगा।

विश्वधर्म भारतीय परम्परा मे सदियो से आकार ग्रहण कर रहे विश्व-कल्याण का नव्यतम संस्करण है। तीर्थंकरो ने जिन तथ्यो को प्राणिमात्र की हितकामना से, जो उनके आत्म-कल्याण की ऊर्जा का एक भाग थी, विश्वधर्म उसी का रूपान्तर है।

विश्वधर्म महावीर का प्राणतन्त्र

यदि हम थोडा प्रयास करे तो पायेगे कि यह विश्वधर्म महावीर का प्राणतन्त्र ही है। महावीर ने तीर्थंकरो की परम्परा पर चलकर प्राण-मात्र का सम्मान करने की बात कही थी, वे जनतन्त्र नही, प्राणतन्त्र के प्रतिपादक थे। उस प्राणतन्त्र के, जिसकी नीव मे करुणा अपनी संपूर्ण प्रखरता के साथ धडक रही है। भगवान् महावीर का प्राणतन्त्र विश्वधर्म के रूप मे अमर है, अनन्त है।

मुनिश्री का जीवन : एक सम्मोहक गुलदस्ता

मुनिश्री विद्यानन्दजी द्वारा उद्घोषित विश्वधर्म नया नही है, शाश्वत है। उनकी ममता

[illegible] नये आयाम पर आकर विश्ववात्सल्य मे आकृत हुई है। उनकी वैचारिक सहिष्णुता अद्वितीय है। वे रूढ़ या परम्परावादी नही है, स्वाभाविक है और हर आदमी को स्वाभाविक होने की सलाह देते है। स्वभाव ही धर्म है। इस वाक्य को मुनिश्री के जीवन मे चरितार्थ देखा जा सकता है। वे गुल नही है, एक सम्मोहक गुलदस्ते है, रगबिरगे फूलो का स्तवक। ('सालगिरह एक गुलदस्ते की', मुनिश्री विद्यानन्दजी, अप्रैल, '७४)

वर्द्धमानता का उद्घोष

वर्द्धमान का अर्थ है विकास की ओर वेग से, अड़चनो से हारे-डरे बिना अनथक कदम उठाते जाना। वर्द्धमानता बाधाओ और असुविधाओ की सत्ता के अस्वीकार का नाम है। अंग्रेजी मे इसके लिए 'डायनेमिक' शब्द है, जिनके माने है विकासोन्मुख, गतिमान। पाँव बढ़ता ही जाए जिसका और उसके सम्पर्को का वह है वर्द्धमान। वर्द्धमान ने अपने युग मे मोहग्रस्त मनुज को एक बीजमन्त्र दिया 'तुम स्वय अपने भाग्य के विधाता हो, कोई बाहरी सत्ता तुम्हारी शक्तियो की नियामक नही है।' इससे आदमी को अपना भान हुआ उसकी मूर्छा टूटी और वह विकास की ओर कदम उठाने लगा। उसे वर्द्धमानता के उद्घोष मे एक उज्ज्वल और स्वस्थ भविष्य दिखायी दिया।

क्रान्ति के लिए नयी जमीन

वर्द्धमान ने बहुत साफ-साफ कहा 'विश्व मे दो सत्ताएँ है, एक जड एक चेतन, एक आत्म, एक अनात्म। आत्मा मे अपरम्पार शक्ति है, जो अनात्म से अनावृत होने पर ही प्रकट होती है। इसलिए जब ये दोनो अलग-अलग है, तो इन्हे अलग-अलग क्यो न देखा जाए?' यह एक विवेक पर खड़ी क्रान्ति थी, जिसने धर्म के क्षेत्र मे तो कायापलट किया ही, नीति, संस्कृति शिक्षा धर्म राजनीति-सभी क्षेत्रो मे क्रान्ति के लिए एक नया [illegible] तैयार की। सब ओर लोग स्वतन्त्र चिन्तन की ओर मुड़े। मनुष्य स्वतन्त्र हुआ और उसकी [illegible] अन्य प्रवृत्तियो को भी एक नया आयाम मिला। [illegible]

[illegible]ता की साधना

महापुरुष का मूल्यांकन

जब भी हम किसी महापुरुष का मूल्याकन करते है. हमारे सम्मुख उसके जीवन व
और उसकी समकालीन घटनाएँ होती है। उसने अपने युग के साथ क्या सलूक किया, उ
कितना सहा, कितना मोडा, कितना पहचाना-इसका लेखा-जोखा ही उसके व्यक्तित्व
प्रकट करता है। उसके युग की समस्याओ और उन समस्याओ का उसके वैयक्तिक क्षमताओ
कितना सामरस्य था और कितना नही, इसका प्रभाव भी मूल्यांकन पर पडता है।

साध्य-साधन-शुचिता

'साध्य-साधन-शुचिता' जैनधर्म का एक महत्त्वपूर्ण सार है। जैनधर्म के अनु
अन्तिम लक्ष्य मोक्ष भले ही हो, किन्तु उस तक की यात्रा की जो प्रक्रिया है उसकी पाव
और परिपूर्णता के विना, क्या कुछ हो सकता है, यह निश्चय ही चिन्ता का विषय है, क्यो
यदि साधना शुद्ध है, तो साध्य शुद्ध होगा और यदि साधन अशुद्ध है और हमारा लक्ष्य कि
उत्तम ध्यये को प्राप्त करने का है तो यह असभव ही होगा कि हम उसे प्राप्त कर पाये। अ
साधनो से शुद्ध साध्य की प्राप्ति असंभव है यदि साधन शुद्ध है, उनकी शुद्धता का श
प्रतिशत निर्वाह हुआ है, तो हमारे प्रयत्न करने पर भी लक्ष्य अशुद्ध नही हो सकता।

श्रमण संस्कृति का अप्रतिम व्यक्तित्व

भारतीय संस्कृति का सबसे बडा गुण है समन्वय। उसने अब तक विश्व-संस्कृति
जितनी विविधताएँ को पचाया और आत्मसात् किया है, ससार की ऐसी और कोई संस
नही है जो इस तरह विषपायी और अमृतवर्षी हो। उसने जहर पिया, अमृत बॉटा, यही उ
मृत्युजयी होने का एक बहुत बडा कारण भी है। अधकार के बीच से गुजर कर प्र
देना भारतीय संस्कृति/श्रमण संस्कृति का अप्रतिम व्यक्तित्व है।

अपने दीये से रोशनी लें

दुर्भाग्य है कि हम अपने दीये से प्राय रोशनी नही लेते। दूसरो के दीये से, जो अ
बुझे हुए ही होते है, रोशनी लेने का यत्न करते है। क्या हम अपने घर के दीयो
पहिचानने का फिर एक प्रयास करेंगे ? क्योकि आज हम फिर एक ऐसे मोड पर आ खडे
है जहॉ अंधेरा है, अनिश्चय है, और असंख्य संदेह है।

उज्ज्वल/जीवन्त प्रतीक

श्रमण सस्कृति के उज्ज्वल और जीवन्त प्रतीक के रूप मे राजेन्द्रसूरिजी ने विश्व-
संस्कृति को जो दिया है, वह अविस्मरणीय है। 'अभिधान राजेन्द्र' उनकी विश्व-
संस्कृति को इतनी बडी देन है कि उसे कभी भुलाया नही जा सकेगा। सूरिजी का समग्र

...और उसका जीवन्त प्रतिनिधि 'अभिधान राजेन्द्र' विश्व-संस्कृति का अविस्मरणीय ...है। ('जिनगुरु राजेन्द्रसूरि' , श्रीमद्विजययतीन्द्रसूरीश्वर, जून-जुलाई, '७५) △

...का संदेश

...स्मरण करें कि आज से कई शताब्दी पूर्व भगवान् महावीर ने गौतम के कहा था ... एक पल भी प्रमाद न करे और अपने उठे हुए कदम को न रोके। उनका यह परामर्श ...पर आकर यदि रुक जाता है तो यह हमारी बदकिस्मती है। भगवान् महावीर ने कभी ...व्यक्ति से कुछ नहीं कहा, जो कहा अपनी समकालीन पीढी के माध्यम से आने ...पीढ़ियों से भी कहा।

...का अभाव

...में विद्वानों/पण्डितों का लगातार जाना समाज के लिए और जैनविद्या के लिए ...बड़ी चिन्ता का विषय है। हमारे पास ग्रन्थ है, किन्तु ये सब उस समय व्यर्थ हो ...जब हमारे पास कोई अधिकारी विद्वान् नही होगा। हथियार जरूरी है/किन्तु उसके ...में साथ उसका सही और दक्ष उपयोक्ता भी उतना ही जरूरी है।

...निक भाषा/शैली

...जैनदर्शन के प्रचार-प्रसार मे जिन औजारो, उपकरणो और साधनो का उपयोग हम ...आ रहे हैं उनमे भी परिवर्तन होना चाहिये। प्रचार का सबसे पहला औजार भाषा है। ...परिवर्तन करना होगा, अब हम संस्कृत, प्राकृत, अर्द्धमागधी के श्लोको और गाथाओ ...लोगों को धर्म और दर्शन के क्षेत्र मे प्रभावित नही कर पायेंगे। श्रावको से लेकर ...तक सबको बदली हुई भाषा-भंगिमा का उपयोग करना चाहिये। अपने मूल मे ...दर्शन जितना आधुनिक है, उतना आधुनिक भाषा का तेवर स्वीकार करने मे हमे कोई ...नहीं होना चाहिये। देखा गया है कि तत्काल खोजी गयी लोकप्रियता मरणशील ...है या दुर्बल ...भी होती है। इसलिए धर्म के मामलो मे लोकप्रियता की ...का ध्यान रखना चाहिये।

शक्ति का उदय स्याद्वाद से ही संभव है। विरोध से विकल हुए बिना हम उसके साथ सम्पूर्ण मित्रता मे जीना सीखे, जैनधर्म का असली प्रतिपादन और निचोड यही है। सहअस्तित्व का मूल अर्थ है 'तुम भी रहो, हम भी रहते है, तुम भी सहो, हम भी सहते है; तुम भी जियो, हम भी जीते है।'

यदि गौर से देखे तो हमें पता लगेगा कि भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित पाँच महाव्रत सहअस्तित्व के ही पॉच आयाम है। अहिसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य सहअस्तित्व के विभिन्न कोणो को अलग-अलग पटल पर, अलग-अलग सदर्भो मे प्रकट करते है। सहअस्तित्व के सम्पूर्ण विज्ञान मे पॉच महा और अणुव्रतो मे बॉट दिया गया है। आचार मे महाव्रत या अणुव्रत सहअस्तित्व को आकृति देते है और चिन्तन मे अनेकान्त और स्याद्वाद। इस तरह सहअस्तित्व का सम्पूर्ण दर्शन जैन आचार-विचार मे प्रकट होता है। हम कहेगे कि जैनधर्म को यदि अन्य कोई नाम देना हो तो वह 'सहअस्तित्व-धर्म' ही हो सकता है। ('और अब (२)', वीर-निर्वाण, अक्टू -नव , '७५) △

जैन साधक की तीन श्रेणियाँ . श्रावक, श्रावकोत्तर, श्रमण

अब वह क्षण आ उपस्थित हुआ है जब हमे श्रावक और श्रमण के बीच की कोई कडी ढूँढ निकालनी चाहिये। इस कडी को नयी सामाजिकता के साथ जोडने के लिए जो भी संभव उपाय हो, करने चाहिये। इसे हम 'अर्द्धश्रमण' जैसी किसी स्थिति का रूप दे सकते है, जो श्रावक से ऊँची किस्म की स्थिति होगी, किन्तु परम्परित श्रमण से बाह्य दृष्टि मे कुछ बदली हुई। यह स्थिति भीतर से श्रेष्ठतम होगी, किन्तु इसका बाह्य बदले हुए सदर्भो मे समायोजित होगा। इस कोटि को एक श्रमण का आदर-सम्मान मिलेगा, और श्रावकवर्ग उसे उतना ही पूज्य मानेगा। जैसे नागरी वर्णमाला मे 'य्' और 'व्' है, ठीक उसी तरह की कोई श्रेणी यह होगी। इसका एक कारण है, आज जो भी साधु-मुनि मौजूद है वे एक उत्कृष्ट श्रावक की भूमिका मे ही है, श्रावक का स्वरूप ढह गया है, मुनि का स्वरूप, यदि हम बदले नही तो, आपोआप ढह जाएगा। इसलिए श्रावक, श्रावकोत्तर और श्रमण ऐसी तीन श्रेणियॉ जैन साधक की नये सिरे से परिभाषित होनी चाहिये। जैन श्रावकाचार और श्रमणाचार सदैव विकासोन्मुख रहे है, हमारे पास कोई सुवृत नही है। उसमे बदलाव आया है, किन्तु उस बदलाव को हम परिभाषित नही कर पाये है। आज वह क्षण है जब हमे अपने आचारशास्त्र को मूल मे जुडा रखकर पुन परिभाषित करना है।

('निर्माण नये सिरे से (१)', वीर-निर्वाण-चयनिका, दिसम्बर '७६) △

जैन पत्र-पत्रिकाएँ और पत्रकार आधुनिकता से जुडें

जैन पत्र-पत्रिकाओं की विकास-कथा मे गुजरते हुए कई तथ्य प्रकट हुए है, जिनमे-से

बिना निरर्थक है। सब जानते हैं अंधे को चश्मा लगाने से कोई लाभ नही है, लाभ असल मे तब है जब हम यह जानते हो कि वहाँ कोई सभावना है जो रोशनी पर से शनै -शनै पर्दा हटा सकती है। वस्तुत सभावना को खोजे बिना काम करते जाने मे कोई तुक नही है। चट्टान पर खेती वे ही लोग करते है, जो कृषि के मूलभूत सिद्धान्तो से अपरिचित हैं।

आत्म-संगीत

जैनदर्शन मूलत पृथक्करण का शास्त्र है, विश्लेषणपरक दर्शन है। वह प्रयोगनिष्ठ धर्म है। काया है, माना, किन्तु वह क्या है, क्यो है, किसलिए है, उसकी क्या सीमा-मर्यादाएँ है, इत्यादि को भी रेशे-रेशे जान लेना जरूरी है। योगशास्त्र तो काया के अध्ययन-अनुसंधान से ही शुरू होता है। जब तक काया-वीणा के तार नही कसे जाते, जब तक उसकी नस-नस/रग-रग की सहानुभूति का वजन झेलने के उपयुक्त नहीं बना लिया जाता, तब तक हम किसी आत्म-सगीत के निनाद की प्रतीक्षा कर ही कैसे सकते है ?

भेद-विज्ञान

काया को हर बार अन्तिम मान लेने के कारण ही हम उसके आगे नही निकल पाते, मूलत जैनधर्म काया और अ-काया पृथक्करण का विज्ञान है, भेद-विज्ञान।

मृत्युजयी

साध्वी विचक्षणजी ने काया को गहरे पैठ कर समझा, उसकी हैसियत और सीमाओ को पहिचाना था। ये शब्द जो उन्होंने कभी कहे थे आज भी आकाश मे पूरी रवानी के साथ गूँज रहे है- 'मै शरीर नहीं हूँ, शरीर मे 'मै' हूँ।' इस 'मै' को और 'काया' को अलग कर देखना, देखने लगना, जैनदर्शन के द्वार खटखटाना है। पृथक्करण की यह कला जिसके हाथ आ गयी, वह एक क्षणांश से भी कम समय मे मृत्युजयी हो जाता है। साध्वी विचक्षणश्री की जीवन-कथा का साराश इससे अधिक नही है।

('साधो, सहजै काया सोधो', साध्वीश्री विचक्षणश्री, फरवरी-मार्च, '७८) △

पण्डित-वर्ग अपने पुरुषार्थ से आगामी पीढ़ी का मार्गदर्शन करें

कहा जाएगा कि यदि शिक्षक आपाधाती की रेखा से ऊपर नही उठा, या समाज ने उसे ऊपर नहीं उठाया तो वक्त हमारे हाथ से निकल जाएगा और हालात बदतर हो जाएँगे, एक पल आयेगा जब हम मात्र दयनीय दर्शक होगे उस ध्वस के जो हमारी भूलो का मलवा होगा, यानी फिर पण्डित भी नहीं मिलेगे और क्रान्ति की सारी सभावनाएँ भी समाप्त हो चुकेगी। आज विश्वविद्यालय और शालेय स्तर पर जो धूरधानी है, उसके पीछे शिक्षक का स्वय बेइज्जत होना और अपनी विश्वसनीयता स्वय खोना ही है। इस तरह पण्डित, यानी

उसका अपना कर्तव्य हो जाता है, माना समाज इस तरह की कोई अपेक्षा नहीं करता। (करना भी नही चाहिये।) किन्तु जो वस्तुतः मुनि होते है, वे समाज के सवन्ध मे चिन्तित रहते है और उसे अपने जीवन-काल मे कोई-न-कोई आध्यात्मिक-नैतिक खुराक देते रहते है यह खुराक प्रवचनो के रूप मे प्रकट होती हे।

संत का लक्षण

मनुष्य को मनुष्य की भूमिका से स्खलित होने पर जो लोग उसे पुनः मनुष्य की भूमिका मे वापस ले आते है सत कहलाते है। संतो का सबमे वडा लक्षण हे उनका मानवीय होना, करुणामय होना, लोगो की उस जुबान को समझना जिसे हम दरद कहते है, व्यथा की भाषा कहते है।

मुनिश्री चौथमलजी की विशेषता थी कि वे आदमी के ही नही प्राणिमात्र के व्यथा-क्षणो को समझते थे, उनका आदर करते थे, और उसे दूर करने का प्राणपण से प्रयास करते थे।

वे एक ऐसे सूर्योदय है, जो रोज-ब-रोज केवल पूरब से नही सभी दिशाओ से ऊग सकते है। ('प्रणाम, एक सूरज को', मुनिश्री चौथमल जन्म-शताब्दी' नव -दिस ,'७७) △

सहजै काया सोधो

भारतीय संतो ने, जो पढे-लिखे नही थे, किन्तु जिन्हें जीवन मे उथले-गहरे पानी का ज्ञान था, जीवन की स्थूलताओ और सूक्ष्मताओ का बहुत पारदर्शी विश्लेषण किया है। कबीर का एक पदांश है - **साधो, सहजै काया सोधो**। कुछ चार शब्द है, किन्तु इनकी मार काफी लम्बी, प्रखर और गहरी है।

कबीर काया के प्रति बहुत सावधान/खबरदार हैं। वे मोहग्रस्त नही है, अप्रमत्त है उसको लेकर। काया जो बाहर से इतनी सुन्दर है, भीतर से घिनौनी भले ही हो, किन्तु है नाना संभावनाओ से भरपूर। जो लोग अध्यात्मवादी हैं, वे जानते है कि इस काया का आदिम निवासी कौन है ? 'मै हूँ, कहाँ हूँ, कहाँ से हूँ, कौन हूँ, मेरा वास्तविक स्वरूप क्या है ?' जैसे बहुत सारे सवाल काया शब्द को छूते ही आ खडे होते है।

सम्यक्त्व की उपलब्धि

काया को 'सोधने' का काम आसान नही है। जैनदर्शन काया की खोज से ही शुरू होता है। सम्यक्त्व की उपलब्धि काया और आत्मतत्त्व के पृथक्-पृथक् व्यक्तियो की खोज ही है। यह जानना कि ऑख रोशनी नही है, रोशनी की अनुभूति का एक उपकरण है, महत्त्वपूर्ण तथ्य है; लोग ऑख को रोशनी मान कर जब अपने वक्तव्य को अन्तिम घोषित कर देते है तब बड़ी उलझन खडी हो जाती है। फ्रेम चाहे जितनी ही सुन्दर क्यो न हो, कॉच के

अध्यापक के सामने आज असंख्य चुनोतियाँ है। जिन्हे उसे अपने आपसी झगडो से ऊपर झेलना चाहिये और विरासत मे मिले अपने पुरुषार्थ के बल पर आगामी पीढी का मार्गदर्शन करना चाहिये। सच, कई पीढियाँ कृतज्ञ होगी पण्डित-वर्ग की यदि उसने आत्मसमीक्षण के क्षणो मे-से गुजर कर अपने फर्ज और व्यक्तित्व को पहिचाना और तदनुसार हर सभव कुरबानी के साथ खुद को झोक दिया। अगला कल उन पण्डितजनो की राह देख रहा है, जिनकी हथेलियाँ और पगतलियो मे विवेक की आँख और जिनके होठ और पाँव के बीच धोखाधडी का कोई दलाल नही है।

('पाँव मे आँख', पं नाथूलाल शास्त्री पण्डित-परम्परा पर विशेष, जून, '७८) Δ

साधु : जीवन्त प्रतीक

वे त्याग, तितिक्षा, उत्सर्ग, करुणा, सत्य, अहिसा, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य के जीवन प्रतीक है।

भेदविज्ञानी का अर्थ

भेदविज्ञानी का अर्थ केवल भेदविज्ञान का जानकार ही नही है, उसका विशुद्ध अर्थ है पुद्गल और जीव द्रव्यो के पृथक्करण की साधना करने वाला नि स्पृह साधक, ऐसा साधक जिसके तरकश के तीर बराबर चल रहे है और जो पुद्गल और जीव की अनादि मैत्री को अविरल तोड रहा है।

साधु और स्वाद

साधु और स्वाद के लिए कभी नही जीता, वह अस्वाद मे जीता है, और जो लेता है वह मात्र शरीर को बनाये रखने के लिए, साधन को सक्रिय रखने के लिए। वह पेट-समाता ग्रहण करता है, किन्तु देखा गया है कि कई साधु स्वाद मे स्वाद लेते है, और सुस्वादु भोजन न मिलने पर शिकायत करते है, कुछ आवासीय सुविधाओ के आरामदेह न होने की शिकायत करते है, यानी अब साधु सरदर्द होते है, वे सरदर्द ढोते नही है। ऐसे साधुओ की अलग से कोई पहचान नही है,

सच्चा प्रतिमान

कई सवस्त्र हो कर भी दिगम्बर मुनि की भाँति नि.स्पृह है, और कई निर्वस्त्र-दिगम्बर होकर भी भीतर वस्त्र पहते है, यानी बाना कसौटी नही है, वस्तुत विचारो का जीवन मे जो आकार दिखायी देता है, वही असली कसौटी है; ज्ञान और चारित्र का समन्वित रूप ही सच्चा प्रतिमान है।

साधु एक खुली किताब

साधु एक खुली किताब है या कहे कि वह एक जीवन्त शास्त्र है, एक ऐसा शास्त्र, जिसमे चारित्र-लिपि का उपयोग हुआ है, जिसके अक्षर-अक्षर, वर्ण-वर्ण से अहिसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य प्रकट हो रहे है।

ाधु वर्तमान के अध्येता

इसलिए साधुओ को अपनी कोई जगह नही है, सारी धरा उनकी अपनी है, सारे प्राणी उनके अपने है, सारी धडकने उनकी अपनी है, या हम यो कहे कि सूई की नोक-जितनी जमीन भी उनकी नही है, एक भी प्राणी उनका नही है, वे निरन्तर सल्लेखन मे लगे हुए है, वे कषाय को कृश-क्षीण करने की कला में दक्षता प्राप्त किये जा रहे है, इसी बीच जो भी उनके सहज सपर्क मे आ रहा है, स्वर्ण बन रहा है, वे इस चिन्ता से मुक्त है कि कौन-क्या हो रहा है, या किसे क्या हो जाना चाहिये ? वे अपनी चिन्ता से मुक्त है, वे विगत कल की चिन्ता से भी मुक्त है, वे आगामी कल की चिन्ता से भी मुक्त है, वे आज मे, अभी मे, विगत-अनागत की शल्यो से विमुक्त हैं, वे वर्तमान एक क्षण पर सुस्थित है, वे वर्तमान के अध्येता है, वर्तमान एक क्षण पर सुस्थित हैं, उसे 'फील' करना, उसे 'सेन्स' करना कठिन है, उसकी अनुभूति दुष्कर है, उसकी पहचान मुश्किल है, असभव कुछ नही होता, किन्तु आधे से अधिक साधु अतीत के पुजारी है, उनका एक मोटा प्रतिशत भविष्य की कामनाओ का याचक है, एक बहुत छोटा, कहिये, नगण्य प्रतिशत अनुसधान कर पाया है वर्तमान का, वस्तुत साधु वे है, जो वर्तमानता की खोज मे अपना अप्रमत्त-सावधान पग डाले हुए है, अपनी नासिकाग्र दृष्टि गडाते हुए है, क्षण-सिन्धु मे जो गोते ले रहे है, क्षण के दुर्ग को जिन्होंने तोड, या जीत लिया है, वे हैं साधु। साधुवेशी अधिकाश अस्तित्व आज ऐसे है, जिन्हे क्षण ने जीत लिया है, विरल ही ऐसे है, जिन्होंने क्षण की छाती पर अपनी विजय का झण्डा गाडा है। यह 'समय' की कसौटी है, इस कसौटी को सब साधु उपलब्ध नही होते, यह कसौटी भी सब साधुओ को उपलब्ध नही होती, जिन्हे यह कसौटी मिलती है, या जो इस कसौटी को मिलते हैं, 'णमो लोए सव्व साहूण' पद उन्ही के लिए प्रयुक्त है।

साधु प्रणम्य है

वे प्रणम्य है, जहाँ भी वे है उन्हे नमस्कार, जिस वेश मे भी वे है, उन्हे उस बाने मे नमस्कार, जितने वे है उतने सबको नमस्कार, उन पर सर्वस्व निछावर, उन पर सर्वोत्सर्ग।

('साधुओ को नमस्कार' आचार्यश्री विद्यासागरजी नव-दिस,'७८) △

अध्यापक के सामने आज असंख्य चुनोतियॉ है। जिन्हे उसे अपने आपसी झगडो से ऊपर झेलना चाहिये और विरासत मे मिले अपने पुरुषार्थ के बल पर आगामी पीढी का मार्गदर्शन करना चाहिये। सच, कई पीढियॉ कृतज्ञ होगी पण्डित-वर्ग की यदि उसने आत्मसमीक्षण के क्षणो मे-से गुजर कर अपने फर्ज और व्यक्तित्व को पहिचाना और तदनुसार हर सभव कुरबानी के साथ खुद को झोक दिया। अगला कल उन पण्डितजनो की राह देख रहा है, जिनकी हथेलियॉ और पगतलियो मे विवेक की ऑख और जिनके होठ और पॉव के बीच धोखाधडी का कोई दलाल नही है।

('पाँव मे आँख', प नाथूलाल शास्त्री पण्डित-परम्परा पर विशेष, जून, '७८) Δ

साधु : जीवन्त प्रतीक

वे त्याग, तितिक्षा, उत्सर्ग, करुणा, सत्य, अहिसा, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य के जीवन्त प्रतीक है।

भेदविज्ञानी का अर्थ

भेदविज्ञानी का अर्थ केवल भेदविज्ञान का जानकार ही नही है, उसका विशुद्ध अर्थ है पुद्गल और जीव द्रव्यो के पृथक्करण की साधना करने वाला नि स्पृह साधक, ऐसा साधक जिसके तरकश के तीर बराबर चल रहे है और जो पुद्गल और जीव की अनादि मैत्री को अविरल तोड रहा है।

साधु और स्वाद

साधु और स्वाद के लिए कभी नही जीता, वह अस्वाद मे जीता है, और जो लेता है वह मात्र शरीर को बनाये रखने के लिए, साधन को सक्रिय रखने के लिए। वह पेट-समाता ग्रहण करता है, किन्तु देखा गया है कि कई साधु स्वाद मे स्वाद लेते है, और सुस्वादु भोजन न मिलने पर शिकायत करते है, कुछ आवासीय सुविधाओ के आरामदेह न होने की शिकायत करते है, यानी अब साधु सरदर्द होते है, वे सरदर्द ढोते नही है। ऐसे साधुओ की अलग से कोई पहचान नही है,

सच्चा प्रतिमान

कई सवस्त्र हो कर भी दिगम्बर मुनि की भॉति नि स्पृह है, और कई निर्वस्त्र-दिगम्बर होकर भी भीतर वस्त्र पहते है, यानी बाना कसौटी नही है, वस्तुत विचारो का जीवन में जो आकार दिखायी देता है, वही असली कसौटी है, ज्ञान और चारित्र का समन्वित रूप ही सच्चा प्रतिमान है।

साधु एक खुली किताब

साधु एक खुली किताब है या कहे कि वह एक जीवन्त शास्त्र है, एक ऐसा शास्त्र, जिसमे चारित्र-लिपि का उपयोग हुआ है, जिसके अक्षर-अक्षर, वर्ण-वर्ण से अहिसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य प्रकट हो रहे है।

साधु . वर्तमान के अध्येता

इसलिए साधुओ को अपनी कोई जगह नही है, सारी धरा उनकी अपनी है, सारे प्राणी उनके अपने है, सारी धडकने उनकी अपनी है, या हम यो कहे कि सूई की नोक-जितनी जमीन भी उनकी नही है, एक भी प्राणी उनका नही है, वे निरन्तर सल्लेखन मे लगे हुए है, वे कषाय को कृश-क्षीण करने की कला मे दक्षता प्राप्त किये जा रहे है, इसी बीच जो भी उनके सहज सपर्क मे आ रहा है, स्वर्ण बन रहा है, वे इस चिन्ता से मुक्त है कि कौन-क्या हो रहा है, या किसे क्या हो जाना चाहिये ? वे अपनी चिन्ता से मुक्त है, वे विगत कल की चिन्ता से भी मुक्त है, वे आगामी कल की चिन्ता से भी मुक्त है, वे आज मे, अभी मे, विगत-अनागत की शल्यो से विमुक्त हैं, वे वर्तमान एक क्षण पर सुस्थित है, वे वर्तमान के अध्येता है, वर्तमान एक क्षण पर सुस्थित हैं, उसे 'फील' करना, उसे 'सेन्स' करना कठिन है, उसकी अनुभूति दुष्कर है, उसकी पहचान मुश्किल है, असभव कुछ नही होता, किन्तु आधे से अधिक साधु अतीत के पुजारी है, उनका एक मोटा प्रतिशत भविष्य की कामनाओ का याचक है, एक वहुत छोटा, कहिये, नगण्य प्रतिशत अनुसंधान कर पाया है वर्तमान का, वस्तुत साधु वे है, जो वर्तमानता की खोज मे अपना अप्रमत्त-सावधान पग डाले हुए है, अपनी नासिकाग्र दृष्टि गडाते हुए है, क्षण-सिन्धु मे जो गोते ले रहे है, क्षण के दुर्ग को जिन्होंने तोड, या जीत लिया है, वे हैं साधु। साधुवेशी अधिकांश अस्तित्व आज ऐसे है, जिन्हे क्षण ने जीत लिया है, विरल ही ऐसे है, जिन्होंने क्षण की छाती पर अपनी विजय का झण्डा गाडा है। यह 'समय' की कसौटी है, इस कसौटी को सब साधु उपलब्ध नही होते, यह कसौटी भी सब साधुओ को उपलब्ध नहीं होती, जिन्हे यह कसौटी मिलती है, या जो इस कसौटी को मिलते हैं, 'णमो लोए सव्व साहूण' पद उन्ही के लिए प्रयुक्त है।

साधु प्रणम्य है

वे प्रणम्य है, जहाँ भी वे है उन्हे नमस्कार, जिस वेश मे भी वे है, उन्हे उस वाने मे नमस्कार, जितने वे है उतने सबको नमस्कार, उन पर सर्वस्व निछावर, उन पर सर्वोत्सर्ग।

('साधुओ को नमस्कार' आचार्यश्री विद्यासागरजी नव-दिस,'७८) △

देह विदेह के निमित्त

आत्मा के बारे मे कम ही जानते है, जबकि उससे निकटतर और महत्त्वपूर्ण शायद ही कोई अस्तित्व हो। देह के बारे मे हम जितना जानते है, आत्माके बारे मे दुर्भाग्य से एक लाखवॉ भाग भी उसका नही जानते; जबकि सचाई यह है कि आत्मा की अनुपस्थिति मे देह के कोई मायने नही है, वह मात्र कंकाल है। देह, असल मे, है ही मात्र विदेह के निमित्त। वह उसका प्रासाद है। जैसे आत्मा के लिए देह है ठीक वैसे ही अर्थ के लिए शब्द है बल्कि कहे कि शब्द के भीतर बैठा नाद है। शब्द प्राय तब तक ऊपर-ऊपर होता है, जब तक उसका पारखी उसके सामने नही होता वस्तुऍ पारखी/विशेषज्ञ के सामने प्राय दिगम्बर होती है। एक पारखी ही किसी वस्तु का पारदर्शन कर सकता है।

उत्कष्ट/प्रखर साधना की अपेक्षा

शब्द ही नही प्राय सभी वस्तुओ का दृश्य जुदा होता है और उनकी वास्तविकताएँ जुदा होती है वस्तु के भीतर जो वस्तु है, देखने के लिए उत्कष्ट/प्रखर साधना चाहिये, बिना साधना के कोई उपलब्धि संभव नही है, किन्तु आज हमारी हालत यह है कि हम साधन को ही सिद्धि मान रहे है और अपनी सारी शक्ति उसी पर उँडेले दे रहे है। यह जो हम साधन को सिद्धि मानने की स्थिति मे बने रहते है यही हमारी प्रगति का अवरोधक तत्त्व है। साधन को साधन और साध्य को साध्य मान लेने के साथ ही हमारी वह यात्रा शुरू होती है, जिसे हम ज्ञानयात्रा कहते है/कह सकते है।

शब्द के भीतर का शब्द, मनुष्य के भीतर का मनुष्य, वस्तु के भीतर की वस्तु कठिनाई से ही हस्तगत होता है।

जब हम 'शब्द-के-भीतर-शब्द' जैसा कोई कथन करते है, तब उसका अभिप्राय क्या होता है ? उसका अर्थ होता है शब्द-शक्तियो की गहन खोज, उसके अभेद्य कवच पर प्रहार। यह जानना कि शब्द सिर्फ सज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया इत्यादि ही नही है, वह व्याकरणिक अस्तित्व से बहुत आगे का अस्तित्व है-वैश्विक। उच्चारण उसकी एक सक्षिप्त और सर्वप्रथम अभिव्यक्ति है, इसीलिए शब्द का शक्तिबोध एक अलग बात है, अहम बात है। शब्द के भीतर उसकी जो अनन्त शक्तियॉ सन्निहित है वे न केवल शब्द से आगे की है वरन् अर्थ से आगे की भी है। शब्द से आगे तो एक रचनाकार भी जा सकता है किन्तु अर्थ से आगे जाने का काम कोई साधक ही कर पाता है।

मन्त्र की सत्ता का सूत्रपात

मन्त्र में हम केवल किसी शब्द के अर्थ तक ही सीमित नही रहते वरन् उससे काफी आगे निकल आते है। अर्थ के आगे शब्द की जो शक्ति है, वह भाषा का सामान्य परिधि मे प्राय

नहीं आती। जब हम किसी शब्द का इस्तेमाल सतह पर करते है तब हम, माने, उसका बहुत ही मामूली/कामचलाऊ उपयोग करते है। चिन्तन शब्द का काफी गहरा तल है, किन्तु इसके आगे भी एक तल है जिसे अनुभूति कहा जाता है। शब्द जब अभिव्यक्ति से हट कर अनुभूति हो रहता है, तभी उसका सम्यक्त्व प्रकट होता है अपने पूरे तारुण्य पर। मन्त्र की सत्ता का सूत्रपात तब होता है जब हम उसे कटेनर/बर्तन से आगे कटेंट्स के रूप मे पहचान लेते है। जिसे अब तक हम पात्र मानते रहे है वह वस्तुत स्वय परोसी हुई कोई वस्तु होता है। पात्र से आगे की जो धरती है वह मन्त्र की धरती है, और यहाँ धरती वह धरती है जो हमारे अनुभव-जगत् से सबद्ध है और अत्यधिक सूक्ष्म है।

मन्त्र की परिभाषा देते हुए लोग उसे मात्र शब्द-समूह कहते है और मानते है कि यह शब्द/शब्दकुल इस तरह से अनुसंधान पर है कि वह अपने लक्ष्य के अलावा कही ओर जा ही नही सकता। जब हम शब्द को इस तरह साध लेते है कि वह अस्खलित मुद्रा मे सीधे लक्ष्य पर होता है तब हम उसे मन्त्र कहते है।

गहराइयो को तादात्म्य

मन्त्र मे शब्द कोरमकोर शब्द नही होता वरन् वह हमारी आत्मिक गहराइयो से स्वयं की गहराइयो को जोडता है। शब्द की, और साधक की गहराइयो के तादात्म्य का नाम मन्त्र है। सिर्फ मन्त्र कह देने से कोई शब्द-समूह मन्त्र नही होता, वह घटित होता है तब जब साधक की गहराइयाँ उससे जुड जाती है विद्युत्धारा जब तक किसी आसन से नही जुडता अपनी शक्ति को प्रकट करने मे असमर्थ बनी रहती है किन्तु जैसे ही उसे कोई आधार प्राप्त होता है अर्थात् बल्ब, हीटर, पखा, फ्रीज या अन्य कोई यन्त्र वैसे ही उसकी सार्थकता बनती है और तुरन्त प्रकट हो जाती है। जैसे कोई स्विच काम करता है दो स्थितियो या धाराओ को एकप्राण करने मे ठीक वैसे ही मन्त्र भी सेतु का काम करते है। यन्त्र जिस तरह किसी शक्ति के आसन/आधार बनते है ठीक उसी तरह मन्त्र को प्रकट होने के लिए भी कोई यन्त्र/आधार चाहिये। योग से यन्त्र सुलभ होता है और फिर उस रास्ते मन्त्र प्रकट होता है।

महामन्त्र णमोकार

'महामन्त्र णमोकार' को हम ले। यह मन्त्र मात्र शब्द-समूह नही है, अर्थ से पार भी उसका अस्तित्व है। 'अरिहन्त' या 'णमो' शब्द+अर्थ तो है ही, शब्द+अर्थ से आगे भी है-इतने पार कि हम उसकी कल्पना भी नही कर सकते। शब्द की सम्यक् गहराइयाँ उसकी साधना मे-से प्रकट होती है, और जब यह साधना हमारी निज की गहराइयो से जुड जाती है तब कोई स्पष्ट घटना घटित होता है जिसे हम कहते अलौकिक/अप्रतिम है किन्तु वह होती अत्यन्त सहज/स्वाभाविक है। **मन्त्र जब अस्वाभाविक होता है तब लौकिक कहलाता है, किन्तु अपने स्वभाव में वह अलौकिक ही होता है।**

णमोकार महामन्त्र को चमत्कार के तल से ऊपर जो खोजते है वे मोक्ष के साधक होते है। साधना-काल मे कई चमत्कार घटित होते है जिनसे विधकर कच्ची मनोभूमिका पर खडे साधक अपनी यात्रा तोड बैठते है, किन्तु जो यह मानते है कि चमत्कार साधना-यात्रा के मामूली पडाव है, वे अपनी यात्रा को अबोध रखते है और मन्त्र को अपनी मूल साधना का एक सोपान समझते है। वे मन्त्र के माध्यम से सतत् स्वात्म गहराइयो मे उतरते जाते है और 'शब्द के भीतर सुस्थित शब्द' उन्हे आहिस्ता-आहिस्ता वहाँ ले जाता है, जहॉ आत्मा की अनन्त शक्तियो के प्रकट होने की भरपूर सभावनाएँ रहती है। वस्तुत जब आत्मा निरम्बरा/चिदम्बरा/ज्ञानाम्बरा हो जाती है तब होती है मन्त्र की चरम अभिव्यक्ति। मन्त्र अपनी गहराइयों में स्वानुभूति है और स्वानुभव से बड़ा कोई मन्त्र नही है। जाने हम कि मन्त्र शक्ति है, यन्त्र आधार है, और तन्त्र विस्तार है, मन्त्र बीज है, यन्त्र फल है /देह है, तन्त्र जड़ से अन्तिम पत्ते तक का फैलाव है। वस्तुत ये तीनो अलग-थलग अस्तित्व नही है, एक हैं, परस्पर पूरक है। महामन्त्र णमोकार आध्यात्मिक साधना का एक सीढी-दर-सीढी कार्यक्रम है। इसका एक-एक वर्ण मन्त्र है, कुल मिला कर यह महामन्त्र है। अद्भुत है, विलक्षण है। ('गहराइयों में', णमोकार मन्त्र खण्ड-१ नव -दिस , '८०) △

णमोकार महामन्त्र : संभावनाएँ, व्याप्तियाँ, गहराइयाँ

णमोकार महामन्त्र, जिसे हम आकार मे बहुत छोटा पाते है, नाना संभावनाओ का एक कुटुम्ब है। जहाँ देखना यह होगा कि इस मन्त्र को छू कौन रहा है ? कौन व्यक्ति है जिसने इसे जानने/समझने का प्रयास आरम्भ किया है ? इस व्यक्ति का लक्ष्य क्या है ? क्या वह इसके माध्यम से कोई लौकिक उपलब्धि चाहता है, या उस समस्याओ और रहस्यो को खोजना चाहता है, जो मूलभूत है, आध्यात्मिक और वैश्विक महत्त्व के है ? क्या किसी निष्काम और बडे लक्ष्य से उसने यह राह पकडी है, या यूँ ही किसी चमत्कार से प्रेरित हो कर वह इस ओर आया है? उस व्यक्ति की पात्रता कितनी है ? क्या वह इस मन्त्र को हाथ लगाने के पूर्व इसकी सूक्ष्मताओ मे जाने की तैयारी रखता है ? क्या उसने 'णमोकार' की व्याप्तियो और गहराइयो को समझने के लिए ज्ञान के और-और क्षेत्रो का अध्ययन/अनुशीलन किया है ? वह किस वातावरण की उपज है, उसका व्यक्तित्व कैसा है, उसका 'अप्रोच' कैसा है, वह पाद्धतिक है या नही, क्योकि उबडखाबड जीवन-पद्धति मे विश्वास रखने वाले व्यक्ति के लिए यह मन्त्र फलप्रद नही हो सकता, इसका अपना व्यक्तित्व है, जिससे जुडे वगैर कुछ घटित हो, यह संभव ही नही है।

'णमोकार' में अनन्तताएँ

मन्त्र चाहे जो हो उसे जीवन से जोडा जाना चाहिये। जब तक हम उसे इस तरह

जीवन्त नही बनाते, तब तक उसके प्रभाव को जान नही सकते। कहा जाता है कि मन्त्र मे श्रद्धातत्त्व का महत्त्व है, है, इससे हम इकार नही करते, किन्तु अकेली श्रद्धा कारगर सिद्ध नहीं हो सकती। जिस श्रद्धा का धरातल समझ और ज्ञान है, उसके सगर्भ होने मे कोई सदेह नही हो सकता, और मन्त्र के साथ तो 'और' लगा ही है। यह इतना हुआ, अब और, यानी समस्त मन्त्र अनन्तताओ की गोद मे कुलॉचे भर रहा है। अब आपको जैसे ही कोई नया आयाम मिल जाता है, आप समझते है आप ने उसे पूरा खेड लिया है, किन्तु ऐसा नही तथापि उसे कई दृष्टियो से, कोणो से, और सदर्भों मे देखे जाने की आवश्यकता है।

णमोकार मे अनन्तताएँ इसलिए है कि वह अनन्तताओ से शुरू होता है और अनन्तताओ मे ही समाप्त होता है। आप 'साधु' वाले छोर को ले ले या 'अरिहत' वाले छोर को, दोनो ही अनन्तताएँ है। ध्यान मे दोनो के जो चित्र बनेंगे वे एक-जैसे हो ही नही सकते। शाम, सुबह, दुपहर, रात-रात मे भी अलग-अलग मन स्थितियो और ध्यानावस्थाओ की तीव्रताओ पर ही ये सारे चित्र बनेंगे/मिटेगे। कुल मिलायेंगे तो भी सारे चित्र और सारी मुद्राएँ समाप्त हो नही पायेगी, इसलिए मानें कि 'णमोकार' की प्रत्येक स्थिति सभावनाओ की खान है। वह अनादि और अनन्त है अत हम जानने की कोशिश पर भी यह जान नही सकते कि उसका ओर-छोर कहाँ है? 'और' की प्यास-पिपासा इस मन्त्र के सदर्भ मे कभी मिट नही सकती। ('और', णमोकार मन्त्र खण्ड-२ जनवरी, '८१) △

जीवन्त प्रतीक

गोम्मटेश्वर की विशाल मूर्ति परम तप की जीवन्त प्रतीक तो है ही, ज्ञान और दृढ सकल्प की द्योतक भी है। श्रामण्य, श्रम और नारी-गरिमा की प्रतिनिधि भी वह है। भारत मे ऐसे स्थान बहुत कम हैं, जहाँ शक्ति, सौंदर्य, शील, श्रामण्य, श्रम, श्रुत का इतना सतुलित समन्वय प्रकट हुआ हो श्रवणबेलगोल तो सिरमौर है।

संपूर्ण मानवता बद्धमूल

चामुण्डराय शक्ति, अरिष्टनेमि सौदर्य और माँ काललदेवी शील की जीती-जागती गौरव गाथाएँ है। उधर गुल्लिकाअज्जी श्रम, भगवान् वाहुवली श्रामण्य और आचार्य नेमिचन्द्र श्रुत के जीवन्त प्रतीक हैं। ऐसी कोई प्रतिमा देखने मे नही आयी जिसके साथ नर-नारी दोनो की गरिमा इतने वैभव के साथ जुडी हो। भ.वाहुवली जहाँ एक ओर शक्ति/स्वस्ति के प्रतिरूप है, वहीं इस तथ्य के भी उद्घोष है कि नारी की शक्ति महान् है और हम कहीं भी उसकी उपेक्षा नही कर सकते। भ वाहुवली को नि शल्य करने मे ब्राह्मी और सुन्दरी, गोम्मटेश्वर की विशाल प्रतिमा के निर्मिति काललदेवी, अरिष्टनेमि के स्थितिकरण मे उसकी पूज्या माँ, प्रथम मस्तकाभिषेक की सफलता मे गुल्लिकाअज्जी की भूमिकाएँ हम

कभी विस्तृत नही कर सकते। इस तरह सपूर्ण मानवता श्रवणवेलगोल की धरती से बगैर भेदभाव के बद्धमूल है।

१००० साल पहले

१००० साल पहले जब यह मूर्ति बनी थी और पहली जलधार गोम्मटेश्वर के मस्तक पर छूटी थी तब गगनभेदी घोष सुनायी दिये थे, आज हमे जो सुनायी देगा उसके माध्यम से ही हम उस स्वर्ण क्षणो की कल्पना कर पायेगे।

('१०००', गोम्मटेश्वर का १००० वाँ महामस्ताभिषेक, फरवरी, '८१)

भक्तामर एक कालजयी स्तोत्र

भक्तामर-जैसे कालजयी स्तोत्र का पाठ करने वाले उसे पढते है, किन्तु उसकी सार्थकता के तट तक नही पहुँच पाते। यह जाने बिना कि स्तोत्र अस्तित्व मे कैसे/किन स्थितियों मे आया, लगभग डेढ हजार वर्षों के दीर्घ कालान्तर मे उसमे क्या जुडा, क्या व… हुआ, उसे कौन-कौन से युगों से हो कर गुजरना पड़ा। वक्त का धुआँ तैर कर जब ह… मानतुंगसूरि की कारयित्री प्रतिभा तक अपनी पहुँच बनाते है, तब कही जा कर हमे बहुत रहस्यों की अधिकृत सूचना मिलती है।

एक कालजयी स्तोत्रकार के संबन्ध मे काल-निर्णय की चर्चा उतनी ही व्यर्थ है जित… आकाश फटने पर थेगले लगाना, खरगोश के सिर पर सिग खोजना। जिस स्तोत्र ने काल… जीत लिया और जो भक्ति/अध्यात्म/दर्शन के क्षेत्र मे निर्द्वन्द्व/नि सकोच/अभीत खडा… उसके बारे मे समय या रचयिता के एकाधिक होने की बहस अर्थहीन और असगत है, क… मतलब नही रखती।

यों मानतुग करीब एक दर्जन हुए, किन्तु इससे 'भक्तामर स्तोत्र' की रसवत्ता या गुणव… पर शायद ही कोई असर पडता है। पण्डित/विद्वान्, बहस मे बीत जाता है, किन्तु भ… आनन्द-विभोर हो उठता है। कभी ज्ञान मे-से भक्ति आविभूर्त होती है, तो कभी भक्ति… से ज्ञान, कौन जाने किसके लिए कौन क्षण क्या सिद्ध हो, जो नही जानते और निष्क… चित्त/अहेतुक मन से स्वय की आराधना मे डाल देते है, वे मृत्यु को अनायास ही जीत बैठ… है, मृत्युंजयी हो उठते है। ('एक कालजयी स्तोत्र', भक्तामर स्वोत्र, जनवरी, '८२)

भू-वलय

'जैन भूगोल' शब्द बनाये तो बनता है अन्यथा उसमे से वह अर्थबोध नही है जिसक… अध्यात्म को आवश्यकता है। प्राचीन ने 'भूगोल' की जगह भू-वलय' शब्द का इस्तेमा… किया है। वह ठीक है। उससे 'भू' की आकृति का अनुमान बनता है और हमारे चक्राक…

परिभ्रमण का भी छोटा-मोटा दृश्य हमारे सामने आ उपस्थित होता है कि हम घूम रहे है कोल्हू के वैल की तरह आँखो पर पाटी बाँधे।

जैन भूगोल

जैन भूगोल का नाम इसलिए जरूरी नही है कि जाना जाए कि कौन-सी भूमि ऐसी बच गयी है जिसका सिहासन के पायो के नीचे आना अभी बाकी है, बल्कि उसकी जानकारी इसलिए आवश्यक है कि उसे अपनी यात्रा का विगत,आगत, अनागत पूरी तरह स्पष्ट हो जाए यानी लोक का सपूर्ण पार-दर्शन उसकी यानी पुरुष की (आत्मा की) मुट्ठी मे आ जाए, इस तरह यह देखा जा सके कि इस लोक मे उसकी असली जगह कहाँ है ? उसका अपना गन्तव्य क्या है ? जैन भूगोल, वस्तुत स्वगृह की स्थितिबोध का शास्त्र है, वह इस तरह असल मे, भूगोल है ही नही, जीवन-दर्शन है।

लोकज्ञान के पीछे जीवन की सार्थकताओ को समझने का दर्शन सक्रिय रहना चाहिये,क्योकि हमे सम्यग्ज्ञान के द्वारा यह अवश्य जानना है कि स्थूल ज्ञान और अनुभूमिगमन ज्ञान मे क्या अन्तर है ? क्योकि ज्ञान-मात्र जानकारियाँ और तथ्यो का एक शुष्क समुच्चय नही है बल्कि वह वस्तुत्त्व का पारदर्शन है, उसे समझने का एक अत्यन्त प्रखर और सार्थक प्रयास है। दर्शन के माध्यम से यदि हम नर्क, स्वर्ग, समुद्र, नदी, पहाड इत्यादि की नामावालियाँ ही बना पाते है तो हमारा यह ज्ञान हमारे लिए किसी भी तरह उपयोगी नही होगा, वस्तुत हमे तो इसके माध्यम से व्यक्तिकी सार्थकताओ के धर्म/दर्शन की प्रासगिकताओ की खोज ही करनी चाहिये। ('लोक-कथा', जैन भूगोल, अगस्त, '८२) △

आत्माराधना से कल्पनातीत प्राप्ति

हमे याचना नही करनी चाहिये, क्योकि क्या कोई छायादार वृक्ष के नीचे पहुँच कर छाया की याचना करता है ? और क्या वैसा करना बुद्धिमत्ता है ? जब वृक्ष ही छायाकार है तव छाया तो वैसे ही मिल जाएगी, उसमे माँगना कैसा ? इसी तरह जब हम इतनी अप्रतिम शक्तियो की धारक प्रतिमा के पास पहुँचे है तब हमे सुरक्षा मिलेगी ही, उसकी चिन्ता किये बिना ही यदि हम आत्माराधन करते है तो फिर हमे जो मिलने वाला है, वह तो मिलेगा ही, किन्तु जो मिल सकता है उसकी तो हम कल्पना ही नही कर सकते । वस्तुत यही मुख्य है।

अतिशयता/चमत्कारिकता

मूर्तियो मे अपनी शक्ति भले ही न हो, किन्तु उन पर वीतरागता, निर्मलता, कैवल्य के जो दस्तखत मुद्रित है, वे महत्त्व के है । उन्ही के कारण वे सपूज्य है। मालिक बल्कि प्रतिनिधि भी शक्तिशाली होता है और प्राय उतना ही होता है जितना मोलिक मालिक। मूर्तियो से जो मौलिक शक्ति हमे मिलती है, उससे हम चाहे लौकिक कामनाओ की पूर्ति कर

लें और चाहे तो श्रीमद्राजचन्द्र की तरह उसे शतावधान से उदासीन कर मोक्षोपलब्धि मे लगा दे, यानी हम इस तथ्य को गहराई से समझें कि कुछ समय के लिए हम मालिक बन जाते है उन मौलिकताओ के या उनके किसी अंश के, जो गजब ढा सकती हैं। फिर यह हम पर निर्भर रहेगा कि हम उनका कैसा उपयोग करते है ? यदि हम इतनी-सी बात को किंचित् गहरे उतर कर जान ले तो हम श्रीमहावीरजी के अतिशयता/चमत्कारिकता को भली-भाँति समझ सकते हैं। ('प्रश्न उपयोग का', श्रीमहावीर तीर्थ, नवम्बर, '८२) ∆

अभीक्ष्ण एकाग्रता

ध्यान की प्रक्रिया सूक्ष्मतर है। उसका संबन्ध अभीक्ष्ण एकाग्रता से है। एक को आ रखे, उसे मुख्य बनायें, शेष को पीछे रखे/गौण रखे तो ही ध्यान की प्रक्रिया फलीभूत ह सकती है, अन्यथा उसमे से किसी परिणाम के लौटने की संभावना कम ही मानिये। वह क है जिसे ध्यान की समग्र प्रक्रिया मे चिन्तन का लक्ष्य बनाया जाता है, जो अनुक्षण हमा नासाग्र दृष्टि मे बना रहता है ? आत्मा ही न, जिसे हम खोजना चाहते है। ध्येय हमा असदिग्ध है/होना चाहिये। ध्येय है स्व-रूप। मै कौन हूँ ? मै क्या हूँ ? क्या मै तन हूँ ? क मै तन नही हूँ ? अन्ततः मै हूँ क्या ? मेरी मंजिल क्या है ? जहाँ मै हूँ क्या वह ही मेरी मजि है ? यदि यह सच नही है तो फिर मेरी मंजिल क्या है ? यह अभीक्ष्ण प्रेक्षण-अनुप्रेक्षण विपश्यन व्यक्ति मे-ध्यान की प्रक्रिया मे-चलता है।

विवेकशून्य नहीं

एक सवाल है। क्या ध्यान का अर्थ विचार-शून्य होना है ? है विचारशून्य होना, किन्तु विवेकशून्य होना नही है। हेय-उपादेय की कसौटी, वस्तु के ग्राह्य-अग्राह्य होने की प्रक्रिया बहुत जरूरी है। ध्यान मे, इसलिए, हम श्वास के बाद सीधे विश्वास पर आते है; उसमे से मन को साधते है, उसकी वक्रताओ और चपलताओ को समाप्त करते है, चिन्ताओ को शान्त करते है, और निराकुलता को व्यवस्थित करते है। ध्यान मंच है वस्तुतः, आत्मानुसंधान का, सम्यक्त्व का। ध्यान मे हम स्वय को सब ओर से प्रत्याहृत करके एक निश्चित लक्ष्यबिन्दु पर अविचल रखने का यत्न करते है। आरंभ मे हमारा अवलम्ब कोई वर्ण, या ध्वनि होती है, किन्तु जैसे-जैसे प्रखरता और तीव्रता बढती है, वैसे-वैसे स्थूलताएँ घटती जाती हैं, और स्व-रूप मे अविचलता उपलब्ध होती जाती है। स्थूल से सूक्ष्म तक की यह यात्रा दुष्कर तो है, किन्तु असंभव कतई नहीं है।

ध्यान में वर्तमानता ही मुख्य

ध्यान के प्रसंग में हमे काल (टाइम) पर भी किंचित् चर्चा कर लेनी होगी। ज्यादातर लोग अतीत से मुक्त होने के लिए ध्यान करते है, क्योंकि ध्यान मे सबसे अधिक विघ्न डालने

वाला तत्त्व यही है। अतीत, जो हमारी मुट्ठी से निकल जाता है, हमारी चेतना पर काफी गहरे निशान छोड जाता है। कई बार अतीत समृद्ध होता है तो हम उसे लौटाने का प्रयत्न करने मे तिल-तिल मिटते रहते है, और कई बार वह इतना विषम/दु खद होता है, कि हम अनुक्षण इस चिन्ता मे बने रहते है कि वह पुन लौट न आये। इस तरह अतीत हमे/हमारी चेतना को प्रतिपल झकझोरता रहता है। ध्यान हमे अतीत से मुक्त करता है/कर सकता है, क्योकि ध्यान मे कालभेद के लिए कोई गुजाइश नही है, वहाँ वर्तमानता ही मुख्य है। वहाँ न कोई विगत होता है, न अनागत, सिर्फ होता है आगत। इस दृष्टि से जो हमे वर्तमान मे रोक पाता है, वहाँ रुकने मे हमे उपकृत करता है, वह ध्यान है। जैसे ही हम वर्तमान पर पाँव जमाते है, भावि प्रवेश से रुक जाता है और अतीत झडने लगता है। इन प्रक्रियाओ को पारिभाषिक शब्दावली मे हम क्रमश 'सवर' और 'निर्जरा' के नाम से जानते है। हमारे भीतर-भीतर कितना सूक्ष्मताएँ अँगडाई भरती है, इसे तो वही जान सकता है जो प्रयोगधर्मा है, जो परपरित है, या किसी अन्धानुकरण मे जो डग भर रहा है, उसकी झोली मे सभवत कुछ पडेगा नही, वस्तुत शास्त्र, साधु, शिबिर इत्यादि को हम सहचारी/सहकारी/बनाये, उनकी अक्षरश दासताएँ स्वीकार न करे। गरज यह है कि जब हम किचित् मौलिक बनेंगे तभी हमारी मौलिकताएँ उद्घाटित होगी।

('ध्यान ध्यान पर अधिक, ध्येय पर कम', जैन ध्यान/जैन योग, अप्रैल, '८३) △

सामाजिक जीवन के लिए बहुत बड़ी चुनौती दोगलापन

प्राप्तव्य, या आवश्यकता से अधिक पाने-बटोरने की होड ने समाज को काफी असतुलित कर दिया है। जिसे एक चाहिये वह सौ-हजार के पीछे पागल है और जिसे हजार मिल गया है वह फिर अगले शून्य के लिए बावला हुआ है, इस तरह हम आपस की खाइयाँ पाटने की जगह उन्हे लगातार बढा रहे है। सेवा की चर्चा/बहस हम बराबर कर रहे है, यह जानते हुए भी कि वह (बहस) नकली और बेबुनियाद है। वस्तुत आज जो तब्दीली की बात कर रहा है, वह पता नही क्यो बेईमान और कपटी है, क्यो है, और कैसे वह न रहे शायद इसका कारगर उपाय ही समाज की सबमे बड़ी सेवा है। यदि हम समाज मे-से दोहरे/दोगले चरित्र को निकाल बाहर कर सके तो यह सर्वोपरि सेवा होगी। व्यक्ति और समुदाय के जीवन मे दुई/द्वैत/दोगलापन सर्वत्र व्याप्त है और सामाजिक जीवन के लिए बहुत बडी चुनौती है। क्रान्ति हम खडी करे, किन्तु देख ले साथ कि वह कोरी लफ्फाजी, या कागजी न हो। समाज-सेवा के क्षेत्र मे हमे शब्द और कागज से काफी आगे जाने की जरूरत है।

हिसा-बहुत अदम्य चुनौती

हिसा की घटनाएँ इधर तेजी से बढी है। हमारा देश इतना विशाल और विविध है कि

यदि हम हिसा का रोजनामचा रखे तो शायद वह बहुत बडी घबराहट पैदा करेगा (दैनिक अखबार आज हिसक वारदातो के रोजनामचो के अलावा क्या हैं ?) । इधर हिसा ने बहुत खुर्दबीनी शक्ल भी ग्रहण कर ली है । अर्थ और राजनीति की हिसाएँ बेहद सूक्ष्म हुई है । जिन बन्धु-बाँधवो से हम प्यार करना चाहते है-हमारा अर्थ और राजनीति-तन्त्र इतना दूषित हो गया है कि हमारे तन-मन पर उन्ही के खूनी धब्बे उभर आते है । किफायत, शौक, सौंदर्य-प्रदर्शन तथा अपरिहार्यताओ के नाम पर जो हिसाएँ हो रही है वे बेहिसाब और दुर्भाग्यपूर्ण है । वह हिसा जो बूचडखानो मे घटित है, प्रकट/स्पष्ट है, किन्तु जो अदृश्य बूचडखाने हमारे दिल-दिमाग मे सक्रिय है, उनकी ओर शायद किसी का ध्यान नही है, जब ये बन्द होगे तब बाह्य हिसाएँ स्वयं अपना असबाब संभल कर चलती बनेगी । आज सामाजिक विवशताओ का बोझ हमारे मन पर इतना अधिक है कि हमारी चेतना लगभग पगु हुई है, और हम वह सब नही कर पा रहे है, जिसे करने की इच्छा हमारे मन मे है । हिंसा बहुत अदम्य चुनौती है, जिसका मुकाबला हमे कुटुम्ब से शुरू कर विश्व के स्तर तक करना चाहिये ।

धर्म और संप्रदाय के अन्तर को समझें

समाज को ठोस व्यक्तित्व प्रदान करने वाले कुछ बुनियादी तत्त्व है । धर्म और नीति-शास्त्र ने मनुष्य को सदैव संयम और मर्यादाएँ, नियम और अनुशासन दिये है । यहाँ हम धर्म और संप्रदाय मे फर्क कर रहे है । धर्म व्यक्तिगत होते हुए भी समाजोन्मुख प्राण-तत्त्व है; किन्तु सप्रदाय स्वार्थों, अन्धविश्वासो, और रूढियो की परिणति है । धर्म के क्षेत्र मे हम आँखे खोल कर चल सकते है, सप्रदाय के क्षेत्र मे हमे हजार विरोधों के होते आँखे बद करके ही चलना होता है । हमारी प्रार्थना मात्र इतनी ही है कि हम धर्म और संप्रदाय के अन्तर को समझे और विवेक से काम लें । जीवन मे सर्वत्र विवेक बो देना भी समाज की सबमे बड़ी सेवा है । अविवेक की चुनौती एक खतरनाक चुनौती है ।

हमें चाहिये बन्धुत्व का अक्षरज्ञान

धर्म का क्षेत्र इस व्यक्ति को जो तरह-तरह की जंजीरो से जकडा हुआ है स्वतंत्र करना चाहता है । आज यदि कोई शोपणमुक्त जीवन-यापन की ओर अपने पग उठाना चाहता है, तो धर्म ही उसकी मदद कर सकता है । 'हम स्वतंत्र है'-यह वात धर्म ही कह सकता है, राजनीति के पास उतनी सुविधा नही है कि वह यह कह पाये । सेवा और सहानुभूति की जिस भापा को हम निरन्तर भूलते जा रहे है, धर्म उसकी वापसी का सवमे प्रमुख आधार है, हिन्दी या अंग्रेजी नहीं, हमे वन्धुत्व का अक्षरज्ञान चाहिये जो हमारी, आने वाले सांस्कृतिक प्रलय मे, रक्षा कर सके । व्यक्ति मे धर्म की वापसी आज सवमे वडी समाज-सेवा हो सकती है । हमदर्दियाँ, जिनके जिस्म पर कफ्न लगभग ओढा दिये गये है, को यदि हम पुनरुज्जीवित नहीं कर पाये तो मशीने/मशीनगने हमारे अस्तित्व को जडमूल मे खोद फेंकेगी ।

समाज की मूलभूत इकाई व्यक्ति

व्यक्ति, जो समाज की मूलभूत इकाई है, आज ध्वस्त और छिन्न-भिन्न है। निराशाओ, आतको, उदासियो, भयो और लाचारियो ने उसे भीतर से खण्ड-खण्ड कर दिया है, उसके साथ आज जो सलूक है यदि हम उसे तुरन्त नही बदल पाये तो निश्चय मानिये कि हम समाप्त हो जाएँगे, इसलिए, जो लोग विचारक है और युग-के-मर्म को जान रहे है उन्हे चाहिये कि वे आगे आये और व्यक्ति को ढहने से बचाये ताकि परिवार, जो प्रजातन्त्र का विश्वविद्यालय है, को बचाया जा सके और उसकी नीव को मजबूत किया जा सके। इस दृष्टि से हमारी मातृशक्ति और शिक्षा-सस्थाओ की भूमिकाएँ महत्त्वपूर्ण हो सकती है, किन्तु दोनो क्रमश प्रदर्शन/झूठ/अधिकार/लिप्सा, और राजनीति के कब्जे मे है। जब तक हम आश्रमो और कुटुम्बो की संस्कृति को टूक-टूक/धराशायी होने से नही बचाते, तब तक आशा की कोई ऐसी किरण नही है, जो हमारी वर्तमान/आगामी पीढी को किसी गहन/अन्धे गर्त मे गिरने से रोक सके। गिरते-टूटते परिवार को सँभालना आज सबमे बडी समाज-सेवा है।

समाज-सेवा के क्षेत्र नानाविध

यो समाज-सेवा के क्षेत्र नानाविध है, किन्तु यदि हम सारे देश/समाज को एक प्रामाणिक चरित्र ही मात्र दे पाये तो (देने वाले को प्रामाणिक पहले होना होगा), उसके इर्दगिर्द दूसरे रोशनदान आपोआप खुल जाएँगे और हम अपनी सामाजिक/सास्कृतिक रुग्णता का कोई कारगर इलाज कर पायेगे।

('समाज-सेवा चुनौतियाँ', समाज-सेवा, अक्टू -नव ८३) △

प्रतिक्रमण एक किस्म का आध्यात्मिक 'अबाउटटर्न'

अग्रेजी मे एक शब्द आया है अबाउटटर्न/टर्नअबाउट, जिसका अर्थ है जहाँ आप खडे है वही उस बिन्दु पर घूम जाएँ और विरोधी दिशा मे आ जाएँ। यह एक दिशा-परिवर्तन का कमाड है ताकि 'मार्च' के आदेश पर आप वापसी के लिए कमर कस ले। यदि आप इस तरह घूम कर कदम उठाते है तो सभावना वनती है कि आप वहाँ आ सके जहाँ से कभी चले थे, सरल शब्दो मे हम इसे 'प्रतिक्रमण' कहेगे। प्रतिक्रमण एक किस्म का आध्यात्मिक 'अबाउटटर्न' ही है। दिन-भर मे नामालूम ऐसे कितने क्षण आते है जब हम अपनी असली /प्रामाणिक परिधि/इलाके को छोड कर अन्यो की परिधि मे चले आते है, और सोचने लगते है कि इस तरह का सीमोल्लघन शायद हमारा हक है। हम अपना खुद का अस्तित्व और अधिकार भूल कर दूसरो की हद मे आ जाते है और अपनी/दूसरो की खुदी को स्खलित/छिन्न-भिन्न करते है। इस कोशिश मे जितना नुकसान दूसरो को नहीं पहुँचता

उससे कई गुना हमे स्वयं-का हो जाता है, किन्तु उस क्षण हमारी वृत्ति ऐसी कुछ बन जाती है कि नुकसान नफा दीख पडता है और नफा नुकसान। हमारा हेयोपादेय/हिताहित विवेक लुप्त हो जाता है, अत साधु हो, या गृहस्थ दिवसान्त, या निशान्त मे उसे अपने एक तटस्थ लेखे-जोखे की जरूरत होती है। लेखे-जोखे से मतलब सूरज-की-किरण पर बैठ कर हमने जो सफर शुरू किया था, उसकी वापसी के साथ हम यह देखे कि हमने पूरे वक्त क्या किया, क्या नही किया, क्या करणीय था, क्या अकरणीय था ? एक छोटा-मोटा 'स्टॉकटेकिग' हम करे। निष्पक्ष/वस्तुनिष्ठ इस क्षण इतने हम हो कि खुद को दूसरे की जगह रख कर स्वय को कसौटी पर डाले यह जानने के लिए कि पूरे वक्त हमारे द्वारा खरे का कितना खोटा और खोटे का कितना खरा हुआ है। जब इस आध्यात्मिक चक्र-प्रवर्तन मे हम खुद-मे-वापसी का प्रयत्न करते है तब वह है प्रतिक्रमण। धर्मचक्र-प्रवर्तन यही है।

प्रतिक्रमण : गन्तव्य-विशेषण की रचनात्मक प्रक्रिया

प्रतिक्रमण मे 'क्रम्' धातु प्रयुक्त है, जिसके मायने है नजदीक आना, तैयारी बताना, तत्परतापूर्वक कोई कदम उठाना, पर्दापण करना। प्रतिक्रमण मे जो 'क्रम' शब्द है, वह गत्यर्थक है, किन्तु यह गति उस गति से भिन्न है, जिसे हम आमतौर पर अपनाये हुए है। जब क्रम. यानी पाँव उलट कर चलने को होते है, यह सोच कर कि अब तक हमारी यात्रा मे जो हुआ वह मिथ्या था, अब हमे सही/सम्यक् डगर अपनानी है, तब हम इस/ऐसे प्रस्थानबिन्दु को प्रतिक्रमण कहते है। क्रम जहाँ एक ओर व्यवस्थावाची शब्द है, वही दूसरी ओर वह कदम, पग, पॉव, चरण का पर्याय शब्द भी है। 'प्रतिक्रमबद्ध' होने का मतलब है अपने कदम को एक खास निजाम (डिसीप्लीन) मे बॉध कर चलना। लौट चलना वहॉ मे जहॉ इस बात का इशारा मिले कि हमारा लक्ष्य/हमारी मजिल सही नही थी। गन्तव्य-विश्लेषण की इस रचनात्मक प्रक्रिया का नाम है प्रतिक्रमण। देखना लगातार यह है कि जो 'कल' था उसमे ऐसा क्या है, वह ऐसा कैसे हो कि हमारे पॉव सही/अ-मलिन दिशा मे हो, इस तरह 'आज' को सँभालना/पाना बहुत जरूरी है। आज की अप्रमत्त देखभाल/सालसॅभाल का मतलब होता है, विगत/अनागत को व्यवस्थित/अक्षत रखना।

प्रतिक्रमण आत्मोन्नयन की संभावनाओ के लिए मानसिक प्रक्रिया

जब हम खुदी की ओर होते है, या खुद मे वापसी की कोशिश करते हैं, तब हम होते है प्रतिक्रमण की चित्तवृत्ति मे। 'क्रम्' का अर्थ है निकट/नजदीक होना। किसके नजदीक होना ? खुद के/खुदाई के। किसलिए ? आत्मसमीक्षा के लिए, या पहले जिस जमीन पर खडे थे उससे बेहतर और अधिक उर्वर जमीन पर होने के लिए। 'क्रम्' का एक अर्थ है अधिक समर्थ होना, या उत्तरोत्तर समीचीन होना। इन सारे अर्थो का जब हम एक

साथ देखते है तब पता चलता है कि प्रतिक्रमण एक ऐसी मानसिक प्रक्रिया है जो जिन्दगी का खुला हिसाब माँगती है व इस प्रक्रियामे आत्मोन्नयन के सारे नयन/संभावनाएँ खोल देती है।

औपचारिकता से स्वाभाविकता नष्ट

इस, या ऐसी प्रक्रिया के अधिक शास्त्रीय/रूढ़/परम्परित हो जाने के भी कई खतरे है। जो भी स्थिति रूढ हो जाती है, उसके निर्जीव/औपचारिक होने के मौके बढ जाते है। औपचारिकता मे और चाहे जो हो, स्वाभाविकता को नष्ट करने के 'जर्म' तो सन्निहित होते ही हैं। जब हम किसी प्रक्रिया, या कर्त्तव्य को ले कर मात्र खाना-पूरी की स्थिति मे आ जाते है, तब वह प्रक्रिया बाँझ हो जाती है, किसी प्रक्रिया का इस तरह बंजड /अनुर्वर हो उठना किसी भी धर्म, या शास्त्र के लिए एक दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है। इस सन्दर्भ मे यह तथ्य काफी विचारणीय है।

प्रतिक्रमण और सामयिक/सामायिक दोनो महत्त्व के आवश्यक है। मान लिया गया है कि प्रतिक्रमण श्वेताम्बरो के और सामयिक/सामायिक दिगम्बरो के लिए है, अथवा उनमे अधिक प्रचलित/प्रयुक्त है। तथ्य यह है कि इन दोनो का निशाना/मकसद एक है, किन्तु किन्ही कारणो से एक मे एक और दूसरे मे दूसरे ने जड पकड ली है। असल मे दोनो प्रक्रियाएँ ध्यान-की-प्रमुख आधार-भूमियाँ हैं, उसके लिए एक सम्यक् और समीचीन आबोहवा तैयार करने का काम करती रही है।

सामयिक शब्द 'समय' में-से और सामायिक 'समाय' में-से विकसित

प्रतिक्रमण की तरह ही सामायिक है। दो शब्द है सामयिक, सामायिक। सामयिक शब्द'समय' मे-से और सामायिक 'समाय' मे-से विकसित है। समय का अर्थ आत्मा है। ऐसी ध्यान-प्रक्रिया जो साधक को समयोन्मुख/आत्मोन्मुख बनाती है, सामयिक कहलाती है। सामयिक का जो प्रचलित शब्दार्थ है, वह भी ध्यान देने योग्य है। सामयिक होना यानी इस तरह कुछ अपनी वृत्तियो/प्रवृत्तियो को संयोजित/समायोजित करना है कि हमारी अँगुलियाँ वक्त-की-नब्ज पर लगातार बनी रहे और हम वक्त के साथ हमकदम बने रहे सकें। क्षण के साथ सतत् रहना सामयिक है। रूढ़ होना आसान है, सामयिक होना मुश्किल है, सामयिक होने के लिए समय को उसके रग-रेशे मे पहचानना आवश्यक है। समय को जानना कोई मामूली पुरुषार्थ नही है, किन्तु जो गृहस्थ इसे सपन्न करते है, वे आत्मोत्थान की सारी सभावनाओ को उपलब्ध कर लेते है। सामयिक होने का सीधासादा अर्थ है आघ्यात्मिक होना। सामयिक, यानी किसी एक खास बैठक मे निबद्ध हो कर किसी धार्मिक प्रक्रिया मे फँसना नही है, बल्कि उसका अर्थ/प्रयोजन है अपनी चेतना मे निर्विघ्न प्रवेश।

सामायिक सामयिक के आगे का कदम/क्रम

सामायिक सामयिक के आगे का कदम/क्रम है। सामायिक समाय शब्द मे-से विकसित शब्द है, जिसका अर्थ है समत्व-मे-प्रवेश। यह समत्व क्या है ? एक ऐसी चित्तवृत्ति जहाँ रागद्वेष पूर्णत अनुपस्थित हो जाते है। न राग अपना राग अलापता है, न द्वेष अपनी जादुई बीन बजाता है, वहाँ साधक होता है/होता जाता है निरन्तर वीतराग/वीततृष्ण। उसके सारे राग चुकने लगते है, जीर्ण हो उठते है और क्रमश वह समता की धरती पर अपने पाँव स्थिर करने लगता है।

द्वेष भी एक तरह का राग ही है, क्योकि जब हम किसी वस्तु, या स्थिति को ले कर आसक्त ,आरक्त होते है, तब उससे संबन्धित व्यवधानो/विघ्नो के प्रति मन मे ईर्ष्या जन्मती है। कोई द्वेष ऐसा नही है, जिसकी जन्मस्थली राग न हो। रागभूमि पर ही द्वेष की फसल खडी होती है, इसीलिए आचार्यों ने वीतराग कहा है, वीतद्वेष नही, क्योकि जो वीतराग है, वह वीतद्वेष होगा ही। नामान्तर से द्वेष राग का ही अन्य नाम है, इसलिए सामायिक मे पहला निरसन/विरेचन होता है राग का। इस तरह मन मे जब एक गहरा समत्व उत्पन्न हो जाता है, तब सामायिक होती है।

सामायिक मे भेद-विज्ञान की भूमिका भी काफी महत्त्व की है। इस कीमिया के बिना कोई आध्यात्मिक घटना सभव नही है, इसलिए जो लोग भेद-विज्ञान की अँगुली पकड कर ध्यान/प्रतिक्रमण/सामयिक/सामायिक मे जाते है, उन्हे वह सब प्राप्त हो जाता है।

सामयिक ही आगे चल कर सामायिक का रूप लेती है। जिस तरह श्रावक मे श्रमण की मौजूदगी हे, ठीक वैसे ही सामयिक मे सामायिक को देखना चाहिये। जैसे साधु मे उपाध्याय, उपाध्याय मे आचार्य, आचार्य मे अरिहन्त, और अरिहन्त मे सिद्ध अस्तित्व स्पन्दित है, ठीक उसी तरह सामयिक की छाती मे सामायिक की धडकन महसूस करनी चाहिये। इन सारी प्रक्रियाओ मे कही/कोई श्वेताम्बरता/दिगम्बरता नही है। श्वेताम्बर/दिगम्बर शब्द हे, प्रतिक्रमण/सामायिक परमार्थ, लडाई शब्द पर हो सकती है, अर्थ या लक्ष्य पर उसके लिए कोई गुजाइश नही हे।

('वापसी, प्रतिक्रमण-सामायिक', अक्टू -नव ,'८४) △

प्रतिक्रमण· अपने आचरण की स्पष्ट समीक्षाओ का अवसर

हम जो कर रहे है, जो करते है, या जो भी हमारे द्वारा रोज-ब-रोज होता है, होता रहता है, क्या हम कभी ऐसे क्षण ढूँढ पाते है, जब उनका एक तटस्थ लेखा-जोखा ले, या उनकी वस्तुनिष्ठ समीक्षा करे ? करते जाना अनियन्त्रित/बेलगाम, और यह न देखना कि जो कृत (किया) या कारित (कराया हुआ) है, उसकी गुणात्मकता क्या है, सम्भवत. एक बेहद

जोखिम-भरा रास्ता है। हम दिन-के-अन्त तक (शाम) और रात-के-अन्त तक (सुबह) इतना सारा कुछ जाने -अनजाने कर चुकते है और इस करने-मे थक कर इतने चकनाचूर हो जाते है कि हमे वक्त ही नही मिलता कि हम अपने 'कृत-कारित-कीरन्त' का निष्पक्ष लेखा जोखा ले, अपना हिसाब मिलाये। देखिये न, जो हमे नही करना चाहिये, वह हम लगातार कर रहे है और जो हमे अप्रमत्त नित्य करना चाहिये उसे निरन्तर विस्मृति-के-समुद्र मे छोड रहे है। प्रतिक्रमण हमारी इस दूषित वृत्ति पर प्रश्नचिह्न लगाता है और हमे ख़बरदार करता है कि हम प्रतिपल अपने आचरण की स्पष्ट समीक्षा करे और उसे, जहाँ से वह निर्धारित आचरण-मानको से गिरा हो, वहाँ से सँभाले, वहाँ से उसकी मरम्मत करे।

मकड़जाल में फँसने की त्रासदी

मकड़ी जाला बुनती है, बुनती है इसे वह दूसरो को फाँसने के लिए, अपने आहार की व्यवस्था के लिए, किन्तु बदकिस्मती से वह खुद उसमे निरन्तर फँसती जाती है। हम भी जाने-अनजाने दिन-ब-दिन अपने मकडजाल बुनते है, निश्चय ही वे बडे मनोहारी/आकर्षक होते है, किन्तु त्रासदी यह है कि हम उनमे लगातार फँसते जाते है। होता असल मे यह है कि जो जाल हम दूसरो को फाँसने के लिए फैलाते है, अनजाने मे वे बूमरैग/भस्मासुर सिद्ध होते है और हम पर ही हमला कर बैठते है, अन्तत जब होश आता है तब हम पछताते और सिर धुनते है, किन्तु तब तक चिडियाँ सारा खेत चुग चुकी होती है, वक्त गुजर चुका होता है तथा रक्षा का कोई उपाय बच नही रहता है।

प्रतिक्रमण रुद्ध संवेदनशीलता के बंद द्वार खोलने की प्रक्रिया

प्रतिक्रमण हमारी उस रुद्ध सवेदनशीलता के बद द्वार खोलने की प्रक्रिया है, उन विचलनो/स्खलनो को जो हमारी प्रतिदिन की जिन्दगी के अनिवार्य हिस्से वन गये है, और जो चेहरे से अच्छे-भले दिखायी देते है (होते नही है), प्रतिक्रमण की कसौटी पर जाँच-परख मे आ जाते है, उनकी कलई खुल जाती है, वस्तुत प्रतिक्रमण की संपूर्ण प्रक्रिया इतनी तेजाबी और इतनी प्रखर है कि उससे बच पाना असभव ही होता है।

मनोदर्पण स्वच्छ करने का समय

जैसे हम आईना देखते है और उसमे-से असलियत के दर्शन करते है, ठीक वैसे ही प्रतिक्रमण के प्रौछन (झाडन) से हम अपने मनोदर्पण को स्वच्छ वनाते है और उसमे पूरी सजगता से अपने आचरण की असलियत को देखने/जानने की कोशिश करते है, पता लगाते है कि हमारे मूल चेहरे से परिवर्तित चेहरे का कितना साम्य और कितना वैषम्य इस वीच ठहरा/वहा है। सपूर्ण प्रक्रिया महत्त्व की इसलिए है कि इससे एक ऐसा मनोमन्थन हो जाता है जिससे मनुष्य/साधक जडमूल से वदलने लगता है/वदलता जाता है। यह आईना

सबके पास है, किन्तु उस ओर न तो हमारी कोशिश ही कभी होती है और न ही वह रास्ता इतना सम्मोहक/आकर्षक ही है। मनुष्य का स्वभाव है कि वह उस ओर दौडता है, जिस ओर से उसकी तृष्णा तृप्त होती है (वैसे तृष्णा कभी तृप्त नही होती)। प्रतिक्रमण तृष्णाओ का कवच है। वह उस ध्रुवबिन्दु पर लौटा लाने में समर्थ है, जहॉ से हम किसी भी ओर क़दम उठा सकते है। वस्तुत हमारा जो कदम पहले आदर्शों की दिशा मे उठा था, किन्तु किन्ही बाधाओ के कारण जो रुद्ध/दूषित हो गया था, प्रतिक्रमण उस उठे हुए कदम को मूलबिन्दु पर वापिस लाने की अनुभवसिद्ध प्रक्रिया है।

प्रतिक्रमण : समाधान ढूँढ़ने का उपयुक्त अवसर

मानसिक दृष्टि से भी हमें अक्सर मरम्मत की जरूरत होती है। होता यह है प्राय कि हम किसी साधना-मार्ग को स्वीकार तो कर लेते है, किन्तु किन्ही कारणो से तत्क्षण अपने पुरुषार्थ को पूरी तरह से परख नही पाते है, या साधना के निमित्त जिस तरह के वातावरण की आवश्यकता होनी चाहिये (उसे फलवती बनाने के लिए) वैसी फिजा मिल नही पाती है, अत हम किन्ही शिथिलताओ/मलिनताओ के शिकार हो जाते है- प्रतिक्रमण हमे न उलझनो/मलिनताओं/विचलनो को समझने/उनसे निबटने/उनके समाधान ढूँढने के उपयुक्त अवसर प्रदान करता है ताकि हम अधिक शक्तिशाली/प्रखर/अचूक बने सके और अपने गन्तव्य तक तेजी से डग भर सके।

मन की खिडकियो से हो कर जो दूषण हमारे आचार मे रेंग आते है, वे असल मे स्थूल विचलनो से कहीं अधिक घातक होते है। स्थूल शिथिलताओ/दोषो का तो कोई हल निकल आता है, किन्तु जो विकृतियाँ भीतर नीड बना कर बैठ/पैठ जाती है उन्हे पहिचानने और उखाड फेकने मे बडी कठिनाई होती है। इनमे से कई सारे विचलन/स्खलन इतने छद्मवेशी होते है कि हमे अपने हितैषी जैसे लगते है, किन्तु अन्तत वे विचलन ही है, इन्हे ठीक-से पहिचान कर इनसे निबटना प्रतिक्रमण तथा उसके परवर्ती सोपानो से ही संभव होता है। मन के भीतर जो महीन गाँठे घर बना लेती हैं, उनकी घातकता को भी समझना चाहिये और प्रतिक्रमण की प्रक्रिया द्वारा उन्हे जड-मूल से नष्ट करने का प्रयत्न करना चाहिये। मन-की-मकडी जो जाला बुनती है, वह जहाँ एक ओर सर्वभक्षी होता है, वही दूसरी ओर वह इतना जटिल/सुदृढ होता है कि उसे तोडना सभव ही नही होता है।

प्रतिक्रमण में जीवन-मूल्यों के प्रति गलतफहमी, मुगालता की गुंजाइश नहीं

यह नही है कि जो व्यक्ति क्रमश श्रमण हुआ है, या जो श्रावक-से-श्रमण होने की दिशा मे कदम उठाते हुए है इस व्यूहचक्र से शत-प्रतिशत वाहर आ गया है, वस्तुत. यह जाला इतना अद्भुत है कि कई वार तो यह ठीक-से दिखायी ही नहीं देता है, किन्तु इस

एक के भीतर वह नाना जालो-का-समूह होता है। असल मे यह जिस रूप मे दिखायी देता है, उससे काफी प्रहारक और घातक होता है। दूसरी ओर जब हम इसकी घातकता से वाकिफ होने लगते है, तब हम जान पाते है कि इस जाल-समूह की ताक़त से हमारी ताकत कई गुना बडी और अपराजिता है। यदि हम अपनी इस अपराजिता-शक्ति को उघाडना शुरू कर सके तो हमारी चेतना पर छाये/बिछे सारे जाले अस्तित्व-शेष हो सकते है। मुगालता किन्तु यह है कि हम ताक़त मे कम है और जो जाला है वह अधिक जटिल/शक्तिशाली है। इस ग़लतफहमी को यो हटाया जा सकता है कि हम अपने बल-वैभव को जाने (मात्र जाने ही नही अपितु उसे उत्तरोत्तर उघाडते जाएँ) ताकि जाले लगातार टूट जाएँ और हमारी असली सत्ता प्रकट/स्थापित होती जाए। प्रतिक्रमण-की-प्रक्रिया मे जिन मूल्यो से विचलित होने, और विचलन-बिन्दु पर प्रत्यावर्तन की बात होती है, वे इतने सिद्ध/परीक्षित है कि उन्हे ले कर किसी भ्रान्ति/मुगालते की गुजाइश नहीं है, अत हमे चाहिये कि हम उन सारे सदर्भों को एक बार देख जाएँ, जिनका सबन्ध अहिसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, और अपरिग्रह से है। देखे कि जो इबारते हमारे चिन्तको ने इनकी दी है, उनके अनुसार हम कहाँ खडे है ? क्या इन मूल्यो मे कही किसी किस्म के बदलाव की जरूरत है ? शायद बहुत फासले से/बहुत नज़दीक से उत्तर आयेगा किसी परिवर्तन की आवश्यकता नही है। आज जिस तरह की घटनाएँ हो रही हैं उन्हे ले कर यदि हम प्रतिक्रमण के स्वरूप/उसकी विधि-पद्धति पर विचार करेंगे तो पायेगे कि यह एक इतना सुनियोजित और सुदृढ शान्ति-पथ है कि जिस पर क़दम डाल कर हम काफी निश्चिन्त/निर्द्वन्द्व हो सकते है। हमारा प्रयत्न होना चाहिये, अत , कि हम प्रतिक्रमण-की-प्रासगिकता को समझे तथा जाले मे अधिक धँसने की अपेक्षा उस मे-से पूरे पुरुषार्थ के साथ बाहर आ जाएँ।

('जाले से बाहर', प्रतिक्रमण-शेषांक, सितम्बर, '८३) △

सामायिक . निष्प्राण/निर्जीव/जड़ प्रक्रिया नहीं

बहुत सारे लोग है जो परम्परित विधि-विधान मे फँस कर बेजान सामायिक तो करते है, लेकिन 'वह क्या है', इसे नही जानते। मानते है वे कि 'सामायिक-पाठ' या तत्संबन्धी कुछ बाँच-पढ लेना सामायिक है, किन्तु उसकी 'मूल चेतना' क्या है इससे वे अपरिचित बने रहते है। यह ठीक नही है। सामायिक की, असल मे, अपनी समग्रता और सपूर्णता (होलनेस) है जिसे समझ लेना बहुत जरूरी है। वह कोई निष्प्राण/निर्जीव/जड प्रक्रिया नही है, वरन् चेतना को लक्ष्य-केन्द्रित करने की एक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है।

सामायिक के किसी एक हिस्से, या अवयव को सपूर्ण सामायिक मान लेना भी गलत है, अत सबमे पहले हम यह खोजे कि 'सामायिक है क्या'? सामायिक मूलत समत्व की साधना है। सवाल उठेगा समत्व क्या है? हम द्वन्द्वो से घिरे हुए हैं। विषमताएँ हमसे लिपटी

हुई है। नाना विकल्प हमारे इर्दगिर्द मँडरा रहे है। हम तृष्णाओ मे एडी-से-चोटी तक लिप्त है। एक शान्त-तृप्त होती है, दूसरी तुरन्त आ खडी होती है। तृष्णाएँ एक-दो हो तो ठीक, इनकी तो एक अन्तहीन कतार है- किससे निबटा जाए और किससे नही, इसलिए पहले यह देखा जाए कि हम जिस वातावरण मे जी रहे है वह कैसा है · अनुकूल, या प्रतिकूल; वास्तविक, या भ्रान्त ? देखे हम कि क्या हम भ्रमो के बीच/अतृप्तियो के मध्य खडे है, या सम्यक्त्व और संतुलन, विवेक और अनुशासन हमारा मार्ग आलोकित कर रहे है ?

सामायिक : अद्भुत रासायनिक प्रक्रिया

सामायिक रूढ नहीं है। वह अद्भुत रसायन/कीमिया है। वह सफल जीवन जीने का एक महत्त्वपूर्ण आधार-सूत्र है। जब हम विषमताओ/द्वन्द्वो को एक-के-बाद-एक छोडते जाते है और समत्व-जो कि हमारा मूल स्वभाव है-मे आते जाते है तब होते है हम सही सामायिक मे। सामायिक मन के, तन के उन सारे दरवाजो को सटा देती है, जिनसे हो कर अवद्यता दाखिल होती है/हो सकती है। अवद्य क्या है ? जिसके बोलने-कहने मे हमे सामाजिक/नैतिक शर्म, या झिझक महसूस होती है और जो हमे विकृतियो की ओर धकेलता है, वह सब अवद्य है। अवद्य का शब्दार्थ है 'जो कथन करने योग्य नही है, जो निन्द्य है, जो पापमय है'। सामायिक इन सारे सावद्य-स्रोतो को बन्द करती है, उन्हे रोकती है। इसके द्वारा हम भीतर-भीतर मजबूत होते है इस तरह कुछ कि फिर बाहर की बडी-से-बडी ताक़त भी हमे विचलित नही कर सकती।

सामायिक मे हम करते क्या है और वस्तुत हमे करना क्या चाहिये ? सामायिक आत्मानुसंधान की, आत्मशुद्धि की, और आत्मानुशासन की एक स्वस्थ प्रक्रिया है। यह 'आत्मा-को-खोजना' क्या है ? असल मे जिस तरह आग की संगत से जल गर्म हो जाता है और सगत छोडते ही अपनी मौलिकता (शीतलता) मे लौट आता है, ठीक ऐसे ही आत्मा शरीर की संगत मे स्वय को शरीर मान बैठता है, किन्तु जैसे ही सामायिक की तेजोमय प्रक्रिया शुरू होती है उसे प्रतीत होता है कि वह शरीर नही है, शरीर तो उसका सिर्फ एक क्षणवर्ती पडाव है तो फिर वह उससे असंपृक्त अपनी मौलिकता मे लौटने लगता है। सामायिक वास्तव में इसी एकाग्र प्रतीति की संज्ञा है।

प्रश्न उठता है कि क्या जब हम ससार मे प्रतिक्षण लिप्त रहेगे तब क्या हमारा ध्यान आत्मा की ओर कभी जा पायेगा ? नही। इस सांसारिकता का कोई अन्त नही है; वह रूप बदल-बदल कर सैकडो प्रकार से प्रकट होती है, किन्तु सामायिक की प्रक्रिया मे हम सहज ही देख पाते है निर्विघ्न कि 'हम क्या है' और 'यह क्या है'। देख पाते है आत्मा क्या है, शरीर क्या हे, क्या दोनो एक है, क्या दोनो दो जुदा अस्तित्व है, क्या इनके बीच जो प्रगाढ रिश्ता दिखायी देता है, वह असली है, यदि नहीं, तो फिर असली क्या है, कैसा है, और उसे

कैसे पाया जा सकता है। इस तरह सामायिक मे हमे असली-नक़ली की पहिचान होने लगती है, और सम्यक्त्व और मिथ्यात्व, हेय और उपादेय के पारखी हम बन उठते है। यह है इस रसायन का चमत्कार!

सामायिक मालिक/मौलिक बनने का अवसर

हमारा यह शरीर एक विशाल/साधन-सपन्न प्रयोगशाला है। इसमे क्या नही है? वस्तुत हमे आत्मशोध की इस सुनहली कोशिश मे शरीर की उपेक्षा क्षण-भर को भी नहीं करनी चाहिये। हम इसे काम मे ले, साफ-सुथरा और सजग रखे, किन्तु देखे कि कही हम इसके काम न आ जाएँ। अक्सर तो यही हो रहा है कि हम शरीर का इस्तेमाल नहीं कर रहे है, शरीर हमारा इस्तेमाल कर रहा है, ठीक ऐसे जैसे आज हम यन्त्र का इस्तेमाल नही कर रहे है, यन्त्र हमारा इस्तेमाल कर रहा है। हम आज मशीन के गुलाम हुए है, मशीन हमारी दासी थी कभी, किन्तु आज वह हमारी स्वामिनी है। मशीन की भाँति है यह काया, यदि हम इसके प्रभुत्व मे चले जाते है तो फिर बहुत मुश्किल से पता लग पाता है 'हू इज द मास्टर' (इनमे से कौन है मालिक)? प्राय तो शरीर ही हमारा मालिक बना होता है और हम उसकी दासता मे सिर झुकाये खडे होते है। सामायिक के क्षणो मे हमे इस असलियत का पता लग जाता है कि 'मालिक कौन है और मौलिक क्या है'। किस तरह हम अपनी निजता/अस्मिता मे लौटे-इसकी सीढियाँ भी हमे मिलने लगती है। असल मे सामायिक अन्तर्जगत् की गहन खोज की सज्ञा है। काम बडा हे, काम मुश्किल है, किन्तु असभव वह नहीं है, पुरुषार्थ-साध्य वह है। सामायिक वास्तव मे, एक ऐसा कल्पतरु है, जिससे हम चाहे तब, और चाहे जैसा, प्राप्त कर सकते है। ('मालिक बनें, मौलिक बने', सामायिक शेषाक, जनवरी, '८५) △

श्रावक का पहला गुण . सहिष्णुता

श्रावक का सबमे पहला गुण है उसका सहनशील होना/अर्थात् एक अच्छा नागरिक सर्वप्रथम सहिष्णु होता है, किन्तु इसके विपरीत देखा यह जा रहा है कि तथाकथित श्रावक आज वहस अधिक कर रहा है, समाधान कम ढूँढ रहा है। हमारा जमाना किस मोड पर इस क्षण खड़ा है, किस मोड पर उसे होना था, इस सवन्ध मे उसका अपना कोई सोच नही है।

श्रावक · वस्तु-स्वरूप-का शोधार्थी

जो सुने वह श्रावक है, जो सवकी सुने वह श्रावक है, जो सुनते हुए सत्य की खोज़ करते हुए ऊबे-थके न वह श्रावक है, जो सुन कर तुरत प्रतिक्रियावन्त न हो वह श्रावक है। असल मे श्रावक सुनते हुए भी शान्त रहता है और अनावश्यक सघर्ष/कटुता खड़ी नही करता, किन्तु इस वात को साफ-साफ समझ ले कि उसकी इस सहिष्णुता-प्रेरित श्रव्यता की पृष्ठभूमि पर कायरता नही है, वल्कि अपरपार क्षमा है, वह जान रहा है, या उसे जानना

चाहिये कि वक्ता जो कह रहा है वह इसलिए ऐसा कह रहा है कि चूँकि वह सबन्धित विषय के बहुत सारे मुद्दो से वाकिफ नही है, मात्र अपने किचित् स्वार्थवश ही वह कोई गलत या स्वानुकूल वक्तव्य दे रहा है-ऐसा/इस तरह जान लेने पर हमें उसके अज्ञान पर क्रोध (वह भी रचनात्मक) आयेगा, उस पर नही, वास्तव मे हम कभी वस्तु पर क्रोध नही करते वस्तुत्व पर ही छोटी-मोटी झुँझलाहट मन मे लाते है। एक श्रावक वस्तु के स्वरूप को समझने की कोशिश करता है; जो श्रावक हाथ-पर-हाथ रखे बैठा है और वस्तु-स्वरूप को नही खोज रहा है, वह श्रावक नही है। श्रावक वह है असल मे जो वस्तु-स्वरूप का लगातार पीछा कर रहा है, या उसके अनुसंधान के लिए प्रतिक्षण कमर कसे खडा है। जैन तपश्चर्या का अर्थ ही है वस्तु-स्वरूप का विवेकपूर्वक अनुसधान।

श्रावक जीवन-चर्या में विवेकी

समय की इस संधि पर हमे चाहिये कि हम एक श्रावक/अच्छे नागरिक होने के नाते यह देखे कि हम रोजमर्रा के जीवन मे विवेक का पूरा-पूरा उपयोग कर रहे है, या नही कर रहे है ? कही ऐसा तो नहीं है कि जो उसूल अब तक हमारा मार्ग रोशन कर रहे थे वे हमे मँझधार मे छोडकर आगे बढ गये है ? कही हमने उन उसूलो को सिर्फ पढने-पढाने/व्याख्यान देने की वस्तु तो नही बना लिया है और अपने चरित्र और कथन के बीच फासला खडा कर दिया है ?

हम यह भी सोचे कि क्या हम जो कुछ कर रहे है उसकी वजह से हमारे अपने साथी/पडोसी को तो कोई हानि नही पहुँच रही है ? कही ऐसा तो नही है कि हम अपने असंतुलित/विकृत खान-पान और रहन-सहन के कारण प्रकृति के लाखो-लाख वर्ष मे बने संतुलन को कोई साघातिक चोट पहुँचा रहे है ? हम जाने कि सहअस्तित्व के अपने सकल्प/वायदे से हम लगातार हट रहे है।

श्रावक द्वारा क्रान्ति की शुरूआत खुद से

आज जो बुनियादी मुश्किल हमारे सामने है वह यह कि हमने बडे-बडे मसलो और मुद्दो पर तो विचार करना शुरू कर दिया है, किन्तु हम उन मसलो/मुद्दो को भूल बैठे है, जो मुख्य है, किन्तु छोटे है। हम सिन्धु की चर्चा/समीक्षा तो बडे गौरव/गहराई से कर रहे है, किन्तु विन्दु की कराह को सुन नही पा रहे है। इसी तरह हम भीड़ पर तो ध्यान दे रहे है, किन्तु व्यक्ति हमारी आँख से लगातार चूक रहा है। याद रखे कि अव जो भी क्रान्ति, या परिवर्तन आयेगा वह व्यक्ति-पर-आधारित होगा, यानी हमे दीया चौराहे पर जलाने से पहले अपने चूल्हे के करीव उसे जलाना होगा, द्वार-देहरी पर उसे रखना, प्रज्वलित करना होगा। क्या हम अव भी चौराहे की जगह अपने घर के अँधियारे को दूर करने की कोशिश नही करेगे ? क्या हम इस मर्म को कभी समझ पायेगे कि समाज व्यक्तियो के समूह से वनता है अत अपना

काम वहीं से शुरू करें ? हमें चाहिये कि निज को/निजता को टटोले और वक्त रहते खुद से सवाल करे और देखे कि हमारी अपनी भूमिका इस दुनिया को बेहतर बनाने मे क्या है/क्या हो सकती है ? हम क्या कर सकते है उन बुराइयो/विकृतियो को धकेल बाहर करने मे जो लगातार हमारे इर्द-गिर्द गिद्धो की तरह झुण्ड बनाये मँडरा रही है ? हमारा सकल्प होना चाहिये कि हम निज को / निजता को टटोलेगे और खुद के भीतर कही/किसी सिरे से क्रान्ति की शुरूआत करेगे। ('प्रश्न-दर-प्रश्न' श्रावकाचार, मार्च-अप्रैल, '८५) △

पूजा में परिवर्तन के कारण

पूजा का आरम्भ कब हुआ, क्यो हुआ -इन सवालो के उत्तर अब जरूरी नही रह गये है, ज़रूरी वस्तुत यह है कि हम देखे कि पूजा का जो रूप आज चलन मे है उसका जैनधर्म और दर्शन की मूल स्थापनाओं और मान्यताओ से कितना तालमेल है ? इतिहास को सामने रख कर हम यह अवश्य देखे कि पूजा मे जो परिवर्तन लगातार होते गये, उनके कारण क्या थे ? क्या वे सारे कारण आज ज्यो-के-त्यों मौजूद है या उनकी पकड अब ढीली पड़ गयी है ? यदि अब वे अप्रासंगिक हो गये है तो उन्हे शव की तरह फिजूल ढोने मे कोई तुक नही है। जीवन मे, विशेषतया धार्मिक जीवन मे, विवेक की आवश्यकता आज सर्वाधिक है।

पूजा मलिनता को धोने की आध्यात्मिक प्रक्रिया

सस्कृत मे 'पूजा' शब्द जिस धातु से बना है वह है 'पू', जिसके कई अर्थ है एक है 'पवित्र होना'। सोचे, पवित्र किसे होना है, पूज्य को या पूजक को ? उत्तर होगा पूजक को, अर्थात् पूजक अपवित्र है या अपने दिन-भर के प्रपच मे उसके हाथो प्रमादवश ऐसा कुछ हुआ है जिससें उसकी पवित्रता टूटी है। पूजा इस अपवित्रता या मलिनता को धो डालने की आध्यात्मिक प्रक्रिया है। पूजा मे जिन वस्तुओ का इस्तेमाल हम करते है, वे गौण होती है, मुख्य होता है असल मे अपनी अस्वच्छताओ/मलिनताओ का भान, उनका परिष्कार, उनका प्रक्षालन। जब हम जिन-विम्ब का अभिषेक या प्रक्षाल करते है, तब क्या हम जिनेन्द्र भगवान् की मलिनताओ को धोते है, या उस माध्यम से अपनी मलिनताओ के प्रति अपना 'नेत्रोन्मीलन' करते है ?

वास्तव मे ये ही वे क्षण होते है जन हमे आत्मनिरीक्षण का अवसर मिलता है, हम देख पाते है कि यह जो पूज्य है, उसमे और हममे क्या फर्क है ? अभिषेक मे हम जिनत्व के विल्कुल नजदीक होते है और इसीलिए तुलना का बहुत अच्छा मौका हमे मिल जाता है। यह वात विल्कुल अलग है कि हम इस अवसर का लाभ न उठाये और जिस तरह दुर्लभ मनुष्य-जन्म को व्यर्थ कर देते है, उसे भी निरर्थक कर दे।

पूजा में पूज्य/आराध्य का तुलनात्मक अनुचिन्तन

पूजा के क्षणो मे हमे औपचारिक होने की बजाय अत्यन्त अनौपचारिक, अर्थात् आत्मीय होना चाहिये और पूजा/आराध्य के गुणों का तुलनात्मक अनुचिन्तन करना चाहिये ताकि पता लगाया जा सके कि हमारी यात्रा की सार्थकता/गुणवत्ता कितनी/कैसी है और अभी हमारा गन्तव्य कितने फासले पर है ? जब तक हमे अपने लक्ष्य का स्पष्ट बोध नहीं होगा, हमारे सारे प्रयत्न व्यर्थ होगे, अत पूजक को सबमे पहले यह जानना होगा कि उसका लक्ष्य क्या है ? क्यो कर रहा है वह यह सब ? क्या तालमेल है इस सबका उसके लक्ष्य से ?

पूजा का अर्थ परिमार्जन भी

'पू' का दूसरा अर्थ है 'मॉजना' के मायने सब जानते है। सब जानते है कि हम किसी चीज को क्यों माँजते है ? आज तक यह नहीं देखा गया कि कोई उजली-धौली/साफ-सुथरी/दीप्तिमान् वस्तु को मॉजने बैठा हो। जब तक ऐसा नही लगता कि जिस वस्तु को माँजा जा रहा है, उसका मूल रूप ढॅक गया है, धूमिल पड गया है तब तक कोई उसे माँजने का कष्ट नही उठाता, इसलिए जब 'पू' धातु का एक अर्थ माँजना है तब हम यह देखे कि हमे माँजना क्या है ? 'माँजना' संस्कृत के 'मज्जन' का रूपान्तर है। मज्जन का अर्थ है स्नान करना। अब दो बातें स्पष्ट हो गयी कि पूजा मे हम दो चीजो को मॉजते है शरीर को, आत्मा को। शरीर को तो हम नहा-धो कर साफ कर लेते है। चूँकि वह रोज ही मलिन होता है अत हम उसे यथाक्षण मॉज कर समायोजित कर लेते है। शरीर को उसकी मलिनताओ से मुक्त करने के दो उपाय है नहाया जाए, यदि मल/मैल भीतर कही संचित हुआ है तो कोई उपचार लिया जाए। चूँकि शरीर धर्म-साधना का एक प्रमुख साधन या निमित्त है, अत उसका स्वस्थ रखा जाना जरूरी है। जिस तरह धर्माचरण के लिए स्वस्थ शरीर अपरिहार्य है, ठीक वैसे ही धर्म के लिए धार्मिक है।

पूजा की संपूर्ण यात्रा स्थूल-से-सूक्ष्म-की-ओर

पूजा की प्रक्रिया मे दूसरा और क्या है जिसे माँजना आवश्यक है ? देह को मॉजने-भर से हमारा काम खत्म नही हो जाता, बल्कि उस बिन्दु से तो वह शुरू होता है। जाने हम कि पूजा की संपूर्ण यात्रा स्थूल-से-सूक्ष्म-की-ओर है। हम देखते है कि आत्मा पर तामसिकता/कर्ममल की पर्ते चढ गयी है/चढती गयी है, इसीलिए देह को मॉजते-माँजते विदेह (आत्मा) को मॉजने का ख्याल हमे हो आया है। तामसिकता के सघन होने की प्रक्रिया आकस्मिक नही है, जन्म-जन्मान्तर की है। पूजा में हम तमस् के इस घनत्व-की-घातकता का अनुभव करते है और चाहते है कि उसे हटाया जाए। आत्मा को उसकी स्वाभाविकता मे लौटाना, उसे वैभाविकता से मुक्त करना ही उसे माँजना है। पूजा यानी

स्वदेश लौटने का पुरुषार्थ, अर्थात् विदेशी सत्ता का खात्मा। शरीर विदेश है, आत्मा का आत्मा मे लौटना उसका स्वदेश है । मोक्ष का अर्थ आत्मा की प्रभुसत्ता का परिपूर्ण आविर्भाव है। स्वाधीनता के इस क्षेत्र मे लौटने का प्रयत्न है पूजा। यही माँजना है।

पूजा मुक्ति का साधन

हम तनिक रुके और सोचे कि हम मूर्ति/बिम्ब का जो हमारे सम्मुख पूज्य के प्रतिनिधि-रूप मे समुपस्थित है, क्या उद्देश्य है ? सिर्फ यही न कि इसे देखते ही हमारे चित्त पर यह उभर आये कि 'यही मेरा रूप भी है, इसमे और मुझमे कोई अन्तर नही है। मै भी तो ऐसी/इतनी अनन्त शक्तियो का अखूट खजाना हूँ।' यह आत्मबोध ही आत्मा के परिमार्जन/उसके माँजने की प्रक्रिया है। आत्मा को देह के वशीभूत मानना मलिनता है, जिन-बिम्ब को देखते/पूजते यह लगना कि वह स्वाधीन है, देह से परे एक स्वतन्त्र सत्ता है-निर्मलता है। पूजा का लक्ष्य बँधना नही है, मुक्त होना है। पूजा मुक्ति का साधन है, क़ैद का कारण नही है। जो लोग इस रहस्य को जान कर पूजा करते है, वे ही उसकी सार्थकता से परिचित है, जो नही जानते वे भ्रम मे है। पूजक को यह साफ-साफ जान लेना चाहिये कि पूजा साधन है, साध्य नही है, साध्य यदि कुछ है तो वीतरागता है, अत पूजा की औपचारिकता मात्र विनयवश है, जो वीतरागता के केन्द्र-बिन्दु पर टिकी है।

पूजा मे प्रयुक्त 'पू' धातु का एक और महत्वपूर्ण अर्थ है-'फटकना'। सवाल उठता है कि पूजा मे फटकना क्या है ? फटकने की लौकिक क्रिया है सूपडे मे धान, दाल आदि को लेना और उसे इस तरह चलाना कि भूसा या छिलका बाहर फिक जाए और जो सारवान् है वह बच रहे। पूजा मे हम साराश को प्राप्त करने के लिए तन-मन को फटकते है।

पूजा मिथ्यात्व और सम्यक्त्व के भेल को फटकने की अचूक प्रक्रिया

यह जानना जरूरी है कि हम जिस रूप मे है, वह मिश्रित/श्लिष्ट है। आत्मा और शरीर की युति इतनी विशिष्ट और श्लिष्ट है कि दीख नही पडता कि मुख्य शरीर है या आत्मा है। कुछ लोग शरीर को आत्मा और कुछ आत्मा को शरीर की तरह भंगुर मान कर चलते है/चले है, किन्तु पूजा और स्वाध्याय मे हम इसी भ्रान्ति को फटकते है या दूर करते है-दूर करने की कोशिश करते है। भक्ति के माध्यम से हम ऐसी स्वस्थ मानसिक प्रक्रिया मे आने लगते है कि हमे सूझ पडे कि शरीर अलग है और आत्मा अलग। जब इस तरह दिखायी देने लगेगा तभी तो हम अलगायेगे इन्हे-यदि हम अलगाव को महसूस ही नहीं करेंगे तो जो [illegible] आवरण इन्हे अलग किये हुए है उसे हटा या उठा कैसे पायेंगे ?

देखा जाए तो पूजा का असली काम है मिथ्यात्व पर से पर्दा हटाना और सम्यक्त्व को रोशन करना। पूजा मिथ्यात्व और सम्यक्त्व के भेल को फटकने की अचूक प्रक्रिया है।

इसमे जो 'नि सही' शब्द आता है, वह भेद-विज्ञान का प्रतिनिधि शब्द है। 'नि.सही' कहते ही हमारा ध्यान भेल/मिश्रण की ओर चला आता है और हम आत्मा से लिपटी सासारिकता को फटकने का पुरुपार्थ करने लगते है।

यहॉ 'फटकना' शब्द वेहद सार्थक है। किसी सत ने कहा है कि साधु/साधक का स्वभाव होता है बिल्कुल सूपडे की तरह। वह ससार को फटकना है और सार को ग्रहण करता है। जो लोग पूजा के पंचोपचार से चिपके है. वे खाली मुट्ठी वने रहते है, किन्तु जो इससे तनिक आगे जाते है, उन्हे अलभ्य कुछ प्राप्त होता है। उनकी स्थिति दयनीय है जो औपचारिक हैं, किन्तु जो जितनी वार पूजा मे खडे होते है, उतनी ही वार एक नयी आध्यात्मिक स्फूर्ति और ताजगी ले कर आते है, अनुकरणीय है।

पूजा का अन्तिम पड़ाव मुक्ति

पूजा का मूल उद्देश्य ही यह है कि हम शरीर और आत्मा, मिथ्यात्व और सम्यक्त्व, भंगुर और ध्रुव के भेल को पहिचाने, उसे फटके, उसे पृथक् करे। पूजा मे कुछ समय तो हम अनुकरण मे चल सकते है, आजीवन मात्र यही करते रहे तो कोई मतलव नही है। पहले अनुकरण, फिर बोध, फिर पुरुषार्थ-पूजा मे हम इस क्रम मे चलते है/चल सकते है। जो लोग यह मानते है कि पूजा की राह बहुत आसान है, वे भ्रम मे है। पूजा की डगर मधुर है, किन्तु आसान नही है। जो चीजे कडवी होती है, वे कठिन ही होती है, ऐसा नही है बल्कि देखा यह गया है कि जो वस्तुएँ मीठी होती है, जो स्थितियॉ मधुर होती है, वे अधिक अगम और मुश्किल होती है। माधुर्य से मुक्त होना कठिन होता है, कडुवाहट से तो लोग उदासीन रहते ही है, अत भक्ति हम करे, किन्तु 'भक्ति' के लिए नही 'मुक्ति' के लिए . पूजा का अन्तिम पडाव मुक्ति है-इस तथ्य पर हम रुकें, सोचे, कुछ देर तक रुके और कुछ गहरे उतर कर सोचे। **('पूजा' के अर्थ', पूजा विशेषांक, अगस्त-सितम्बर, '८५)** △

जैविकी : जैनागम में विपुल सामग्री

'जैविकी' के लिए अंग्रेजी मे 'बायोलॉजी' शब्द प्रयुक्त होता है। जैविकी की दो शाखाएँ है- वनस्पति-विज्ञान (बॉटनी), प्राणि-विज्ञान (जूलॉजी)। जैनागम मे ऐसी विपुल सामग्री बिखरी पडी है, जिसे इन दोनो शाखाओ के अन्तर्गत सज्जित/सयोजित किया जा सकता है। 'जैन जैविकी-विशेषांक' के माध्यम से हम उस वैभव की कुछ बानगी देने की कोशिश कर रहे है। यह उस विज्ञान-सिन्धु का एक नगण्य बिन्दु-मात्र है।

जैन शास्त्रो मे छह द्रव्य माने गये है जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल। जीव-द्रव्य पर दिगम्बर/श्वेताम्बर-दोनों ही शास्त्रों और सूत्रो मे विस्तार से चर्चा-समीक्षा हुई है। आश्चर्य का विषय यह है कि यह सारी सामग्री जन-स्तर पर जनवाणी मे दी गयी

है। यदि हम काल-निर्धारण की जटिल प्रक्रिया मे न उलझे तो पायेगे कि कम-से-कम इस सामग्री को अस्तित्व मे आये दो हजार वर्ष से ऊपर हो गये है। भगवान् महावीर इतिहास-पुरुष है। वहाँ तक इतिहास की सवेदनशील-प्रामाणिक अँगुलियाँ जा लगती है। दार्शनिक अरस्तू महावीर से कनिष्ठ होता हुआ भी उनका समकालीन था। उसने भी 'साइकी' के रूप मे जैव तत्त्व का वर्णन किया है। जैनागमो मे जीव द्रव्य का विस्तार से वर्णन हुआ है, उतने ही विस्तार से परमाणु/पुद्गल का। सारा ब्यौरा वैज्ञानिक है; यदि एक बार हमारे वैज्ञानिक उसे प्रयोगशाला मे ला कर पुष्ट करे तो विश्व भर के वैज्ञानिक अचभे मे पड जाएँ।

जहाँ जैनागमो मे एक ओर जीव-तत्त्व के स्वरूप को गहराई से खोजा और परिभाषित किया गया है, वही दूसरी ओर उसके वर्गीकरण और विस्तार को भी पूरी वैज्ञानिकता के साथ जानने के प्रयत्न किये गये है। क्या हम अपने इस दुर्लभ खजाने को कभी बाहर ला पायेंगे?

सर्वसाधन-संपन्न केंद्रीय प्रयोगशाला की आवश्यकता

एक इलाका जैनाचार्यों द्वारा प्रतिपादित उन तथ्यो का है जो वैज्ञानिक तो है, किन्तु जिन्हे प्रयोगशाला मे पुष्ट नही किया जा सका है। यह नही कि जैन समाज के पास अच्छे चिकित्सक, औषध-विज्ञानी, गणितज्ञ, भौतिकीवेत्ता, रसायनशास्त्रज्ञ, जीव-विज्ञानी और वचस्पति-शास्त्री नही है, किन्तु सव रूठ कर या तो विदेश गये है या भारतीय विश्वविद्यालयो मे रोटी-रोजी से जा लगे है-समाज मे उन्हे वह प्रतिष्ठा नही मिल सकी जिसके पात्र वे थे। क्या यह संभव नही है कि हम देश मे एक ऐसी सर्वसाधन सपन्न केन्द्रीय प्रयोगशाला स्थापित करे जिसमे जैन समाज के शीर्षस्थ वैज्ञानिको को पूरे सुविधा-साधन उपलब्ध कराये जाएँ और फिर उन सारे तथ्यो को जो 'तत्त्वार्थसूत्र-जैसे ग्रन्थो तथा उसकी टीकाओ मे भरे पडे है, पुष्ट किया जाए? आहार और पेड-पौधो/जीव-जन्तुओ को ले कर भी कई तथ्यो को पुष्ट करना जरूरी है। वनस्पति-जगत् को लेकर जो जानकारियाँ सामने आयी हे, अभी भी जैनो के पास उनका व्यापक और परिपूर्ण सकलन ही नही है, पुष्टिकरण की पहल तो दूर की वात है। क्या हम वर्तमान शताब्दी के खत्म होने और इक्कीसवी सदी के आरभ होने से पहले ऐसा उल्लेखनीय कुछ कर पायँगे तो हमारी अस्मिता की रक्षा कर सके? ('जैन वैविकी', फरवरी-मार्च '८६) △

तीर्थंकर शुद्ध परमाणु-विज्ञानी

तीर्थंकरो ने न केवल परमाणु पर विचार किया है अपितु पूरे लोक (यूनीवर्स) की सघटना पर चिन्तन किया है। लोक-रचना के संवन्ध मे उनके विचार पढ़ कर तो ऐसा लगता है कि जैसे वे शुद्ध परमाणु-विज्ञानी थे और इस लोक के कण-कण को जानते थे। परमाणु, पदेश, समय इत्यादि की जो विवेचनाएँ जैनागम मे हुई है वे अपूर्व है आश्चर्यजनक

उनमे और आज की भौतिकी के निष्कर्षों मे काफी साम्य है। जब हम पढते है कि लोक का अन्तिम रचक घटक परमाणु इन्द्रियग्राह्य नही है, तब हमारा ध्यान इस तथ्य पर भी जाता है कि आज की भौतिकी भी इतनी प्रगति के बाद परमाणु को कहाँ देख सकी है। वह उसकी गतिविधि से ही उसे जान पायी है। जिसे एटम कहा जा रहा है वह वस्तुत परमाणु नहीं है, स्कन्ध है, मॉलीक्यूल है। आज जो पारमाण्विक ऊर्जा उपलब्ध हुई है, वह स्कन्ध के विखण्डन से प्रकट हुई है। जैनदर्शन मे जिस प्रक्रिया को 'भेद' कहा गया है, भौतिकी ने उसे 'फिसन' कहा है; 'संघात' के लिए विज्ञान ने 'फ्यूजन' शब्द का इस्तेमाल किया है।

स्पष्टत जिन लोगो ने हजारो-हजार वर्ष पूर्व लोक-के-स्वरूप और उसकी सरचना पर गहन विचार किया था, वे अपने युग के पारगत विचारक थे। उनमे जिज्ञासा की अबुझ/अदृप्त आग थी। वे परम आध्यात्मिक साधक थे। उस समय उनके मन मे कई मूलभूत प्रश्न उठ खडे हुए थे। मसलन . यह लोक क्या है ? इसकी रचना करने वाले घटक क्या है ? ये अविनाशी है, या विनाशी ? क्या चेतन और अचेतन दो अलग-अलग अस्तित्व है ? क्या चेतन अचेतन और अचेतन चेतन मे रूपान्तरित हो सकता है ? क्या अन्तिम इकाई तक पहुँचा जा सकता है, जिससे इस विश्व की रचना हुई है ? काल (टाइम) क्या है ? दिक् (आकाश/स्पेस) क्या है ? गति-स्थिति की समस्याओ का क्या समाधान है ? क्या द्रव्यमान को ऊर्जा और ऊर्जा को द्रव्यमान मे परिवर्तित किया जा सकता है ? क्या विश्व के भिन्न-भिन्न पदार्थों को बनाने वाले परमाणु अलग-अलग है, या कोई अन्तिम कण (परमाणु) है जो इन सबकी रचना के लिए उत्तरदायी है ? इन सारे प्रश्नो पर तीर्थंकरो के बहुत स्पष्ट/असदिग्ध विचार थे, जो उन्होंने अपने-अपने युग मे अपने-अपने गणधर को दिये। ये गणधर एक तरह के जीवित सगणक ही थे, जिन्होने उस अपार/स्थायी सपदा की अक्षुण्ण परवरिश की।

जैनागम के तथ्य धार्मिक होने पर भी वैज्ञानिक

तीर्थंकरो ने पुद्गल परमाणु के स्वरूप पर गणितीय पद्धति से विचार किया। उनका यह निरूपण कोरी कल्पना या अनुमान नही है, विशुद्ध विज्ञान है, इतना/ऐसा कि आज की भौतिकी के अनगिन निष्कर्षों से तालमेल रखता है। लगता है कि जो उन्होने कभी कहा था, वह संपूर्ण यथार्थ की धरती पर अपने पाँव टिकाये हुए था, काल्पनिक नही था। प्रश्न उठता है · उन्होंने यह सब कैसे जाना ? जैनागम के पास तो इसका उत्तर है, किन्तु वह धार्मिक है। धार्मिक वह भले ही हो; किन्तु उत्तर के धार्मिक या रूढ होने से उसकी वैज्ञानिकता पर कैसे कोई असर पड सकता है, अत परम्परा से प्राप्त तथ्यो पर अविश्वास का कोई कारण नहीं है। हम यह मानते है कि हमे तथ्यो को खीचतान कर तिकोन मे चौकोर को बिठाने की भूल नहीं करनी है, किन्तु चौकोर मे बैठे चोकोर की अनदेखी भी नही करनी है।

जो लोग यह मान कर चलते है कि धर्म, अध्यात्म, और विज्ञान तीनो तीन जुदा अस्तित्व है, उनमे परस्पर कोई रिश्ता नही है, वे गलत है। धर्म का जो रूप आज हमारे सामने है, वह विकृत और सडा-गला रूप है। वस्तुत इसका विचार, विज्ञान, या दर्शन से अब कोई सीधा सवन्ध नही रहा है। कर्मकाण्ड धर्म नही है, धर्म एक स्पष्ट जीवन-विज्ञान है। वह जीवन को अध्यात्म-के-अनुरूप ढालने की सर्वोत्तम कला है तथा विज्ञान धर्म/दर्शन द्वारा व्यक्त/प्राप्त तथ्यो की प्रत्यक्षता का शास्त्र है।

जैनधर्म और विज्ञान के बीच स्पष्ट संवाद की आवश्यकता

हमारी कोशिश है इस विशेषाक द्वारा कि जैनधर्म और विज्ञान के बीच कोई स्पष्ट सवाद वने। वस्तुत मध्ययुग एक अंधायुग था, जिसमे हमारे धर्मगुरुओ ने जैनधर्म की वैज्ञानिकताओं को अन्धविश्वासो और कर्मकाण्डो से ढँक दिया। जैनधर्म की तर्क और गुणवत्ता को इस तरह ढँक कर उन्होंने अच्छा नही किया-कारण जो भी रहा हो, किन्तु सच है कि मध्ययुग मे जैनधर्म और दर्शन के असली चेहरे पर जाने-अनजाने एक दुर्भाग्यपूर्ण काला पर्दा पड गया। लोगो को तन्त्र-मन्त्र/टोने-टोटको और व्यर्थ के कर्मकाण्डो मे उलझा दिया गया। लोग समझ ही नही पाये कि वे किस दिशा मे ले जाये जा रहे है; किन्तु धर्मगुरुओ ने जैनधर्म के रथ को अनजाने मे एक अधी गली मे हाँक दिया।

आज मुश्किल यह है कि हम अंधी गली से पुरजोर कोशिश पर भी बाहर नहीं आ पा रहे है। जैनधर्म और दर्शन की वैज्ञानिकताओ पर अधकचरे स्वार्थी पडितो ने लील लिया (सबने नही) ऐसे लोगो ने जो स्वाध्याय की चौकियो पर बैठ कर बड़ी ऊँची-ऊँची बाते तो करते रहे, किन्तु जीवन मे कई विसगतियाँ के शिकार हुए।

विज्ञान और जैनदर्शन की द्रव्य-मीमासा मे फर्क सदर्भों का है। जैनदर्शन ने पुद्गल परमाणु पर अध्यात्म के संदर्भ मे विचार किया है ओर विज्ञान ने भौतिक/पार्थिक सदर्भ मे। विज्ञान की प्रयोगशाला स्थूल है, जैनदर्शन की प्रयोगशाला प्रच्छन्न ओर सूक्ष्म है। जैनदर्शन मे जीव-पुद्गल के सवन्धो पर ही विचार हुआ है। यदि परमाणु-विज्ञान को अध्यात्म से हटा कर मात्र भौतिकी की ओर ले जाया गया होता तो परिमाण विलकुल ही भिन्न होते। वैदिक काल मे ऐसे प्रयोग हुए है। उस युग मे/उससे पहले भी पारे से सोना वनाने के प्रसग आये है, किन्तु जैनदर्शन मोक्षशास्त्र है, वह ससार-शास्त्र नही है, इसीलिए उसका सारा विज्ञान मुक्ति पर केन्द्रित है।

आत्मा से चिपके कार्मण परमाणुओं का तपश्चर्या द्वारा पृथक्करण

जिस तरह परमाणु के नाभिक पर आक्रमण करके उससे चिपके कणो को वियुक्त करने के लिए आण्विक भजक (एटॉमिक स्मेशर/पार्टिक्ल एक्सीलरेटर) का उपयोग होता है और

संबन्धित कणो के वियोग से अपरंपार ऊर्जा उत्पन्न होती है, ठीक उसी तरह आत्मा से चिपटे जिद्दी कार्मण परमाणुओ को तपश्चर्या द्वारा पृथक् करने का प्रयत्न किया जाता है, तव यह शरीर स्मैशर की तरह काम मे आता है। पृथक्करण की इस क्रिया को निर्जरा कहते है। इस तरह जो ऊर्जा उत्पन्न होती है, जैनागम में उसके कई जीवन्त वर्णन मिलते है। एटॉमिक स्मैशर मे जिस तरह यह सारी क्रिया विना किसी शोरगुल के सपन्न होती है, ठीक वैसे ही देह मे भी विदेह से पार्थक्य की यह क्रिया विलकुल शान्त/मौन सपन्न की जाती है।

अध्यात्म की छाया मे परमाणु-विज्ञान के जो रहस्य सामने आये है, उन पर आज की भौतिकी ऑख मूँद कर दस्तखत करती है। जैनदर्शन का यह निष्कर्ष कि द्रव्यमान और ऊर्जा एक ही है, विश्वविख्यात वैज्ञानिक अल्बर्ट आइन्स्टाइन के समीकरण (ई = एमसी) से मेल खाता है। धर्म और अधर्म द्रव्यों को ले कर क्रमश गति और स्थिति के माध्यमो की बात कही गयी है, इसे भी वैज्ञानिको ने स्वीकार किया है।

जैनदर्शन पृथक्करण का विज्ञान

इन सारे निष्कार्षों को बडी गहराई और उदारता से समझने/खोजने की जरूरत है। मूलत जैनदर्शन संसारी आत्मा से चिपटे पुद्‌गल परमाणुओ के पृथक्करण का विज्ञान है। जो परमाणु-शास्त्र इस पृथक्करण की आत्मिक ऊर्जा को प्रकट करने मे सहयोग करता है। जैनदर्शन का सबन्ध मात्र उतने से है, शेष का वर्णन हुआ अवश्य है, किन्तु जैनदर्शन का उससे सीधा सरोकार नही है।

'तीर्थंकर' का प्रस्तुत अक 'जैन भौतिकी' के अध्ययन का एक विनम्र सूत्रपात है, इस क्षेत्र मे वस्तुत उन लोगो को आगे आना चाहिये जिनकी जैन अध्यात्म और आधुनिक भौतिकी मे समान गति है, या जिन्हे दोनो का समान/सतुलित अध्ययन है। उनके इस तरह आगे आने से कई तुलनात्मक निष्कर्ष सामने आयेगे जिससे अंधेयुग का अवसान होगा और जैनधर्म एक नये युग मे प्रवेश कर सकेगा।(**'परमाणु-कथा', जैन भौतिकी, अग -सित '८६)** △

मिथ्यात्व और सम्यक्त्व के बीच स्पष्ट भेद-रेखा

जब तब हम मिथ्यात्व और सम्यक्त्व के बीच स्पष्ट भेद-रेखा नही डालेगे, तब तक कोई तथ्यान्वेषण सभव नही है। हमे देखना होगा कि मिथ्यात्व क्या है (कई बार हम अपनी कच्ची मनोभूम्रिका के कारण मिथ्यात्व को सम्यक्त्व मान कर एक झूठे अभिमान मे जीने लगते है) ? वस्तुत सम्यक्त्व जिसे उपलब्ध हुआ है उसके लिए भूत, पिशाच, डाकन आदि बेमतलब है। उसके लिए जादू-टोना/जतर-मंतर मे भला कोई सम्यक्त्व कैसे हो सकता है ? क्या कोई माणव-विद्या अध्यात्म-विद्या या स्वरूपचारण-के-विज्ञान का मुकावला कर सकती है ? असंभव ! ये यन्त्र-मन्त्र जितने/जो है, कुछ होशियार लोगो द्वारा

दुर्वल चित्त लोगो की ठगी और शोषण के साधन है-हाथ की सफाई या किन्ही नियोगो के कारण फैलाये गये भ्रम।

अमृत की खोज्र का राजमार्ग

जैनदर्शन की उपलब्धियाँ (विशेषकर वैज्ञानिक) उसे किन्हीं साधारण व्यक्तियो से प्राप्त नही हुई है, बल्कि उन लोगो से मिली है जिन्हे केवली कहा जाता है, जो 'वह' रहे है, जो मूलत है, या जो अब ज्ञानमात्र है, जिन्होने परमार्थ को उसकी संपूर्णता मे पा लिया है। आप ही सोचें कि जादू-टोने या जतर-मतर क्या दे सकते है उन्हे, जिन्होंने स्वय को पा लिया है, या जो स्वय को पाने के राजमार्ग पर पूरी गति से प्रस्थित हैं ? क्या ऐसा कोई तन्त्र-मन्त्र है जो मोक्ष प्राप्त करा सके, या मृत्यु के किसी पल को इधर-उधर खिसका सके ? नहीं है, फिर हम अपने सारे महत्त्व के काम छोड कर इनके पीछे क्यो पड़े है/क्यो पडते है ? हमें तो उस अमृत की खोज्र करनी चाहिये जो अन्धविश्वासो से परे सत्य की नींव पर सिर उठाये मुस्कराता खड़ा है।

तन्त्र-मन्त्र मात्र मतिभ्रम; अवैज्ञानिक

जादू-टोने/तन्त्र-मन्त्र मात्र मतिभ्रम है, उनका अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। यहाँ हमारा इशारा उन तमाम अवैज्ञानिकताओ की ओर है जो आदमी के साथ कपट करने के लिए खड़ी की गयी है, वे ऐसी अवैज्ञानिकताएँ है, जिन्होंने अपनी उपयोगिता और प्रासगिकता की व्याख्या करने के लिए वैज्ञानिकता के छद्म वस्त्र अक्सर पहने है। जादू-टोने हमारी तृष्णा के लिए सिर्फ मृग-मरीचिका सिद्ध हुए है वस्तुत उनका अपना कोई मौलिक अस्तित्व या महत्त्व नही है।

('माणव-विद्या', टोना-टोटका/जतर-मतर, फर -अप्रैल '८७) △

आचार्य की गुणवत्ता

आज आचार्यो की वहुत वड़ी भीड हमारे सामने है। सभी उम्रो के आचार्य है-कुछ जोड़-तोड से बने है, तो कुछ रातो-रात वन वैठे है। कुछ अघोषित आचार्य है, कुछ स्व-घोषित आचार्य है। देखना वस्तुत परिवर्तन के इन क्षणो मे यह है कि आचार्य की गुणवत्ता क्या है और यह कि उसे आज के कुछ तथाकथित आचार्य कितना/और किस तरह निभा रहे है ? क्या यह सभव नही है कि आचार्यत्व-की-कसौटियो पर आचार्यों की छान-वीन (स्क्रीनिग/स्कैनिग) की जाए ? अब यह वेहद जरूरी हुआ है कि 'आचार्य-वनने-की-इस वाढ' को तुरन्त रोका जाए।

साधुत्व की मौलिकता

'आचार्य' शब्द आज तेज़ाव के तेज घोल मे है (न हो तो हम उसे डाले) और उसकी

विश्वसनीयता संदिग्ध हुई है, इसीलिए हमने उस की वस्तून्मुख व्याख्या करने का यह संयोजन किया है और उन 'आचार्याभासो' की ओर इंगित किया है जिनकी वजह से उस की गरिमा धूमिल हुई है, कई गहन भ्रान्तियाँ फैली है, और उसे दुस्सह धक्का लगा है।

'साधु' एक ऐसा शब्द है जिसमे 'उपाध्याय' और आचार्य' शब्द आपोआप शरीक है। उपाध्याय और आचार्य वस्तुत. पदोन्नतियाँ है जो पदोन्नत होता है, उसकी मौलिकता कभी नष्ट नही होती-मूल तो उसका हर हालत मे बना ही रहता है। पानी अपनी स्वच्छताएँ छोड कर पानी नही रहता, ऐसा नही है-पानी तो वह हर हालत मे रहता है। इसी तरह साधु अपनी कमजोरियाँ, कहे अस्वच्छताएँ छोड कर जैसे-जैसे आगे बढता है, पूज्य बनता जाता है; किन्तु यह सभव नही है कि उसका साधुत्व ही लुप्त हो जाए। एक उपाध्याय उपाध्याय तो होगा ही, किन्तु उपाध्याय होने से पहले (और बाद को भी) साधु तो वह रहेगा ही, इसी तरह कोई आचार्य आचार्य-पद पर प्रतिष्ठित हो कर साधु नही रहता ऐसा नही है। साधुत्व तो उसकी मौलिकता है, वह तो प्रतिपल उसमे धडकेगी ही। इस्पात के कई छोटे-बडे बर्तन बन सकते है, किन्तु उसके छोटे-बडे रूपान्तरण मे इस्पात अनुपस्थित नही हो जाता। इस्पात हर हालत मे इस्पात रहता है, साधु हर हालत मे साधु रहता है-खील और स्क्रू अथवा पूरा यन्त्र इस्पात का होने पर भी सिर्फ नामभेद के कारण वह अपना 'इस्पातत्व' नही छोडता। एक स्क्रू रूपान्तरित हो कर कुछ और बन सकता है, किन्तु उसका इस्पात होना जारी रहता है। इसी तरह साधु के उपाध्याय या आचार्य बनने से वह साधु नही रहता ऐसा नही है। सबोधन के बदलने मे भी यदि आकिचन्य की अनुगूँज उसमे है तो इससे उसका गौरव/महत्त्व वढता है।

साधु-की-परिधि मे तन्त्र, मन्त्र, ज्योतिष, वैद्यक, उच्चाटन, वशीकरण इत्यादि नही आते, अत जो आचार्य यह सब करते/कराते है उन्हे ससक्त साधु कहा गया है। 'रयणसार' मे ससक्त (ससत्त) को पार्श्वस्थ (पासत्थ) की श्रेणी मे खडा किया गया है। उसे ससक्त (चरित्रभ्रष्ट) कहा गया है। 'भगवती आराधना' मे साफ-साफ शव्दो मे कहा गया है कि ऐसा साधु नट/अभिनेता से अधिक नही है। वह साधु नही, साधुत्व का व्यग्य है-मात्र अभिनय-प्रवृत्त नट। अ-यथार्थ साधु ऐसे ही साधुओ के लिए इस्तेमाल हुआ शब्द है।

हमे इन पिघले हुए क्षणो मे देखना होगा कि आज जो आचार्य वने, या बन रहे है, वे 'भाव आचार्य हे' या 'द्रव्य आचार्य' ? हमे आने वाले 'कल' और 'आज' के लिए 'भाव आचार्य' हे'/भाव साधु' की ज़रूरत हे ताकि हम उन सारी चारित्रिक विपदाओ का मुकाबला कर सके जो हमारा द्वार आज पूरे वल और झपट्टे मे खटखटा रही हे ओर हमे फाँसी के फन्दे पर पुकार रही है। ('अ-यथार्थ साधु', आचार्य लघु विशेषाक, जु -अग '८७) △

साधुमार्ग : मार्गों-का-मार्ग

इस उदाहरण से हम समझ सकेगे कि साधुमार्ग का अर्थ क्या है ? वह मार्ग जो मुक्ति के लिए मानक है, साधुमार्ग है। एक दूसरा अर्थ हुआ ऐसा मार्ग जो किन्ही साधुओ द्वारा प्रवर्तित है,साधुमार्ग है। तीसरा अर्थ हुआ ऐसा मार्ग जिसमे साधुओ को आदर्श माना जाता है साधुमार्ग है। एक चौथा सहज और प्रेरक अर्थ हुआ वह मार्ग जिसे देख कर और -और मार्ग स्वय को निर्विवाद, निष्कण्टक, और सोद्देश्य कर सके, साधुमार्ग है। अगर हम और ज्यादा आसान शब्दो मे इस शब्द के अर्थ को पकडना चाहेगे तो कहेगे कि ऐसी सडक जिस पर दूसरी सड़के चल सके अर्थात् मार्गों-का-मार्ग साधुमार्ग है।

उत्कृष्ट संयम के धरातल पर राजमार्ग

साधुमार्ग, जिसे हम 'सडको-के-लिए-सडक' कह सकते है, कठोर अनुशासन का मार्ग है। मर्यादाओ का परिपालन साधुमार्ग की प्रथम शर्त है। 'मर्या' का अर्थ सीमा-चिह्न है। साधुता के कुछ सीमा-चिह्न है, जिनका उल्लघन संभव नही है। ये सीमा-चिह्न/ मर्यादाएँ किसी अन्धी राह पर चलने वाले व्यक्ति द्वारा निरूपित नही है, बल्कि उन साधको द्वारा प्रवर्तित है, जिन्हे स्वानुभूति हुई और जो लगातार स्वय को विकसित करते रहे। जो आत्मोदय के पथ पर प्रतिपल जागते है, हम उन्हे साधुमार्गी कहते है। साधुमार्ग उत्कृष्ट सयम के धरातल पर खडा एक ऐसा राजमार्ग है जो व्यक्ति-मुक्ति से ले कर समाज-मुक्ति तक निर्विघ्न जाता है।

सत्यानुसंधान का मार्ग

स्वाध्याय की यह खूबी है कि वह स्वाध्याय-मे-प्रवृत्त व्यक्ति को समता की ओर ले आता है। समत्व एक अद्भुत ऋध्दि है। यह एक ऐसी अन्तर्दृष्टि है जिसके पाते ही माटी-सोना, सुख-दुख, जीवन-मरण. पुण्य-पाप, सम-विषम, हर्ष-विषाद के तमाम द्वन्द्व खत्म हो जाते है। इस दृष्टि के खुलते ही व्यक्ति आपोआप साधु-मार्ग पर आ जाता है। इस मार्ग को और इससे हो कर मिलने वाली मजिल को हम आत्म-समीक्षण द्वारा पा सकते है। समीक्षा का अर्थ हे अपने दोषो को तमाम स्तरो पर पहिचानना, उन्हे सीमित, शान्त, निष्क्रिय और निष्क्रमित करना। इस समत्व मे-से ही उपजता है सत्यानुसंधान, जिसका उल्लेख हम ऊपर कर चुके है।

सम्यक्त्वकी खोज्ञ सर्वोपरि

साधुमार्ग की सर्वोपरि विशेपता है सम्यक्त्व को खोजना और उसमे अविचल [illegible] सम्यक्त्व क्या है ? वस्तु-स्वरूप के बोध का नाम सम्यक्त्व है। 'क्या' क्या और [illegible] इसे जानने की कोशिश मे होता है. वही कर रहा होता है सम्यक्त्व के लिए [illegible]

प्रचलित भाषा मे इसे 'समकित' कहा गया है। समकित के बिना साधुमार्ग सूना है। जिसके हाथ में समकित की मशाल है। मानिये उसकी सारी राहे रोशनी से जगमगा रही है। मशाल की इस ज्योति मे वह किसी भी खतरनाक खाई, या मोड को देख सकता है। सम्यक्त्व न सिर्फ जीवन को संतुलित, संयत और नियमित करता है, बल्कि उसे अडिग, अचचल और अविकल भी बनाता है।

साधुमार्ग : सड़कों-के-लिए-एक-सड़क

जहॉ तक हम समझ पाये है साधुमार्ग क्रान्तिसह्य है। उसमे दम है कि वह मौलिकताओ को बरकरार रख सके और ऐसे परिवर्तनो को साकार कर सके जो वाकई उपयोगी और यथार्थमूलक है। यही कारण है कि वह अपने ढॉचे मे फूल की तरह कोमल है, बज्र की भाँति कठोर है; जहॉ करुणा और कोमलता चाहिये वहाँ वह वैसा है और जहाँ कठोरता और दृढता चाहिये वहाँ वह वैसा है। कहा जाता है कि यह मार्ग आज भी पद-लिप्सा और प्रदर्शन-की-अनावश्यक भूख से सुरक्षित होने के कारण जैनाचार की मौलिकताओ की रक्षा कर रहा है अन्यथा जो दूसरे मार्ग है वे विचलित हुए हैं और ललचा कर उन्होंने खरे-खोटे समझौते कर लिये है।

इन्ही कुछ कारणो से हम साधुमार्ग को 'सड़को-के-लिए-एक-सड़क' कहेगे यानी उसे 'राजमार्ग' के संबोधन से गौरवान्वित करना चाहेगे।

('रास्तो के लिए एक रास्ता', साधुमार्ग, सितम्बर-अक्टूबर '८७) △

एक-एक पद : एक-एक ग्रन्थ

जीवन के अन्तिम क्षण जितने महत्त्व के होते है, उतने पहले के नही। किसी पुस्तक का उपसहार जितना महत्त्व का होता है, उतना उसका उपोद्घात, आरम्भ या मध्य नही होता। निष्कर्ष में ही तमाम उत्कर्ष या अपकर्ष लिपटे होते है-पर हम ध्यान दे तब न ? विशेषाक मे जिन चौदह पदों को अर्थ-सहित दिया गया है, वे इतने महत्त्व के, और दिशा-दृष्टि देने वाले है कि यदि हम इन्हे अपने सूने क्षणो मे गुनगुनाये या अपने एकान्त का साथी बनाये तो ये हमे अभूतपूर्व वल प्रदान कर सकते है। इन्हे इस तरह से चुना गया है कि जीवन का एक परिपूर्ण अमृतघट हमारे कण्ठ के अन्तर्जगत् की घटनाओ के जीवन्त विवरण है।

काव्य मे यह महत्त्वहीन होता है कि वह कव रचा गया है ? महत्त्व का वस्तुत यह होता है कि उसमें क्या लिखा गया है-उसका सदेश क्या है ? दिये गये पदो मे क्रमश. देह, विदेह, भ्रमभंग, सम्यक्त्व, चिदानन्द, मनुष्य-जन्म आदि की महत्ता को प्रवर्तित किया गया है। एक-एक पद एक-एक ग्रन्थ है-ऐसा ग्रन्थ जो निर्ग्रन्थता का मार्ग प्रशस्त करता है।

('पद गुनगुनायें इन्हे', जैन पद-साहित्य, मार्च-अप्रैल '८९) △

जैन आहार-विज्ञान मे पग-पग पर अहिंसा का ध्यान

अहिसा का ध्यान रखने के कारण ही जैन आहार-विज्ञान मे पग-पग पर निर्जन्तुकता (प्रासुकता) का भी ध्यान रखा गया है। स्वाद-जय, हिंसा-अहिसा का विवेक, स्वास्थ्य रक्षा, सयम-वृद्धि इत्यादि कुछ ऐसे पहलू है, जिनका जैन आहार-विज्ञान से स्पष्ट, सीधा, और सघन सबन्ध है। हमे कोशिश करनी चाहिये कि न सिर्फ व्यक्ति के जीवन मे, बल्कि सामाजिक उत्सवो/समारोहो और पारिवारिक आयोजनो मे भी हम जैन आहार-विज्ञान के अन्तर्गत वर्णित सावधानियो, शर्तों और हिदायतो का यथासंभव परिपालन करे और मात्र कोरी शान या प्रतिष्ठा के लिए डॉक्टर कोपलैड के इस कथन को सही साबित न होने दे कि 'हम जो भी खाते है, उसके एक-तिहाई भाग पर हम जीते है और शेष दो-तिहाई पर चिकित्सको/वैद्य/हकीमो को रोटी-रोजी चलती है'।

('जायके से जूझिये', जैन आहार-विज्ञान, मई-जून '८९) △

तीर्थंकर-चिह्नों की गौरव-गाथा

तीर्थंकर-चिह्नो की गौरव-गाथा अपूर्ण-विलक्षण है। ये सिर्फ पहचान ही नही है, उससे आगे भी इनकी महत्ता है।

यदि सिर्फ पहचान या भेदकता ही उत्पन्न करनी होती तो तीर्थंकरो को क्रमाक दिये जा सकते थे। एक, दो, तीन, चार आदि कह कर भी इन्हे जाना-पहचाना जा सकता था। क, ख, ग, घ आदि भी इन पर उकेरे जा सकते थे, किन्तु शायद इससे मनुष्य की कूट या कला पिपासा तृप्त नही हो पाती। यह तो भेदकता का सिर्फ एक कामचलाऊ स्थूल ढाँचा होता कि हम उन्हे क्रमाक दे देते और जब पूजा आदि के लिए उपस्थित होते तब तदनुसार उनकी आराधना कर लेते।

वीतरागता

महत्त्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि चौवीसो तीर्थंकर समान हैं। उनके चरम रूप मे कहीं कोई अन्तर नहीं है। उनकी मौलिक्ताएँ एक जैसी है। जिसे वीतरागता कहा गया है, वह सबमे अलग-अलग नही है, एक है। हाँ, उसका अंकन कई तरह से हुआ है, हो सकता है, किन्तु कोई ऐसा सामान्य सूत्र है वीतरागता का जो उन्हे एक बनाये हुए है। वीतरागता की बारीकियाँ अनेक है, किन्तु उन सबको जानने वाले बहुत कम है।

सामान्यतया मूर्तियो मे अकित वीतरागता लगभग एक-जैसी होती है। यो तो मूर्तिकार के भिन होने पर वीतरागता के तराशने मे फर्क आयेगा, किन्तु एक औसत आँख को यह फर्क दिखायी नहीं देगा। जो मर्मज्ञ या विशेषज्ञ होगे मूर्ति-शिल्प और वीतराग-विज्ञान के, इन बारीकियो का कूटानुवाद वे ही कर पायेगे।

भेदक चिह्न

जब मौलिकता समान है, तब कौन मूर्ति किसकी है इसका पता पाना बहुत मुश्किल काम है, यही कारण है कि तीर्थकर की प्रतिमाओ को भेदक चिह्न देने पडे है। हाँ, यह सवाल बराबर सिर ताने हुए है कि तीर्थकर-प्रतिमाओ को जीव-निर्जीव सब प्रकार के चिह्न क्यो मिले ? क्या ये ज्योतिष के आधार पर हैं, या बाद को भेद करने के लिए इनकी कल्पना की गयी ? कठिनाई यह भी है कि चिह्नको का आविर्भाव पहले हुआ है- मूर्तियाँ बाद को आयी है। उन्हे चिह्नित करने की परम्परा तो और भी बाद को शुरू हुई।

वैविध्य में समत्व

इस वैविध्य मे जो समत्व धड़क रहा है, वह हमे अनेकान्त और स्याद्वाद-जैसी अवधारणाओ को समझने मे काफी मदद करता है, अत हमारा निवेदन है कि कोई दर्शनार्थी जब भी तीर्थंकर-प्रतिमाओ के दर्शन करे, वह सिर्फ उनके एकाश न देखे बल्कि सपूर्ण परिदृश्य का रसास्वादन करे। लॉछन या चिह्न को भी गौर से देखे और उसमें सन्निहित सदेश को अपने जीवन मे रूपाकृति दे, उसे आचरण मे लाये। ध्यान रहे, तमाम तीर्थंकर-चिह्न अर्थगर्भित हे। हमे मात्र इन अर्थों तक अपनी पहुँच नही बनानी है; बल्कि अपनी एकाग्र साधना मे इनके कूटार्थ भी खोलने है। उनके मर्म स्पष्ट करने है।

('शब्द घुटने टेक देते है जब', तीर्थंकर-चिह्न, जनवरी-फरवरी '९०) △

उत्सवों-की-उर्वरता

प्राय सब चाहते हे कि हम खानपान की समीक्षा करे ओर जो गिरावट हमारे चौके तक आ गयी है, या जिसने हमारी समकालीन/आगामी पीढी को विचलित/स्खलित किया है, उसकी चिन्ता करें तथा उस सिलसिले मे तुरन्त कोई सुनिश्चित उपाय करे।

सभी चाहते है कि उत्सव हो, किन्तु इन्हे कोई सुचिन्तित रचनात्मक और उपयोगितापरक मोड दिया जाए। उत्सवो-की-उर्वरता का पता लगाया जाए ओर उनका अधिकाधिक दोहन किया जाए। उत्सव या जश्न मनाये जाएँ, किन्तु उनमे-से जो साधन ओर निमित्त बने उनका बिना किसी [illegible] के सुनियोजित सामाजिक उत्थान मे उपयोग हो।

आचार-संहिता

[illegible] की फिक्र सबके मन मे है, किन्तु सर्वत्र एक तरह की किंकर्तव्य-विमूढ़ता है। किसी ने कहा [illegible] है कि शिथिलाचार की सत्य घटनाओ को उजागर [illegible] कहते है कि साधु-सभ्या घटे और अपने भावी आचार को [illegible] दीक्षा-विधि और साधुत्व-संबन्धी पात्रता

को स्पष्ट किया जाना भी प्राय सबको आवश्यक लगा है। एक सुस्पष्ट/अपरिहार्य आचार-सहिता के वारे मे आम सहमति दिखायी दी है।

धार्मिक शिक्षा

शिक्षा के बारे मे भी लोग चिन्तित है, किन्तु उनके सामने कोई राह शेष नही है। पुरानी सस्थाएँ सँभल नही पा रही है , नयी लगातार बन रही है। नयी भी किस तरह की और किस लक्ष्य को ले कर बन रही है, यह स्पष्ट नही है। धार्मिक शिक्षा के संदर्भ मे हमे विश्वास करना चाहिये कि जैन शिक्षाशास्त्री गभीरतापूर्वक एक मच पर आयेंगे और विचार-विमर्श करेंगे।

सर्वांग सर्वेक्षण

सही है कि अभी हमारे सामने समाज की कोई स्पष्ट तस्वीर नही है। संख्याद्योतक सही आँकड़ा भी सामने नही है, अत एक परिपूर्ण/सर्वांग सर्वेक्षण से इनकार करना कठिन है। वह तो होना ही है, कब होना है, कौन करेगा-बात सिर्फ इसके फैसले की है। साधनो का प्रश्न भी उठ सकता है, किन्तु औचित्य स्पष्ट होने पर साधन तो जुटाये जा सकते है।

प्रामाणिकता

आम जैन की प्रामाणिकता का तो ठीक से मूल्याकन ही नही हो पाया है, किन्तु विशिष्ट जैनो की प्रामाणिकता और विश्वसनीयता जिस तरह बुझती-डूबती नजर आ रही है, उसके बारे मे काफी गहरी/काली चिन्ता दिखायी दी है। कहा गया है कि जैन जन बैठ कर इस बारे मे भी कोई आचार-सहिता तय करे।

एकीकरण

एकीकरण का प्रश्न जटिल भले ही हो, किन्तु आज एक सुशिक्षित नव जैन अपने क़दम उस ओर जाने-अनजाने उठा चुका है, अत यदि हमने इस अपरिभाषित परिवर्तन को वक्त-रहते परिभाषित नहीं किया तो एकीकरण तो होगा, किन्तु वैसा शायद न हो पाये जो समाज की हर इकाई के हित मे हो, अत हमे चिड़ियाँ खेत चुग ले इससे पहले कोई बन्दोवस्त जरूर कर लेना चाहिये और लालटेन तथा लट्टू के समन्वय की कोई सशक्त पहल अवश्य करनी चाहिये। ('प्रतीक्षा', जैन जन-जागरण, मार्च-अप्रैल, '९१) △

वरक़ एक करारी चुनौती

वरक सिर्फ एक वस्तु नहीं है, वरन् एक महत्त्वपूर्ण मोड-बिन्दु है। वह एक करारी चुनौती ही नहीं है अपितु चुनौतियों का एक सघन पुंज है। अन्ध विश्वासो और अन्धी रूढियो से मुक्त होनेका एक संवेदनशील प्रस्थान-बिन्दु है वरक और उनका स्वरूप-समीक्षण।

वरक के सबन्ध मे हम जितना-जितना जानने को होते है, उतना-उतना उससे जुडी हिसक प्रक्रिया के बारे में भी जानने लगते है। यह प्रक्रिया जैनाचार के बुनियादी ढाँचे से असगत है। इससे जैनत्व की प्राणधारा का कोई लेन-देन नही है।

अहिंसक परिप्रेक्ष्य और संदर्भ में

आज जरूरी हुआ है कि हम न केवल वरक के बारे मे बल्कि इस तरह उत्पादित तमाम वस्तुओं के बारे मे, जिनमे हिसा होती है, सावधानी से विचार करे। चूँकि अहिसा मे हमारी अविचल आस्था है (ऐसा हमारा दावा है) और वह हमारे हर काम की जमीन है, अत· यह असभव है कि हम उसे बाला-ए-ताक रख कर जैनत्व को बनाये रख सकें।

जैनो को चाहिये कि वे अपने खानपान और धार्मिक क्रियाकाण्ड मे वरक़ का स्वप्न मे भी उपयोग न करे। (**'वरक़ छोड़े वरक़ जोड़े', वरक़ विशेषाक, अक्टूबर-नवम्बर '९१**) △

रेशम-में-हिंसा

जो चमकीला-सुन्दर रेशम हमारी देह की शोभा बढाता है, वह करोडो प्यूपी के खून-मे-सना होता है। क्या इस तरह का वस्त्र धारण कर हम किसी भी हैसियत मे इन्सान कहला सकते है ? वस्तुत मनुष्य वह है जो सहअस्तित्व मे परिपूर्ण आस्था रखता है और प्रकृति मे अवस्थित किसी भी अस्तित्व को आहत नही करता-उसके प्राणापहरण नही करता।

सहज प्रश्न है कि क्या रेशम पहिनना, या उसके उपयोग की कोई अनिवार्यता है ? क्या वह कोई ऐसी वस्तु है जिसके उपयोग मे न लाने पर हमारे प्राणो पर कोई सकट आ सकता है ? उत्तर है-नही। जो भी है शौकिया है। तो क्या हमे अपने शौक और दिखावे के लिए अरबो-खरबो प्राणियो के साथ इस तरह की क्रूर खिलवाड़ करनी चाहिये ? क्या हम अपने शौक और स्वाद पर सयम ला कर इन प्राणियो के प्राण नही बचाना चाहेगे ?

क्या यह सच नही है कि कर्नाटक और गुजरात के सैकडो जैन रेशम से संबन्धित उद्योग-धन्धों मे है ? क्या यह सभव नही है कि वे अपनी आजीविका की तटस्थ समीक्षा करे और जैनाचार की रोशनी मे हिसा से बचने के लिए अन्य वैकल्पिक स्रोतो को खोजे ? निश्चय ही कई विकल्प हमारे सामने है। कहा गया है कि 'जहाँ चाह, वहाँ राह'। जहाँ इच्छा होती है, वहाँ कोई-न-कोई मार्ग निकल ही आता है। प्रश्न उत्कट इच्छा और सुदृढ सकल्प का है। रेशम की जगह यदि हम सूती कपडे (विशेषत खादी) का उपयोग करते है, तो इस हिसा से तो बचेगे ही - अन्य अपवित्रताओ से भी अपना नाता तोड सकेगे।

('रेशम-मे-हिसा', रेशम-मे-हिसा विशेषाक, सित -अक्टूबर, '९२) △

पंचकल्याणक का नवार्थ

आज हम जिसे पचकल्याणक कह रहे है, वह एक निरा नाटक है- जब हम सम्यक्त्व मे सीधे पूरी जीवन्तता से प्रवेश कर सकते है, तब फिर हमे इस तरह के अर्थहीन नाटक अथवा अभिनय की क्या आवश्यकता है ? पचकल्याणक का सीधा-सादा अर्थ है तीर्थंकर का उसकी मुक्तियात्रा के दौरान पाँच सवेदशील पडावो से गुजरना। ये घटनाएँ आज सिर्फ विचार और अनुभूति है- ये है १ गर्भ २ जन्म ३ तप ४ ज्ञान ५. निर्वाण। आज तीर्थंकर नही हैं, अथवा सबन्धित महापुरुष नही है, तथापि उनका जीवन-दर्शन है, अत असली कल्याणक हुआ सबन्धित विचार का गर्भ मे आना, जन्मना, साधना बनना, तेजोमय होना तथा उसके प्रभाव मे, प्रच्छन्न अस्मिता अथवा निजता का प्रकट होना। जब तक हम पचकल्याणक के इस नवार्थ को जीवन मे प्रकट नही करेंगे, उसे लोकप्रिय नही बनायेगे- सामाजिक अथवा आध्यात्मिक क्रान्तिकी कोई किरण हमारे मन-आँगनमे उतरकर हमे अनुगृहीत नही करेगी।

क्या महामस्तकाभिषेक के इन सवेदनशील क्षणो मे हम सफेद तालाब के हँसो से अपना सवाद बनाने की कोई सार्थक कोशिश करेगे ? क्या हम बाहुबली के विश्व-विश्रुत विग्रह से भेद-विज्ञान का सदेश ग्रहण कर पायेगे ? सुनिये, ऐसा करने पर ही हमारी वन्दना मे विवेक-का-सगीत झकृत होगा। उसकी गूँज मे हमारा चित्त निनादित होगा।

('सफेद तालाब के हँस', महामस्तकाभिषेक, सित -अक्टू -नव '९३) △

ओम् का मूलभूत चरित्र आध्यात्मिक

'ओम्' का कोई सामाजिक पहलू है, इस कथन के विश्लेषण से पूर्व हमे इसके आध्यात्मिक पक्ष की भी बेलौस व्याख्या करनी चाहिये। 'ओम्' का मूलभूत चरित्र आध्यात्मिक है। वह ध्वनिमूलक है; लेकिन साथ ही वह एक ऐसा शब्द/अक्षर है, जो अपने प्रभावसे व्यक्ति और समाजमे आध्यात्मिक दृढता और स्थिरताको जन्म दे सकता है और एक ऐसे सामाजिक विवेक का सृष्टा हो सकता है, जो समाज का जर्रा-जर्रा धोये तथा तज्जनित निर्मलता को विश्व के नाडी-सस्थान मे दाखिल करे। वस्तुत 'ओम्' जिन नैतिक तत्त्वो से सबद्ध है, वे व्यक्ति को एक अविचल-उज्ज्वल चरित्र प्रदान कर सकते है। ध्यान रहे 'ओम्' मात्र एक आकृति नहीं है अपितु विश्व-जीवन का एक अपूर्व उद्घोष भी है।

'ओम्' को ध्यान से देखे। यह भारत की असख्य महान् आत्माओ से जुडा हुआ शब्द है। यह अव्यय है। यह अनेक महान् विभूतियो का प्रतिनिधि है। जब हम 'ओम्' जिन वर्णो से बना है- अ, उ, म् उन्हे ध्यान से देखते है तब पाते है कि ये वर्ण क्रमश ब्रह्मा, विष्णु, महेश से निष्पन्न हुए है। 'ओम्' इतिहास-चक्र है, जो क्रमश /स्वभावत घूमता है। 'ओम्'

का पवित्र स्मरण या उच्चारण लोक/आत्म-कल्याण दोनो को ऊर्जस्विता प्रदान करता है। 'ओम्' मे व्यक्ति/समाज दोनो के सांस्कृतिक अभ्युत्थान के लिए एक अपूर्व और अचूक आधार समुपस्थित है।

एक सार्थक जीवन-दर्शन

'ओम्' असल मे, एक सार्थक जीवन-दर्शन है, अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य आदि उसकी प्रमुख आधार-शिलाएँ है। यह साधना-मूलक जीवन-दर्शन है। सत्य की साधना, अहिसा की साधना, अस्तेय और ब्रह्मचर्य की साधना-समवेत्, अप्रमत्त, सावधान, प्रतिपल जागते हुए। ध्यान रहे · **जब पुरुषार्थ और साधना परिणीत होते हैं, तब दुनिया की तवारीख बदल जाती है; किन्तु आज व्यक्ति इतना स्वकेन्द्रित हो पड़ा है कि उसने अपनी परिधि में से अन्यों को दूध-में-पड़ी-मक्खी की तरह निकाल फेंका है।** 'ओम्' वस्तुत एक ऐसा 'वे ऑफ लाइफ' है, जो विश्व के हर अस्तित्व को-उसकी हर धड़कन को उसकी अपनी हैसियत मे यथास्थान बनाये रखता है तथा उसके विकास मे भरपूर सहयोग देता है। 'ओम्' की भुजाएँ उदार है, उसके कण-कण मे आत्मीयता का समदर हिलोरे भर रहा है।

विश्व-मैत्री का महामन्त्र

'ओम्' समतामूलक है। वह साधक को समरसता, सामजस्य और समत्व की ओर ले जाता है। वह संकीर्णताओ का अचूक समाधान है। 'ओम्' और तंगदिली दो परस्पर विरोधी ध्रुव है। 'ओम्' वसुधैव कुटुम्बकम् का पर्याय है। यह धरा-इसका कण-कण-सबके लिए है। धरती एक की नही, सबकी माँ है, जिसकी हर नैमत, हर दौलत सबके लिए है। वह निष्पक्ष है। उसके भीतर कोई पूर्वाग्रह नहीं है। 'ओम्' इस प्यारी धरती के टुकडे नही करता वरन् उसे रेशा-रेशा जोडता है। उसके गर्भ मे 'जियो और जीने दो' का महामन्त्र निनादित है। रागद्वेष, जलन-डाह, होड, मार-काट, खून-खराबा, युद्ध, अन्तर्विरोध, सघर्ष आदि से उसका कोई वास्ता नहीं है। 'ओम्' विश्व-मैत्री का महान् मन्त्र है।

ऊर्ध्वमुखीन संभावनाओं का पुँज

'ओम्' ऊर्ध्वमुखीन संभावनाओ का पुंज है। यह जैनो के लिए परमेष्ठी-वाचक है। साधुत्व से ले कर सिद्धत्व तक की समस्त संभावनाएँ इसमे सन्निहित है। यह जीवन का एक अत्यन्त सवेदनशील सृजनोन्मुख विकास-कार्यक्रम है। श्रावक अर्थात् गृहस्थ कैसा हो ? वह किसी भी देश का हो, 'ओम्' के भीतर उन सबके लिए यथेष्ट आकाश है। 'ओम्' की आँख मे वह एक ऐसा नागरिक है जिसका जीवन त्याग और समर्पण से अनुप्रेरित है। गृहस्थ जब त्याग और अपरिग्रह के क्षेत्र मे आगे बढता है और दूसरो की सुख-सुविधाओं के

लिए अपनी सुख-सुविधाओ को छोड़ने मे आनन्द का अनुभव करता है, तब साधुत्व का क, ख, ग शुरू होता है। साधुत्व की आधार-भूमि त्याग है, परिग्रह नही। साधु को सबमे पहला त्याग अज्ञान और प्रमाद, अन्याय और अन्धविश्वास का करना होता है। अज्ञान और अन्धविश्वास के खुटते ही 'ओम्' की निर्मलीकरण-प्रक्रिया आरम्भ हो जाती है। सहअस्तित्व और अन्याय कभी साथ नही चलते। जब हम साथ-साथ जीने-रहने का सकल्प करते है, तब शोषण को चुनौती आपोआप मिल जाती है। शोषण-दोहन, जोर-जुल्म इत्यादि का 'ओम्' से रेशे-भर भी ताल्लुक नही है। 'ओकार' के उच्चार का सीधा मतलब ही है न्यायप्रिय/समर्पणपरक जीवन के लिए कमर कसना।

गतिवान् जीवन का द्योतक

'ओम्' गतिवान् जीवन का द्योतक है।'ओम्' गति है, स्थिति नही है। वह रुकना नही, अविराम चलना है। 'चरैवेति चरैवेति' ओकार-ध्वनि है। 'ओकार' मे सातत्य है। साधुत्व से सिद्धत्व तक की यात्रा अभीक्ष्णता के बगैर सभव नही है। जब निर्लिप्तता हर कदम पर होगी तभी साधक उत्थान कर पायेगा अन्यथा यह सभव ही नही है कि उसके कदम अपने निर्धारित लक्ष्य की ओर उठे-बढे।

अप्रमत्तता और 'ओम्' भी एक-दूसरे से टँके हुए है। 'ओकार' का साधक प्रमाद कर ही नही सकता। वह एक पल भी रुके, यह असभव है। वह सुस्त कभी नही बैठेगा-कुछ करे, न करे, किन्तु एक काम वह अवश्य करेगा। अपने चित्त की तमाम अशुचिताओ को बुहार फेकना। आत्मालोचन-की-बुहारी साधक के विवेकी हाथो मे आठो याम रहती है। वह सतत् अपना मन, वचन, कर्म निर्मल-विमल करता रहता है।

'ओकार' का उद्घोष

'ओकार' जहाँ एक ओर शब्द को निष्कलुष और ओपस्वी बनाता है, वही वह उसे अभिनवार्थ प्रदान करता है। 'ओकार' के उद्घोष मे जिह्वा को-मुखावयवो को, एक ऐसा शुभ सामर्थ्य नसीब हो पड़ता है जो किसी भी बाधा से जूझ सकता है, उसे हरा सकता है। याद रहे 'ओम्' सिर्फ एक शब्द नही है, वह परमात्मा स्वयमेव है। परमात्मा का मतलब है आत्मा-का-चरमोत्कर्ष। जब आत्मा को यह बोध हो जाता है कि वह शरीर नही है, शरीर से परे है तब वह परमात्मा की राह पर होता है। शरीर तो आत्मा का स्थूल और अस्थायी आवास है, मुख्यत उसका घर ज्ञान-खालिस ज्ञान-है। सपूर्ण लोक उसका अधिवास है। वह कहाँ नही है ? वह सर्वत्र और सदैव है। ओकार ब्रह्माण्ड-व्यापी है। शिलांकित करे कि 'ओम्' की परम अनुभूति व्यक्ति को परमात्मत्व के शिखर तक ले जाती है।

ओम् मुमूर्षा (मरणेच्छा) नही है, जिजीविषा है। अजर-अमर जिजीविषा। ऐसी जिजीविषा जिसमें सपूर्ण विश्व की जिजीविषाएँ अपना आदरणीय स्थान ग्रहण किये हुए है। ख्याल रहे : 'ओम्' दुनिया की तमाम जिजीविषाओ को अहिसक मोड प्रदान करता है। ओकार का सन्निष्ठ उच्चार न सिर्फ साधक को वरन् उसके आस-पास/आर-पार वातावरण को भी जीवनदायी/अभयप्रद बनाता है। 'ओम्' अमोघ है, वह एक ऐसा सस्कारक अस्तित्व है, जो अपनी समरसता के चुम्बक से तमाम खुरदरेपन को अपूर्व स्निग्धताओ मे रूपान्तरित कर सकता है-करता है।

'ओम्' समन्वयक है। वह व्यक्ति और समाज की शक्तियो के बीच संतुलन और समायोजन को जन्म देता है। वह विश्व की तमाम शक्तियो के रचनात्मक तत्त्वों के उन्मेष मे समर्थ दिव्यध्वनि है। वह परमाणुओ को जोडता है, उन्हे सुसगत अस्तित्व प्रदान करता है। वह धरती की हरीतिमा और आकाश की नीलिमा है। वह अनादि निधन है। उसका अपना वैभव, ऐश्वर्य और वर्चस्व है।

'ओम्' का अपना संगीत है। वह सात सुरो का पिता है। उसके गर्भ मे सपूर्ण सृष्टि का संगीत स्पन्दित है। उसके गहन-सघन-प्लुत उच्चार मे-से तमाम ध्वनियो का जन्म हुआ है। वह शामक है-शान्ति-प्रदाता। उसमे उत्तेजकता नही है। वह अक्रोध है, क्रोध नही है, वह शान्त है, रौद्र नही है; वह कोमल है, क्रूरता से उसका कोई सरोकार नही है।

'ओम्' सम्यक्त्वमूलक है। सत्य और सम्यक्त्व उसकी दो बाहुएँ है। वह स्वास्थ्य का परम प्रतीक है। वह न सिर्फ व्यक्ति को अपितु समूह को भी स्वस्थ रखता है - रख सकता है। वह जीवन के प्रति, जीवन-मात्र के प्रति, सम्मान की भावना जगाता है। 'ओम्' विविधताओ के मध्य एकरूपता का अभंग सूत्र है। उसका अस्तित्व सम्प्रदायातीत है। वह हिन्दुओ, जैनो, बौद्धो के लिए 'ओम्', ईसाइयो के लिए 'ओमेन' और मुसलवानो के लिए 'आमीन' है। किसी-न-किसी रूपाकृति मे वह मानव-मात्र के लिए अमन, एकता और मैत्री का महान् सदेश है। वह क्षेत्रकालातीत है। वह किसी भूत,वर्तमान या भविष्य के कारावास मे नही है। वह किसी एक मुल्क के इतिहास-भूगोल मे भी कैद नही है। वह सर्वत्र और सदैव है। वह अद्भुत-अमोघ है।

इस तरह हम देखते है कि 'ओम्' व्यक्ति को माँजता है, उसके तन-मन को बुहारता है, उसे निर्मल-निष्कलुष बनाता है। चूँकि व्यक्तियो के योग से समाज बनता है, अत अन्तत समाज को भी वह निर्मल बनाता है। उसके उच्चोच्चार मे समाज के विकारो को करारी चुनौती, और सद्विचारो को शुभाशीष सन्निहित हैं।

('ओम् का सामाजिक पक्ष' ॐ विशेषाक, अप्रैल, '९६) △

निर्वाण का अर्थ है दीपक की लौ का विसर्जित होना। निर्वाण/रोशनी के वितरित होने को कहते है। इसीलिए वह बुझने से भिन्न है। एक तरह से यह बहुगुणित हो कर प्रज्वलित होना हुआ। इस तरह हम कहेगे कि तीर्थंकर ऐसी परम ज्योतियाँ थी, जिन्होंने कइयो को ज्योतित किया और दिशा-दृष्टि दी।

('निर्वाण-वेला/निर्माण-वेला', परम ज्योति, अक्टूबर, '७१) △

ग्राम श्रमण-संस्कृति के मूल केन्द्र

श्रमण-सस्कृति के मूल केन्द्र गाँव ही रहे है। भारत गाँवो का देश है। श्रमण-सस्कृति श्रम ओर त्याग-प्रधान सस्कृति है। गाँव की सारी विशेषताएँ श्रमण-जीवन से मेल खाती है, खा सकती है। वहाँ एक अन्तर्मुख श्रणजीवी के लिए उपयुक्त वातावरण मिल सकता है। गाँव को केन्द्र मान कर/बना कर हमे श्रमण-सस्कृति के प्रसार का काम करना चाहिये। यह चारित्रिक निष्कलकता और निर्मलता से ही संभव है, बातो की अपेक्षा काम से। ग्रामो मे चारित्रिक अलख जगाने का काम जैनो को स्वतन्त्रता-सग्राम-जैसी पवित्र चेतना के साथ करना चाहिये। ('समृद्ध दरिद्रता', ग्राम-सस्कृति, मार्च, '७२) △

पर्युषण · निर्मलता के साथ जीने-होने का पर्व/संदर्भ

पर्युषण निर्मलता और स्वाभाविकता के साथ जीने-होने का पर्व/संदर्भ है। पर्युषण-पुरुष की शिकायत है कि चित्त को औचित्य की ओर मोडने का ध्यान किसी का नही है, क्या हम पर्युषण की इस शिकायत को ईमानदारी से सुन सकेगे ?

('जैन, कितने जैन', पर्युषण विश्व-मैत्री, सित , '७२) △

एक नयी अर्थ-व्यवस्था

'अर्थ' और कुछ नही एक समय-सदर्भ है, शब्द शरीर है अर्थ आत्मा। हमारा देश ही एक ऐसा देश है जहाँ अर्थ का मतलब सपदा के अलावा भी कुछ ओर है। चार पुरुषार्थो मे 'अर्थ' का क्रम दूसरा है। धर्म पहला पुरुषार्थ है फिर 'काम' से जूझ-जूझ कर 'राम' बनने की स्थिति है। इस अर्थ-व्यवस्था को कौन जाने ? हमारे यहाँ पुरुषार्थ मे भी अर्थ आता है। अर्थ यानी प्रयोजन अनर्थ अर्थात् प्रयोजन की अनुपस्थिति। अर्थ यानी दौलत नहीं अर्थ यानी लक्ष्य, उद्देश्य है। कोई ऐसी सस्कृति ससार की जो अर्थ की ऐसी उपलब्धि [illegible] कर सकता है। आज हमें इस नयी अर्थ-व्यवस्था की जरूरत है। सिक्के की नहीं [illegible] देने वाले शब्दो की टकसाल खुलनी चाहिये। तीर्थंकरो ने केवल एक काम किया [illegible]। धर्म और सस्कृति के पास शब्द है [illegible] किन्तु अर्थ-व्यवस्था [illegible]

थी, तीर्थंकरो ने 'अर्थ-सस्थपान' को पुन. सुव्यवस्थित किया, उसे समय के सदर्भ मे झुका दिया। गांधी ने वही किया, विनोवा वही कर रहे है।-एक व्यवस्था नवार्थों की। जव भी जो भी क्रान्ति को पुकारेगा, उसे सबसे पहला का यही करना होगा।

हमे एक संकल्प करने की जरूरत है कि हम जीवन की हर दिशा मे प्रयोजनवान बनेंगे, प्रयोजनशून्य कही भी न होगे। न अधिक लोभ, न अधिक लाभ, मात्र पूर्ति। जितना जरूरी, उतना उपभोग, यानी अनर्थदण्ड विरति। ('एक नयी अर्थ-व्यवस्था', करुणा, सित '७२) △

'समयसार' नयातीत

'समयसार' मे आचार्य कुन्दकुन्द ने एक समन्वित पद्धति को अपनाया है और लगातार वे उसी पर अविचल रहे है। सुगम-सुबोध भाषा-शैली मे आत्मतत्त्व की पैचीदगियो को उन्होंने रोजमर्रा के जीवन से बडे सटीक उदाहरणो द्वारा समझाया है। ग्रन्थ मे एक गहरी निश्चलता स्पन्दित है जो वाचक को आश्वस्त करती है और उसकी प्रज्ञा के सम्मुख तथ्यो को निर्दोष परोसती जाती है। ग्रन्थकार ने पग-पग पर दोनो नयों का आश्रय लिया है व्यवहार और निश्चय नयो को उन्होंने भाषा या माध्यमधर्मी माना है और समयसार को नयातीत। जैसे किसी विदेशी भाषा-भाषी को कोई वात समझानी हो तो अपरिहार्यत उसे उसी की भाषा मे समझाना होगा, यदि उसे हम अपनी भाषा मे समझायेगे तो बेचारा मुँह ताकता रह जाएगा। इसी तरह संसार-लिप्त प्राणी को युदि हम सांसारिकता की भाषा मे समझायेगे तो ही वह समझायेगा, अन्यथा हाथ मलता रह जाएगा। व्यवहार संसार की अध्यात्म भाषा है और निश्चय उनकी जिनकी पकड मे अध्यात्म आ गया है, या बहुत कुछ आ गया है। कुन्दकुन्द ने इन दोनो को ही माध्यम माना है, मंजिल नही। सम्यक्त्व को खोज मे दोनों नय जरूरी है। आरम्भ मे निश्चय मे आने मे धोखा हो सकता है, इसी तरह व्यवहार की अँगुली को अंतिम मानने की गलती भी नही की जा सकती, अत दोनो अपरिहार्य है और अपने-अपने संदर्भों मे सार्थक है। यही भेद-विज्ञान की प्रज्ञा काम करती है।

('तीसरा संदर्भ', समयसार, सितम्बर, '७४) △

बुराइयों के नामशेष करने की जरूरत

बुराइयों से समझौता करने से उनका अस्तित्व मिट, या कमजोर पड जाता है, भ्रामक है, उलटे उनकी ऊर्जा और उत्साह बढ़ जाता है। इसलिए बुराइयो को नामशेष करने की जरूरत आज सबसे बड़ी और पहली है। अत हम समझौता नहीं, कडे-करारे प्रहार द्वारा मानव-जीवन के 'फण्डामेटल्स' को वापस लाने का प्रयत्न करें, वस्तुत जब तक हम पूरी ईमानदारी के साथ मानव के मौलिक व्यक्तित्व के प्रत्यावर्तन का प्रयत्न नही करते, हमारा कोई भी कदम सफल नही कहा जाएगा।

इसलिए हम चाहते है कि चारो ओर छायी हुई सामाजिक और वैयक्तिक घुटन से आज मनुज को मुक्त किया जाए और एक निर्मल-निश्छल समाजहिताय जीवन के लिए पुख्ता आधार तैयार किये जाएँ। कार्य असभव नही है, दुष्कर है। अभी मनुज का पुरुषार्थ इतना म्रियमाण नहीं है कि उक्त क़दम उठ ही न पाये। माना उसका एक पाँव कब्र मे उतर चुका है, किन्तु दूसरे मे इतनी शक्ति अभी शेष है कि उतरे हुए पाँव को जीवन की ओर लौटा सके।

('घुटो मत, उठो', आचार्यश्री शान्तिसागरजी, जून, '७३) △

बोधकथाएँ मन्त्र की तरह

बोधकथाएँ मन्त्र की तरह छोटी होती है, अंकुश की तरह ये समस्या के ऐरावत हाथी को अपने काबू मे कर लेती है और पलक मारते एक ऐसा समाधान पाठक के सामने रख देती है, जिसकी तलाश में वह जन्म-जन्मान्तर से होता है। बोधकथाओ ने कई भ्रान्त लोगो के जीवन मे रोशनी दी है, उनकी निबिड निराशा को चीरकर आशा का सूरज उगाया है सत्य के विभिन्न आयामो को भारी-भरकम ग्रन्थो की, और बड़े-बडे आचार्यों की अपेक्षा अधिक सादगी और सरलता से सामने रखा है। सुकरात, बुद्ध, महावीर इन्हीं बोधकथाओ के माध्यम से जनमानस मे पैठे है, अत कहा जाएगा कि इनका अपना सहज-सुबोध विश्व है और वह महत्त्वपूर्ण है।

उद्धरण बोधकथा का सारांश

उद्धरण मे दो-तीन वाक्यो से अधिक नही होते। वह शेर का अकेला पूत होता है। एक, किन्तु पराक्रमी। उद्धरण मे ठीक बोधकथा की भाँति ही चरित्र को उठाने वाला कोई तथ्य होता है। इस तरह उद्धरण को बोधकथा का साराश माना जा सकता है एक उद्धरण यदि पल्लवित किया जाए तो बोधकथा बन सकता है। जिस तरह दधिमन्थन से नवनीत मिलता है, ठीक वैसी ही स्थिति उद्धरणो की है। कई-कई ग्रन्थो को देख-निचोड़ कर इन्हे चुना जाता है ये किसी भी व्यक्ति के प्राणो के प्राण होते हैं, बन सकते है। इनके द्वारा जीवन मे मोड़ आते है, और पुराने रिश्तो को पुन फेटने की प्रेरणा मिलती है। ('बोधकथाएँ क्या करती हैं', 'उद्धरण नये रिश्ते, नये मोड़', बोधकथा एव जीवन-प्रेरक उद्धरण, जुलाई, '७६) △

अन्तिम आदमी की जय

अन्तिम आदमी अल्पव्यय होता है, और मितव्यय मे आस्था रखता है, और जो भी उसके पास होता है, उसे पूरी उदारता से उलीचने मे असीम आनन्द का अनुभव करता है। उसका अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र धर्म और नीतिशास्त्र बहुत निष्कलंक और साफ सुथरा है, उसमें कहीं कोई कलंक या किल्विष नहीं है। उसके अर्थशास्त्र का 'श्रीगणेश' सादगी और मानवीयता से होता है वह आदमी को सर्वोपरि इज्जत देता है इसीलिए वह जिन्दे की

रोटी कभी नही छीनता, बल्कि जिसकी रोटी छिनी हुई है, उसे अपने हिस्से मे-से देकर खुश होता है। हो सकता है किन्ही कारणो से यह आदमी कभी धुँधला पड जाए, किन्तु धरा पर पूरी तरह वह गैर हाजिर कभी नही होता, अस्थिशेष भी बना रहता है, और अन्ततोगत्वा वही जीतता है, विकृतियो को निर्मल करता है, अधेरे मे उजेलों को बोता है। आज देश मे जो हुआ है इसी आदमी सामर्थ्य की अभिव्यक्ति है। वह लोकतन्त्र का जन है। अजर-अमर है, और बीज-रूप मे विषमतम स्थितियों में भी जीवित है। इसकी जय महावीर की जय है, बुद्ध की जय है, गांधी की जय है, मनुजता की जय है और सदियो से प्रगति के पग उठाये भारत की जय है। ('जय, अन्तिम की', महावीर-जयन्ति, '७७) △

तीर्थंकर यानी पूर्णमानव

तीर्थंकर की सरलतम परिभाषा है- मनुष्य बनते जाना, और इस तरह मनुष्य का जो चरम विकास है वही 'तीर्थंकरत्व' है। मनुजता के लिए दूसरा शब्द है स्वाभाविकता, निष्कर्षत जब कोई अपनी स्वाभाविकता मे लौटता है, आपे मे आता है, तब वह भगवान हो उठता है, और जब वही आपा खो बैठता है तब पशु कहिये, उससे भी बदतर हो जाता है। वस्तुत यह 'आपा' ही सब कुछ है, संसार के सारे धर्म इसे पाने का यत्न करते है यह जानता जरूर है कि महावीर ने हर कदम पर मनुष्य होना आवश्यक है इसकी अनुभूति कैसे की और वे उस समय जब कि चारो ओर बर्बरता और वनैली क्रूरता छायी हुई थी, किस तरह अधिक मनुष्य होते चले गये, कठिनाइयाँ हुईं, सघर्ष हुए किन्तु दुर्दृर साधना रुकी नही और वे अन्तत 'तीर्थंकर' यानी 'पूर्णमानव' बने। इसलिए हम जरूर सोचें कि हम मनुष्यता की रेखा के ऊपर गये है, या नीचे आये है, इस तरह की तटस्थ समीक्षा ही हमारे जीवन मे बहुत कुछ ऐसा सिरज सकती है जो हमारे लिए मंगलकारी तो होगा ही, आने वाली पीढियो के लिए भी सुखदायी होगा। ('इतना तो करे ही', महावीर-जयन्ती, अप्रैल, '७९) △

हँस कौन सकता है ?

जो अनासक्त है, वही हँस सकता है, हँसने का अधिकार है, जो जीवनोत्सर्गी है, हँसने का अधिकार उसे ही है, जो यह जानता है कि उसका कुछ भी नहीं है और यह कि सवकुछ उसी का है, वही हँस सकता है। शहीद हॅस सकता है , वलिपंथी हॅस सकता है , लोकसेवक हँस सकता है , सत मुस्करा सकता है, महावीर हँस सकता है , गौतम हॅस सकता है , राम हँसता है, कृष्ण हँस सकता है-क्योंकि वहाँ एक गहरा अभेद और समत्व है, हर्प-विपाद काचन-माटी, महल-कुटीर, जन्म-मरण सव समत्व की धरती पर एक है वहाँ , दो नहीं है, इसलिए जिन्होंने हँसते-हँसते जीने की स्वीकृति दी है, स्वयं को स्वय मे, वे हॅसते-हँसते मर भी सकते हे, वस्तुत अभय और अन्यो के लिए वारहमासी स्वस्ति ही हँसी के जनक-जननी हे।

('क्या आप हँस सकते है ?', हँसते-हँसते जियो, हँसते-हँसते मरो, जनवरी-फरवरी, '७९) △

शब्द की सत्ता बहुआयामी

असल मे शब्द और अर्थ परस्पर अभिन्न है। शब्द पात्र है, अर्थ वस्तु है, शब्द आधार है, अर्थ आधेय है, शब्द शरीर है, अर्थ आत्मा है। इस तरह इस अलकार पात्र मे-से हम शब्दार्थ की गहराइयो को समझ सकते है और उसकी अर्थवत्ता का उपयुक्त मूल्यांकन कर सकते है, किन्तु जैसे ही हम इस तथ्य को भूल जाते है कि शब्द की सत्ता बहुआयामी है, दुविधाओ की कई-कई नगिनें भ्रम-सपेरे की पिटारी से बाहर आने लगती है, जिनमे से कुछेक सविष और और कुछ निर्विष होती है। कहा गया है कि जो लोग एक शब्द का भी ठीक-ठीक सही उपयोग कर लेते है, उन्हे त्रिलोकवर्ती संपदा सहज सुलभ हो जाती है।

('शब्द', एलाचार्य मुनिश्री विद्यानन्दजी, जुलाई, '७९) △

आहार-विज्ञान

आज आहार मात्र आहार हो नही रह गया है बल्कि उसका सूक्ष्मता विश्लेषण हुआ है तथा उसके गुण-दोष पूरी तरह स्पष्ट कर लिये गये है। अब उसे विज्ञान और दर्शन का दर्जा मिल गया है। आहार पर विगत वर्षों मे सिर्फ वैज्ञानिक चिन्तन ही हुआ है, अपितु उस पर प्राकृतिक, नैतिक, मन स्थितिक, धार्मिक इत्यादि सदर्भों मे भी विचार किया गया है।

('आहार-विज्ञान', जून, '८५) △

आहार-दर्शन

हम आहार-दर्शन के पाँच सूत्रो-अहिसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य का स्थूल रूप मे ही सही, अपने जीवन मे स्थान दे और निरन्तर मटियामेट हो रहे प्राकृतिक सतुलन की रक्षा करे। ('आहार-दर्शन', जून, '८५) △

उपवास परमसुख के खजाने की कुँजी

उपवास का आत्मिक महत्त्व तो है ही, चिकित्सा-सवन्धी महत्त्व भी है। इससे तन-मे-सारे रोग निकल भागते है और स्वस्थ तन स्वस्थ मन का मच वन जाता है, यह सिर्फ धार्मिक अनुमान ही नही है अपितु परमसुख के खजाने की कुँजी है, मुश्किल असल मे यह हुई है कि हम अपनी ससार-यात्रा मे काफी आगे निकल आये है और कुँजी काफी पीछे छूट गयी है। जाने कि यह कुँजी छूटी है, खोयी नही है, यदि उपवास का सहारा ले तो हम इसे कुँजी को पुन: प्राप्त कर सकते है और निर्मलताओ की नदी मे अवगाहन कर सकते है।

('उपवास', मई, '८६) △

अनुक्रम : तीर्थंकर के ५० विशेषांकों (अंक-विशेष सहित) के संपादकीय लेख

स्वाध्याय के साथ/के बाद (वर्ष १, अक ४, अगस्त, ७१), हथेली की आँख, (वर्ष १, अक ११, मार्च, ७२), सालगिरह एक गुलदस्ते की (३/ अक १२, अप्रैल, ७४), वर्द्धमान कैसे हम (४/ अक १२, अप्रैल, ७५), विश्वपुरुष राजेन्द्रसूरि (५/२-३, जून- जुलाई, ७५), और अब-२ (५/६-७, अक्टू नव , ७५), निर्माण नये सिरे से (१)६/८, दिस ,७६), बाद/एक सदी के (७/४-५, अग - सित , ७७), प्रणाम, एक सूरज को (७/७-८ ७९-९०, नव दिस ,७७), पाँव की आँख (८/२ ८६, जून, ७८), साधुओ को नमस्कार (८/७-८ ९१-९२, नव -दिस ,७८), गहराइयो मे (१०/७-८ ११५-१६, नव -दिस ,८०), और (१०/९ ११७, जन , ८१), १००० (१०/१० ११८, फर, ८१), एक कालजयी स्तोत्र (११/९ १२९, जन , ८२), साधो, सहजै काया साधौ (११/१०-११ १३०-३१, फर-मार्च, ८२), लोक-कथा (१२/४ १३६, अग ,८२), प्रश्न उपयोग का (१२/७ १३९, नव ,८२), ध्यान ध्यान पर अधिक (१२/१२ १४४, अप्रैल, ८३), समाज-सेवा चुनौतियाँ (१३/७-८ १५१-५२, नव -सित ,८३), वापसी (१४/६-७ १६२-६३, अक्टू नव., ८४), जाले से बाहर (१४/८ १६४, दिस., ८४), मालिक बने, मौलिक बनें (१४/९ १६५, जन , ८५), प्रश्न-दर-प्रश्न (१४/११-१२ १६६-६७, मार्च-अप्रैल, ८५), 'पूजा' के अर्थ (१५/४-५ १७२-७३ अग -सित , ८५), जेन जेविकी (१५/१०-११ फर-मार्च, ८६), परमाणु-कथा (१६/४-५ १८४-८५, अग -सित ,'८६ माणव-विद्या (१६/१०-११-१२ १९०-९१/९२, फर मार्च-अप्रैल, ८७), अ-यथार्थ साधु (१७/३-४ १९५-९६, जुलाई-अग , ८८), रास्तो के लिए रास्ता (१७/५-६ १९७-९८, सित -अक्टू , ८८), पद गुनगुनाये इन्हे (१८/११-१२ २१५-१६, मार्च-अप्रैल, ८९), जायके से जूझिये (१९/२-३ २१७-१८ मई-जून, ८९), शब्द घुटने टेक देते है जब (१९/९-१० २२५-२६, जन -फर , ९०), प्रतीक्षा (२०/११-१२ २३९-४०, मार्च-अप्रैल, ९१), वरक़ छोड़ें वरक़ जोड़े (२१/६-७ २४६-४७, अक्टू -नव , ९१), रेशम-मे-हिसा (२२/५-६ २५७-५८, सित -अक्टू , ९२), सफेद तालाव के हँस (२३/५-६-७ · २६९-७०-७१, सित -अक्टू -नव , ९३), ओम् का सामाजिक पक्ष (२५/१२ ३००, अप्रैल, ९६), निर्वाण-वेला/निर्माण-वेला (१/६ ६, अक्टू ७१), समृद्ध दरिद्रता (२/१ १३, मई, ७२), जैन, कितने जैन (२/५ १७, सित , ७२), नयी अर्थ-व्यवस्था (२/८ २०, दिस , ७२), घुटो मत, उठो (३/२ २६, जून, ७३), तीसरा सदर्भ (४/५ ४९, सित , ७४), बोध-कथाएँ क्या कहती है, उद्धरण नये रिश्ते, नये मोड (६/३ ६३, जुलाई, ७६), जय, अन्तिम की (६/१२ ७२, अप्रैल, ७७), इतना तो करे ही (८/१२ ९६, अप्रैल, ७९), क्या आप हँस सकते है (८/९-१० ९३-९४, जन -फर , ८०), शब्द (९/३ ९९, जुलाई, ७९), आत्म-विज्ञान (१५/२ १७०, जून, ८५), आत्म-दर्शन (१५/३ १७१, जु ८५), उपवास (१५/९ १८१, मई ८६)।

डॉ. नेमीचन्द जैन

जन्म : बड़नगर (जिला उज्जैन, मध्यप्रदेश), ३ दिसम्बर १९२७।

शिक्षण . इन्दौर मे उच्च शिक्षा-प्राप्ति के अन्तर्गत साहित्यरत्न (१९४८), एम ए (हिन्दी, १९५२), एम ए (अर्थशास्त्र, १९५३), विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन से 'भीली का भाषा-शास्त्रीय अध्ययन' शोध-प्रबन्ध पर पी-एच डी की उपाधि (१९६२)।

भाषा-ज्ञान . सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रश, हिन्दी, गुजराती, मराठी, बाग्ला, डिगल, भीली, अग्रेजी।

अध्यापन सन् १९५२ से ८७ की अवधि मे मध्यप्रदेश के इन्दौर, गुना, बडवानी, नीमच, [illegible] और देवास नगरो मे सर्वप्रथम इन्दौर क्रिश्चियन कॉलेज मे, तत्पश्चात् शासकीय [illegible]विद्यालयो मे हिन्दी के प्राध्यापक और विभागाध्यक्ष।

सस्थागत प्रवृत्तियाँ · स्व माँ श्रीमती हीराबाई और पिता श्री भैयालालजी जैन की पावन [illegible]ति मे श्रद्धाजलि-स्वरूप सन् १९६२ मे स्थापित हीरा भैया प्रकाशन, इन्दौर के सस्थापक/अध्यक्ष, प्रकाशन के अन्तर्गत विविध विषयो की लगभग ८० पुस्तिका-पुस्तको का सपादन / प्रकाशन । प्रकाशन की पुस्तको को अन्तर्राष्ट्रीय मानक पुस्तक-सख्या के अन्तर्गत लाने का श्रेय।

- हीरा भैया जैन विद्या पत्राचार पाठ्यक्रम सस्थान, इन्दौर (१९९०) के सस्थापक/निदेशक, [illegible] पाठ्यक्रम की ९ इकाइयो के ५६ पाठो का आलेखन।

- शाकाहार के प्रचार-प्रसार हेतु सन् १९८६ मे स्थापित तीर्थंकर शाकाहार प्रकोष्ठ के सचालक, अ भा शाकाहार-विज्ञान चेतना-परिषद् इन्दौर (१९९४) के सयोजक।

- 'हर दिन एक अच्छा काम' क्लब, इन्दौर (१९९६) के सस्थापक।

- जैन दर्शन, साहित्य, सस्कृति, पत्रकारिता से सबन्धित अखिल भारतीय सगोष्ठियो/सम्मेलनो के सहयोगी। अ भा तृतीय जैनविद्या विचार-सगोष्ठी, इन्दौर -१९९६ के सयोजक ।

सपादन · तीर्थंकर (सद्विचार की वर्णमाला मे सदाचार का प्रवर्तन-विचार (मासिक) मई १९७१ से नियमित/निरतर , इसके ५० बहुचर्चित विशेषाको (अक-विशेष सहित) का सपादन। -तीर्थंकर (अग्रेजी) मासिक/त्रैमासिक १९७५-८८। - शाकाहार-क्रान्ति (आहार-क्रान्ति की दिशा मे प्रवृत्त अहिसक जीवन-शैली का लोकप्रिय मासिक), मई १९८७ से नियमित/निरतर। - [illegible] (जैन अध्यात्म का त्रैमासिक), जुलाई ८८ से जून ८९।

मौलिक कृतियाँ विविध विषयो से सबन्धित ५० पुस्तके , रचना-काल का आरभ सन् १९[illegible]।

बातचीत · (साक्षात्कार-समालाप-भेटवार्ताएँ-इन्टरव्यूज़) की विधा के अन्तर्गत लगभग १०० वार्ताएँ प्रकाशित (तीर्थंकर-१९७३-१९९६), आत्मकथात्मक पुनर्साक्षात्कार समालाप '[illegible] खुद-ब-खुद' (बातचीत स्वय की, स्वय से) १९९६ मे प्रकाशित।

देशव्यापी यात्राएँ · जैन समाज की विभिन्न सस्थाओ, तीर्थों विशिष्ट व्यक्तियो से [illegible] [illegible] [illegible] स्थापित करने के लिए समय-समय पर यात्राएँ, शाकाहार-अभियान के अन्तर्गत [illegible] १९९० से पूर्व, [illegible] और [illegible] [illegible] भ्रमण।

तीर्थंकर के दुर्लभ, संग्रहणीय, बहुचर्चित विशेषांक

१. स्वाध्याय (५.००), २ महावीर-जयन्ती (५ ००), ३ मुनिश्री विद्यानन्दजी (१०.००), ४. वर्द्धमान महावीर (५ ००), ५. श्रीमद् विजयराजेन्द्रसूरीश्वर (१० ००), ६ वीर-निर्वाण (५ ००), ७ वीर-निर्वाण-चयनिका (१० ००), ८ जैन पत्र-पत्रिकाएँ (२० ००), ९. मुनिश्री चौथमल जन्म-शताब्दी (१०.००), ९ साध्वी श्री विचक्षणश्री (१५.००), १० पं. नाथूलाल शास्त्री पण्डित-परम्परा पर विशेष (१० ००), १२. आचार्य श्री विद्यासागरजी (१० ००), १३. णमोकार मन्त्र खण्ड-१ (१५ ००), १४ णमोकार मन्त्र खण्ड-२ (१५ ००), १५ गोम्मटेश्वर का १००० वॉ महामस्तकाभिषेक (१० ००), १६. भक्तामर स्तोत्र (२० ००), १७ जैन भूगोल (१०.००), १८ श्री महावीर तीर्थ (१५ ००), १९ जैन ध्यान/जैन योग (१५ ००), २० समाज-सेवा (१५ ००), २१. प्रतिक्रमण/सामायिक (२० ००), २२. प्रतिक्रमण शेषांक (५.००), २३ सामायिक शेषांक (५.००), २४ श्रावकाचार (१५ ००), २५ जिन पूजा (१०.००), २६ जैन जैविकी (१०.००), २७. जैन भौतिकी (१०.००), २८. जैन टोना टोटका/जतर-मतर (१५ ००), २९ आचार्य (५ ००), ३०. साधु मार्ग (१५.००), ३१ जैन पद-साहित्य (१०.००), ३२ जैन आहार-विज्ञान (१० ००), ३३. तीर्थंकर-चिह्न (१०.००), ३४ जैन जन-जागरण (२०.००), ३५. वरक-मे-हिसा (५०.००), ३६ रेशम-मे-हिसा (१०.००),३७ महामस्तकाभिषेक गोम्मटेश्वर, श्रमणवेलगोला (१५.००), ३८. ॐ विशेषाक (१००.००)।

अंक-विशेष

३९ परम ज्योति (५.००), ४०. ग्राम-सस्कृति (५.००), ४१ पर्युषण विश्वमैत्री (५.००), ४२. करुणा (५ ००), ४३ आचार्य श्री शान्तिसागरजी (५ ००), ४४ समयसार (५.००), ४५. बोधकथा एव जीवन-प्रेरक उद्धरण (५.००), ४६. महावीर-जयन्ती (५.००), ४७ हँसते-हँसते जियो, हँसते-हँसते मरो (५.००), ४८ एलाचार्य मुनिश्री विद्यानन्दजी (५ ००), ४९. आहार (५.००), ५०. उपवास (५.००)।

कृपया अपेक्षित विशेषाको का अग्रिम मूल्य मनीऑर्डर/बैक ड्राफ्ट 'हीरा भैया प्रकाशन' के नाम से भेजे। वी.पी.पी. नही की जाएगी।

अग्रिम मूल्य मे ५ विशेषाको तक रु. १२ ००, और १० तक के लिए रु १५ ०० रजिस्ट्री चार्जेज के अवश्य जोडे।

प्रबन्धक, **हीरा भैया प्रकाशन**

६५, पत्रकार कॉलोनी, इन्दौर - ४५२००१ (म.प्र)

यात्रा का आरम्भ	चुनौतियाँ	विरासत मे
सही पर सही	उपाधियाँ/पुरस्कार	गरीब अमीर/अमीर गरीब
स्वाध्याय के साथ/के बाद	नेतृत्व का गुर	जैनधर्म : २१वीं शताब्दी
समृद्ध दरिद्रता	चाहिये : अतिम शब्द	साधुवाद
उत्तराधिकार	समाज गश्त पर	बर्बर मनोरजन
इस्तीफा, अहिंसा का	अनुत्तरित प्रश्न	एक कदम : एकदम
वर्द्धमान कैसे हम	उत्तर तराशते प्रश्न	साधारणीकरण
शब्द-सयम	जय अतिम ··· की	अहिसा का अर्थशास्त्र
अभी वक्त है	महावीर-क्रान्ति	हिंसा मे हिस्सेदारी

चयनिका

डॉ. नेमीचन्द जैन द्वारा सपादित
'तीर्थंकर' (मई '७१ से जवरी १९९७) के
२७१ सपादकीय लेखो मे-से चयनित अश

साधुओ को नमस्कार	धर्मनिरपेक्षता	ॐ का सामाजिक पक्ष
धार्मिक निरक्षरता	गया साल : नया साल	सफर लम्बा है
गहराइयो मे	शाबाश, जैन समाज	रीढ को खतरा
स्वाधीनता/पर्युषण		धार्मिक होने का अर्थ
धार्मिक हिंसा		पारदर्शिता जरूरी
[illegible]		अपघोषो मे कैद समाज
[illegible]		कद कम होना-
[illegible] प्रश्न		एक बाहुबली का

हीरा भैया प्रकाशन
[illegible]

संपादकीय : आलेखों की यह 'चयनिका'

'तीर्थंकर' के प्रकाशन के प्रथम दशक मे ही यह सुझाव आ गया था कि सपादकीय लेखो को पुस्तकाकार दिया जाना चाहिये। द्वितीय दशक मे इस सुझाव को मूर्त रूप देने की दिशा मे पाण्डुलिपि तैयार करने के लिए उन्हें अनुक्रमिक किया गया। प्रश्न यह था कि इनका प्रकाशन 'कालक्रमानुसार' हो या 'विषयानुसार'। तीसरे दशक मे प्रवेश होने पर रजत जयन्ती-वर्ष मे भी व्यस्तताओ के कारण इस दिशा मे कोई निर्णायक पहल नही हो सकी।

इस बीच इतना अवश्य हुआ कि सपादकीय लेखो के विषयानुसार क्रम मे दो पुस्तके प्रकाशित हुई 'जैनधर्म इक्कीसवी शताब्दी' (फरवरी, १९८७) और 'अहिसा का अर्थशास्त्र' (जुलाई, १९९६)।

'तीर्थंकर' के रजत जयन्ती-वर्ष के पूर्व, मध्य जो कार्य नही हो सका, उसे अब उत्तर मे किया जा रहा है, वह भी आरंभिक रूप मे । प्रस्तुत चयनिका उसका परिणाम है। इसमे ९०० पृष्ठीय २७१ सपादकीय लेखो मे-से केन्द्रीय/मुख्याश का समावेश किया जा सका है। 'चयनिका' मे प्रारभ मे 'तीर्थकर' सकल्प से सिद्धि की ओर' मे 'तीर्थकर' की जन्म, सघर्ष, विकास-कथा के साथ उसकी उपलब्धियो को रेखाकित किया गया है। 'चयनिका' के अत मे सपादकीय लेखो की संपूर्ण अनुक्रमणिका सलग्न की गयी है ताकि जिज्ञासुओ को सदर्भित विषयक सामग्री-प्राप्ति मे सुविधा हो सके।

चयनिका (विशेषाक-सपादकीय) मे ५० विशेषाको के अधिकाश का समावेश है, तो यहाँ उनके अछूते अश लिये गये है। कुल मिलाकर दोनो पूरक है। पृष्ठ-सख्या भी दोनो की मिलाकर १७८ हो गयी है।

चयनिका 'प्रारभिक' प्रयास है। सपूर्ण सपादकीय लेखो का वृहद् प्रकाशन (निधारित खण्डो मे) योजनानुसार अपेक्षित है। क्योकि ये जैन धर्म/दर्शन/साहित्य/समाज और श्रमण सस्कृति ही क्यो, भारतीय सस्कृति के साथ मानव-सस्कृति/विश्व सस्कृति के शाश्वत मूल्यो पर आधारित हैं। जहाँ इनमे अहिसा का उद्‌घोष है वही विश्व शान्ति का प्रतिपादन है। इन्हे सास्कृतिक आलेख के साथ ही ऐतिहासिक दस्तावेज भी माना जा सकता है, क्योकि विगत २५ वर्षों का इनमे सिहावलोकन है, आधुनिकता-बोध है, विज्ञान और अध्यात्म की समन्वयशील भूमिका का समर्थन है। ये चेतावनी और चुनौती के मध्य सुदृढ स्थिर है, वही इक्कीसवीं शताब्दी की अगवानी/स्वागत के लिए तत्पर/तैयार है।

-प्रेमचन्द जैन

चयनिका (डॉ नेमीचन्द जैन द्वारा सपादकीय 'तीर्थंकर' (मई '७१ से जनवरी '९७) के ९०० पृष्ठीय २७१ सपादकीय लेखो मे-से चयनित अश), चयनकर्ता - **प्रेमचन्द जैन © हीरा भैया प्रकाशन;** प्रकाशन . **हीरा भैया प्रकाशन, ६५ , पत्रकार कॉलोनी, कनाड़िया मार्ग इन्दौर-४५२००१,** (म प्र) मुद्रण **नई दुनिया प्रिन्टरी, बाबू लाभचन्द छजलानी मार्ग, इन्दौर-४५२००९** (म प्र), टाईप सैटिंग **प्रतीति टाईपोग्राफिक्स, इन्दौर ४५२००१** (म प्र), प्रथम **१६ जनवरी १९९७ ;** मूल्य **पन्द्रह रुपये।**

'तीर्थंकर' : संकल्प से सिद्धि की ओर

यात्रा का शुभारम्भ

इस अक के साथ 'तीर्थंकर' अपनी यात्रा का शकुन कर रहा है, हम नही जानते कि वह अपनी निर्दिष्ट मजिल तय कर पायेगा या नही, किन्तु हम अपने निश्चय और लक्ष्य पर अडिग है और हर सभव प्रयत्न करेगे कि निर्धारित सकल्पोको पूरा करने मे कोई कोर-कसर बाकी न रहे।

शुभकामनाओ की पूँजी

हम जानते है कि शुभ को अशुभ, मगल को अमगल और बुराई से बराबर जूझना पडा है। निर्विघ्न मार्ग आसान नही है, अड़चने, विघ्न-बाधाएँ हमारे मार्ग मे आयेगी, पग मे शूल चुभेगे तथापि हमारे पास शुभकामनाओ की पूँजी इतनी है और हमारा लक्ष्य इतना स्पष्ट,पावन और निष्कलक है कि किसी भी व्यवधानपर सरलता से विजय प्राप्त कर सकेगे।

मानव की आन्तरिक शक्तियों का लोककल्याण के लिए संगठन

यहाँ हम कहना चाहेगे कि बड़े-से-बड़े दुष्कृत्य के पीछे मनुष्य की मौलिक गिरावट ही असली कारण है। इस खोट से हमे कुटुम्ब से ले कर विश्वविद्यालय तक व्यापक युद्ध जूझना है, और विघटन की दिशा मे कदम उठाये मानव की आन्तरिक शक्तियो को लोककल्याण के लिए सगठित करना है।

मनुष्य की मनुष्य के रूप मे प्रतिष्ठा · संभावनाओ की खोज

'तीर्थंकर' प्रयत्न करेगा कि वह इन विकृतियो से विचार के स्तर पर जूझे और मनुष्य को मनुष्य के रूप मे प्रतिष्ठित किये जाने की स्वाभाविक सभावनाओ को ढूँढ़ निकाले। (मई १९७१)

'तीर्थंकर' की भूमिका संपूर्णतया सम्प्रदायातीत

'तीर्थंकर' अपने प्रकाशन के चार वर्ष (अप्रैल १९७५) पूरे कर रहा है। इन चार वर्षों मे इसकी भूमिका क्या रही, इसे स्वयं की अपेक्षा उसके सहृदय पाठक ही अधिक जानते है।

'तीर्थंकर' की भूमिका पूरी तरह सम्प्रदायातीत रही और इसने जैनमत्व ही नहीं वरन् [illegible] के जीवन को [illegible] से ऊपर उठाने का विनम्र प्रयास किया। हम जानते है, यह [illegible] दुष्कर कार्य था, किन्तु हमारा संकल्प था जो आने वाले कल के लिए भी उतना ही

मजबूत है, जितना गुजरे हुए कल के लिए था कि हम सम्प्रदायो की पहुँच-परिधि से परे रचनात्मक और मानव-मंगल की डगर पर चलेगे। कई लोगो ने शिकायत कि 'तीर्थंकर' दिगम्बर चिन्तन की ओर झुका हुआ है, कइयो ने इसे श्वेताम्बर रुझान का पत्र कहा। सबने अपने-अपने चेहरे देखे, हमने दोनो छीटों को अपनी सफलता तो माना ही, माना आने वाले जमाने का एक शुभ शकुन। यही वजह है 'तीर्थंकर' का व्यक्तित्व जहाँ एक ओर सभी सम्प्रदायो के लेखको ने बनाया है, वही दूसरी ओर वह भारतीय सस्कृति की अन्तरात्मा का समुज्ज्वल प्रतीक भी बना रहा है। इसमे विभिन्न भाषाओ मे प्रकाशित सर्वश्रेष्ठ सामग्री को शरीक किया गया है, बिना किसी पूर्वाग्रह के, किसी गॉठ या ग्रन्थि के। इस तरह निर्ग्रन्थ चिन्तन के लिए हम जो स्वस्थ वातावरण बना पाये है, अगला वर्ष हमारे इस सकल्प के अमल मे लाने का वर्ष होगा।

'तीर्थंकर' की मूल संकल्प-धारा

'तीर्थंकर' की मूल संकल्प-धारा है मनुष्य के बीच की दूरी को कम करना और उनके भीतर बैठे नैतिक मनुज को गिरावटो से जूझने के लिए एक शक्तिशाली धरातल उपलब्ध कराना। आज 'असत्' की ताकते अधिक प्रहारक और हमलावर है उनसे जूझने और उन्हें परास्त करने की ताकत 'सत्' मे है, किन्तु विश्वास लौटाने और उसे सपादित करने की जरूरत है। 'तीर्थंकर' इस ओर अनवरत बढेगा और टूटते हुए किनारो की दुरुस्ती मे कोई कोर-कसर नही रखेगा। अपने पाठको का हौसला ही उसकी इस यात्रा का प्रमुख सम्बल होगा ही (अप्रैल, १९७५)

जैनदर्शन के प्रति सम्यक्/संतुलित दृष्टिकोण की संरचना

'तीर्थंकर' ने अपने संघर्षपूर्ण जीवन के पॉच वर्ष (अप्रैल, '७५) बडी सफलता के साथ संपन्न किये है। साहित्य की दृष्टि से इस बीच उसे देश मे सुदूर तक एक अपूर्व स्थापना मिली है और स्वतन्त्र चिन्तन की नजर से भी उसका प्रदेय इतना नगण्य नही है कि उसे ऑख से ओझल किया जा सके। जैनदर्शन के प्रति एक सम्यक् और संतुलित दृष्टिकोण की संरचना मे भी उसकी एक स्पष्ट और उपयोगी भूमिका रही है। इस दौरान देश की कई प्रसिद्ध पत्र-पत्रिकाओ ने उसमे प्रकाशित सामग्री को उद्धृत किया है और कम-से-कम तीन पुस्तके उसमे सपादित सामग्री से देश की सुप्रतिष्ठित प्रकाशन-संस्थाओ ने प्रकाशित की है। जैन-जैनेतर पाठको का अखूट स्नेह और सौहार्द उसे सहज ही मिला है। सृजनात्मक साहित्य की कसौटी पर भी वह देश की किसी भी पत्र-पत्रिका की तुलना मे छोटा नही है।

सामाजिक क्रान्ति और सांस्कृतिक समझ के लिए भरपूर प्रयत्न

'तीर्थंकर' ने अपने जीवन के छठे वर्ष (मई, १९७६) मे पॉव रखा है, इस सकल्प के साथ कि वह सामाजिक क्रान्ति और सही सांस्कृतिक समझ के लिए भरपूर प्रयत्न करेगा।

युवा शक्ति को, जिस तरह भी बनेगा, एक स्वस्थ विचार-मच देने की कोशिश मे भी उसका कोई कदम शेष नही रहेगा। हमे विश्वास है हमारी सहयोगी पत्र-पत्रिकाएँ 'तीर्थंकर' के उक्त लक्ष्य से सहमत होगी और अपने कार्यक्रमो मे उसकी भावना को अवश्य स्वीकार करेगी। 'तीर्थंकर' जैन मनीषा को उसके अगले कदम के लिए ठोस और रचनात्मक जमीन देने के लिए सकल्प के प्रति भी प्रतिपल सतर्क रहेगा। (मई, '७६)

'तीर्थंकर' अपने विविध संकल्पो को अंशत पूर्ण करने मे सफल

'तीर्थंकर' मई १९७७ से सातवे वर्ष मे पदार्पण कर रहा है। इस बीच हमारा प्रयास रहा है कि हम अपने प्रिय पाठको को स्वस्थ, चुनी हुई और प्रेरक सामग्री प्रदान करे और मूल्य-वृद्धि के बावजूद बिना किसी शुल्क-वृद्धि के उन्हे ६०० पृष्ठो की सकलनीय सामग्री उपलब्ध कराये। हमारी स्पष्ट नीति रही है कि पाठक नये वैज्ञानिक तकनीकी और सामाजिक मूल्यो से जुडे, हिन्दी-साहित्य से सम्पर्क रखे, ज्ञान के विविध क्षेत्रो से परिचित हो, उनका चिन्तन व्यापक, उदार और सहिष्णु बने ताकि वे असहमतियो के बीच भी सहमति की सम्भावनाएँ तलाश सके, मानवतावादी मूल्यो को अपनाये ताकि 'वसुधा भर परिवार' की भावना विकसित हो सके, भारतीयता के गौरव को बढाये, जैनधर्म और दर्शन को भारत और विश्व के सन्दर्भो मे प्रस्तुत करे, भारत की प्राचीन सस्कृति भाषा और साहित्य की अधिकाधिक जानकारी पा सके, तथा अन्य भारतीय भाषाओ की उज्ज्वलताओ से अपना रिश्ता रख सके। इन मे से प्राय सभी सकल्पो को हम अशत पूरा करने मे सफल हुए है और आगामी वर्षो मे इन्हे प्राणपण से पूरा करने के लिए सकल्पित है। हमे विश्वास है कि हमारे सहृदय पाठक हमारी भावना को समझेगे और हमारी भरसक मदद करेगे। (अप्रैल, '७७)

'तीर्थंकर' : मेरा जीवन-मिशन

'तीर्थंकर' मेरे लिए आजीविका नही है, वह मेरा जीवन-मिशन है; अत जब भी मै उसे संपादित करता हूँ उसमे अपनी साँस-साँस उँडेल देने की भरपूर कोशिश करता हूँ। माने, सौ फीसदी कि मै सदैव चाहता रहा हूँ कि 'तीर्थंकर' के प्रिय पाठको को ऐसा कुछ दिया जाए जो उनके जीवन को माँजता या मोड़ता हो।

समाज के सम्प्रदायातीत चित्त को जगाया

'तीर्थंकर' ने विगत दस वर्षों मे पूरी स्वतन्त्रता से काम किया है और समाज के सम्प्रदायातीत चित्त को जगाया है। मानवता के उदात्त लक्ष्यों की पूर्ति के साथ ही उसने जीवन के उन मूल्यो को भी पुष्ट किया है जो मनुष्य को एक बेहतर मनुष्य बनाते है और समाज को कोई रचनात्मक खुलाव देते है उसने समाज की गतिशीलता/उर्वरता पर भी ध्यान दिया है। उसके विशेषांको ने सदैव अंधविश्वासो; अंधी परम्पराओ और जर्जर रूढियो को चुनौती दी है और कोशिश की है कि एक सुसगत/स्वस्थ/कल्याणकारी चिन्तन मे आस्था रखने वाले समाज का अभ्युदय हो साहित्य की प्राय: सभी विधाओ के माध्यम से उसने एक आदर्शपरक जीवन की ओर भारतीय चित्त को मोड़ने का प्रयत्न किया है।

'तीर्थंकर' का पाठक-संसार प्रबुद्ध

एक बहुत बड़ी बुराई जिसके खिलाफ 'तीर्थंकर' ने संघर्ष किया है, वह है आम पाठक की खरीद कर न पढने की वृत्ति। वैसे यह समस्या समस्त हिन्दी-जगत् की है और बढते हुई मूल्यो ने इसे और अधिक उलझा दिया है; किन्तु 'तीर्थंकर' का पाठक-ससार प्रबुद्ध है। वह रैपर खोल कर प्रतिक्रिया देने वाला है और जहाँ चाहिये वहाँ विद्रोह करने वाला है। हमें संतोष है कि उसके पाठक जागरुक है और प्रकाशित सामग्री पर अपनी बैलौस राय भेजते है (मई, '८१)

'तीर्थंकर' : मैं : जाता कल, आता कल

मई १९७१ में 'तीर्थंकर' का प्रवेशांक प्रकाश मे आया । यह एक व्यक्तिगत घटना थी।

आध्यात्मिक उन्नयन

तब इसका कोई सामाजिक या सांस्कृतिक मतलब नही था मेरी परिकल्पना थी कि पूज्या माँ हीराबाई तथा श्रद्धेय पिता श्री भैयालालजी की पुण्यस्मृति मे ऐसा कुछ किया जाए जिससे मेरा आध्यात्मिक उन्नयन हो और जिसमें-से यदि कुछ किरणे छन कर समाज मे फैलती हो तो वैसा भी हो।

संकल्प : नभ-से-अधिक ऊँचा/हिमाचल-से-अधिक-अविचल

तब मेरे पास इस निमित्त मात्र दस रुपये की जमा-पूँजी थी, किन्तु संकल्प नभ-से-अधिक-ऊँचा और हिमाचल-से-अधिक-अविचल था। उसमे कही कोई कचाई नही थी। जनवरी-अप्रैल १९७१ के पूरे चातुर्मास सोचता रहा कि वे कौन-से आदर्श हो सकते है जिनके खातिर मेरे माता-पिता जिये और जिनके लिए उन्होने अपना संपूर्ण जीवन न्योछावर किया। रेशा-रेशा होम दिया। खोजता गया और पाया कि वे आहार, आचार, और विचार-शुद्धि के लिए अपने स्तर पर निरन्तर प्रयत्नशील रहे।

माँ का चौका जैनाहार के अनुरूप; वे स्वाभिमानिनी थीं

परिवार का चौका शुद्ध हो, उसमे वही आये जो जैनाहार के अनुरूप हो और जो स्वास्थ्य पर अच्छा सतुलित असर डालता हो। पूज्या माँ इस बात का निरन्तर ध्यान रखती थी कि जो भी सुधा-बिना, साफ-सुथरा और सेहत के अनुकूल हो। उन्हे चरपरा, बहुत खट्टा-मिट्ठा पसन्द नहीं था, किन्तु जहाँ तक मेरा खयाल है उन्होंने परिजनो पर अपनी पसद ना होने, न होने को कभी थोपा नही। वे पढी-लिखी नहीं थी, किन्तु अक्षर-ज्ञान उन्हे अच्छा था। वे अपनी व्यस्त चर्या मे 'भक्तामर' गुनगुनाया करती थी और कभी-कभार शाम-सवेरे पद्‌म पुराण का एकाध पृष्ठ बाँच लिया करती थी। शास्त्र सुनने मे उनकी रुचि थी, किन्तु अधिकाश वक्त वे बच्चो मे अच्छे सस्कार बने इसकी चिन्ता रखती थीं, वे स्वाभिमानिनी थीं इसीलिए याचना की जगह किफायत से काम करना पसद करती थी।

कोई खाली हाथ नहीं लौटा

मुझे याद है हमारे द्वार से सोलह दिसम्बर १९५७ तक (उनके निधन तक)कोई खाली हाथ या भूखा पेट नही लौटा। वे कम खा सकती थीं, भूखी या अधपेट रह सकती थी, किन्तु घर के सामने से कोई ज़रूरतमद खाली हाथ निराश लौट जाए यह उन्हे बर्दाश्त नही था।

आत्मीयता की उदर-वृत्ति को चारो ओर छिटकना

'तीर्थंकर' के द्वारा मै आत्मीयता-की-इस उदार वृत्ति को चारो ओर छिटकना चाहता हूँ। चाहता हूँ कि लोग अपने-अपने कुओ से बाहर आये और समाज-की-नदी मे उसी तरह का योगदान करे जिस तरह का मेरी माँ और मेरे पिताजी कभी किया करते थे।

आत्मीयता को विस्तृत करना/सक्रिय बने रहना

पिताजी का एक स्वभाव था। वे कोई-न-कोई काम अवश्य करते थे। रीते बैठना उनके स्वभाव मे नहीं था। ये दोनो सस्कार पता नहीं कैसे मुझमे भी आये। मै अपनी आत्मीयता को विस्तृत करना चाहता रहा हूँ, दूसरे, कभी निष्क्रिय रहूँ या बैठूँ यह मुझे गवारा नहीं है।

हीरक पुस्तकालय और 'बाल भारत' में 'तीर्थंकर' के जन्म-क्षण का छुपा होना

[illegible] पिताजी को [illegible] अखबार तब एक-दो ही मिला करते थे। वे इन्हे चाव से [illegible]। १९[illegible] मे पूज्या माँ के नाम पर एक पारिवारिक पुस्तकालय की नींव डाली- [illegible] पुस्तकालय'। [illegible] हुआ मेरी जन्मभूमि बड़नगर मे। एक दीवार-मे-बनी छोटी- [illegible] [illegible] [illegible] पुस्तकों से इस पुस्तकालय का शुभारम्भ हुआ था। एक [illegible] [illegible] 'बाल भारत' भी निकाला। प्रिय पाठक जान सकेंगे कि इन [illegible] [illegible] मे ही 'तीर्थंकर' का जन्म-क्षण छुपा हुआ था।

समाज के सम्प्रदायातीत चित्त को जगाया

'तीर्थंकर' ने विगत दस वर्षों मे पूरी स्वतन्त्रता से काम किया है और समाज वे सम्प्रदायातीत चित्त को जगाया है। मानवता के उदात्त लक्ष्यो की पूर्ति के साथ ही उसं जीवन के उन मूल्यो को भी पुष्ट किया है जो मनुष्य को एक बेहतर मनुष्य बनाते है और समाः को कोई रचनात्मक खुलाव देते है उसने समाज की गतिशीलता/उर्वरता पर भी ध्यान दिः है। उसके विशेषांको ने सदैव अंधविश्वासो, अंधी परम्पराओ और जर्जर रूढियो को चुनौत दी है और कोशिश की है कि एक सुसगत/स्वस्थ/कल्याणकारी चिन्तन मे आस्था रख वाले समाज का अभ्युदय हो साहित्य की प्राय. सभी विधाओ के माध्यम से उसने ए आदर्शपरक जीवन की ओर भारतीय चित्त को मोडने का प्रयत्न किया है।

'तीर्थंकर' का पाठक-संसार प्रबुद्ध

एक बहुत बडी बुराई जिसके खिलाफ 'तीर्थंकर' ने सघर्ष किया है, वह है अ पाठक की खरीद कर न पढने की वृत्ति। वैसे यह समस्या समस्त हिन्दी-जगत् की है अं बढते हुई मूल्यो ने इसे और अधिक उलझा दिया है, किन्तु 'तीर्थंकर' का पाठक-सस प्रबुद्ध है। वह रैपर खोल कर प्रतिक्रिया देने वाला है और जहाँ चाहिये वहाँ विद्रे करने वाला है। हमे संतोष है कि उसके पाठक जागरुक है और प्रकाशित सामग्री ' अपनी बैलौस राय भेजते है (मई, '८१)

'तीर्थंकर' : मैं : जाता कल, आता कल

मई १९७१ मे 'तीर्थंकर' का प्रवेशांक प्रकाश मे आया । यह एक व्यक्तिगत घटना थी

आध्यात्मिक उन्नयन

तब इसका कोई सामाजिक या सांस्कृतिक मतलब नही था मेरी परिकल्पना थी ि पूज्या माँ हीराबाई तथा श्रद्धेय पिता श्री भैयालालजी की पुण्यस्मृति मे ऐसा कुछ किया ज जिससे मेरा आध्यात्मिक उन्नयन हो और जिसमे-से यदि कुछ किरणें छन कर समाज ¬ फैलती हो तो वैसा भी हो।

संकल्प : नभ-से-अधिक ऊँचा/हिमाचल-से-अधिक-अविचल

तब मेरे पास इस निमित्त मात्र दस रुपये की जमा-पूँजी थी, किन्तु संकल्प नभ-से-अधिक-ऊँचा और हिमाचल-से-अधिक-अविचल था। उसमे कही कोई कचाई नही थी। जनवरी-अप्रैल १९७१ के पूरे चातुर्मास सोचता रहा कि वे कौन-से आदर्श हो सकते है जिनके खातिर मेरे माता-पिता जिये और जिनके लिए उन्होंने अपना संपूर्ण जीवन न्योछावर किया। रेशा-रेशा होम दिया। खोजता गया और पाया कि वे आहार, आचार, और विचार-शुद्धि के लिए अपने स्तर पर निरन्तर प्रयत्नशील रहे।

माँ का चौका जैनाहार के अनुरूप, वे स्वाभिमानिनी थीं

परिवार का चौका शुद्ध हो, उसमे वही आये जो जैनाचार के अनुरूप हो और जो स्वास्थ्य पर अच्छा सतुलित असर डालता हो। पूज्या माँ इस बात का [illegible] थीं कि जो भी सुधा-बिना, साफ-सुथरा और सेहत के अनुकूल हो। इन मामलो, [illegible] खट्टा-मिट्ठा पसन्द नहीं था, किन्तु जहाँ तक मेरा ख्याल है उन्होंने परिवारों पर अपना [illegible] का होने, न होने को कभी थोपा नहीं। वे पढ़ी-लिखी नहीं थी, किन्तु अक्षर-ज्ञान उनका अच्छा था। वे अपनी व्यस्त चर्या मे 'भक्तामर' गुनगुनाया करती थी और शाम-सवेरे पद्म पुराण का एकाध पृष्ठ बाँच लिया करती थी। शास्त्र सुनने मे उनकी रुचि थी, किन्तु अधिकाश वक्त वे बच्चो मे अच्छे सस्कार बने उसकी चिन्ता रखती थी; वे स्वाभिमानिनी थी इसीलिए याचना की जगह किफायत से काम करना पसद करती थी।

कोई खाली हाथ नहीं लौटा

मुझे याद है हमारे द्वार से सोलह दिसम्बर १९५७ तक (उनके निधन तक) कोई खाली हाथ या भूखा पेट नहीं लौटा। वे कम खा सकती थीं, भूखी या अधपेट रह सकती थीं, किन्तु घर के सामने से कोई जरूरतमद खाली हाथ निराश लौट जाए यह उन्हें बर्दाश्त नहीं था।

आत्मीयता की उदर-वृत्ति को चारो ओर छिटकना

'तीर्थंकर' के द्वारा मै आत्मीयता-की-इस उदार वृत्ति को चारो ओर छिटकना चाहता हूँ। चाहता हूँ कि लोग अपने-अपने कुओ से बाहर आये और समाज-की-नदी मे उसी तरह का योगदान करे जिस तरह का मेरी माँ और मेरे पिताजी कभी किया करते थे।

आत्मीयता को विस्तृत करना/सक्रिय बने रहना

पिताजी का एक स्वभाव था। वे कोई-न-कोई काम अवश्य करते थे। रीते बैठना उनके स्वभाव मे नही था। ये दोनो सस्कार पता नहीं कैसे मुझमे भी आये। मै अपनी आत्मीयता को विस्तृत करना चाहता रहा हूँ, दूसरे, कभी निष्क्रिय रहूँ या बैठूँ यह मुझे गवारा नही है।

हीरक पुस्तकालय और 'बाल भारत' में 'तीर्थंकर' के जन्म-क्षण का छुपा होना

पूज्य पिताजी को जैन अखबार तब एक-दो ही मिला करते थे। वे इन्हे चाव से पढते। १९४२ मे पूज्या माँ के नाम पर एक पारिवारिक पुस्तकालय की नीव डाली-'हीरक पुस्तकालय'। यह हुआ मेरी जन्मभूमि बडनगर मे। एक दीवार-मे-बनी छोटी-सी अलमारी थी जिसमे ५-७ पुस्तको से इस पुस्तकालय का शुभारम्भ हुआ था। एक हस्तलिखित अखबार 'बाल भारत' भी निकाला। प्रिय पाठक जान सकेगे कि इन छोटी-छोटी घटनाओ मे कहाँ 'तीर्थंकर' का जन्म-क्षण छुपा हुआ था।

जैनधर्म के प्रति गहरी/अबुझ पिपासा

जैनधर्म और दर्शन को लेकर मन मे गहरी-अबुझ पिपासा बचपन से ही थी। इन्हे खूब गहरे पैठ कर जानना चाहता था; किन्तु उतनी पारिवारिक सुस्थिरता नही थी कि अबाध बैठ कर वह सब कर पाऊँ (आज भी लेखन के लिए जो अबाध/अभंग चाहिये, नही है, किन्तु गहरे उतर कर सोचता रहता हूँ और जैनधर्म/दर्शन की गहराइयो मे गोते लगाता रहता हूँ, जो मणि-मुक्ता वहाँ से मिलते है अपने प्रिय पाठकों को बडे अकृपण भाव से देता रहता हूँ)।

'तीर्थंकर' की जन्म-कथा बड़ी विचित्र

'तीर्थंकर' की जन्म-कथा बडी विचित्र है। योजना बनायी। भाई प्रेमचन्द साथ थे। मित्रो से चर्चा की; किन्तु ऐसा कोई ढाढस नही मिला कि कुछ लोग मेरे इस रथ-के-चक्र या अश्व बन कर मेरी मदद करेगे। एक प्रोफेसर साहब मिले। घंटे भर तक मैंने अपनी योजना बतायी। सुनी उन्होंने; किन्तु बोले अन्तत. 'मै दस रुपये क्यो दूँ ? क्या पता आप इसे पूरे साल निकाल ही न पाये ?' प्रोफेसर साहब जैन थे। पैसे-पर-उनकी-मजबूत-पकड थी, किन्तु वक्त-की-नब्ज पर शायद उनकी किसी भी अँगुली का कोई पौर नही था। समाज मे उनकी साख थी, क्यो थी- यह आज भी नही जान पाया हूँ। मै निराश नही हुआ। निराश होना मेरे खून मे नही है। मैंने स्वाभिमानपूर्वक कहा-'ठीक है सर, 'तीर्थंकर' फिर भी निकलेगा और मेरी मृत्यु के बाद भी निकलता रहेगा'। वे मेरी दृढता देख कर चौके जरूर; किन्तु तब तक मै उन्हे अपने भीतर से सौ फीसदी नकार चुका था।

'तीर्थंकर' के प्रकाशन के ठीक एक माह बाद मुनिश्री विद्यानन्दजी का वर्षावास

१९७१ मे मुनिश्री विद्यानन्दजी का वर्षावास इन्दौर मे हुआ यह संयोग ही था कि 'तीर्थंकर' के प्रकाशन के ठीक एक मास बाद वे इन्दौर पधारे। मुझसे उनकी चर्चा हुई। लगा, इस सत मे वह सब आकण्ठ है जो पूरे जैन समाज मे नही है। उन्हीं के कारण स्व श्रीमती रमा जैन से सपर्क हुआ। उन्होंने तब जो मदद की वह अब उनके खानदान से सहज उपलब्ध नही है। यह मदद का अर्थ साम्पत्तिक/वित्तीय मदद से बिल्कुल नही है-वह तो बेहद हल्के दर्जे की मदद होती है-एक ऐसी मदद मुझे उनसे ओर बाद को बाबू श्री श्रेयास प्रसादजी से मिली जिसे धन-की-तराजू पर नही तोला जा सकता।

समाज को अमृत का उपहार देने के लिए संकल्पित

रथ-चक्र बढता गया और दो साल होने को हुए एक हादसा हुआ। इक्कीस अप्रैल १९७३ को पत्नी का देहान्त हो गया। इसे मै विष-की-तरह गटागट पी गया, इस सकल्प के साथ कि अब से पूरे मुल्क और समाज को अमृत का उपहार दूँगा। रोम-रोम मृत्यु-की-कल्पना-मे प्राय तब सिहर जाता था, अब वैसा नही है अब मृत्यु मेरा एक प्रिय विषय है।

करता हूँ 'पंथ-रहित जैनत्व' की जहाँ कोई आचार्य अपनी तुलना गांधी से नही करता-कराता, बल्कि जहाँ वह खुद अपने आचरण में-से उदाहरणीय बनता है।

'तीर्थंकर' को कॉमन जैन (समाज के अन्तिम जैन) की चिन्ता-चिन्तन

'तीर्थंकर' तमाम साधुई साजिशो के खिलाफ खड़ा रहा है, अविचल खडा रहेगा। वह वहाँ तक अवश्य जाएगा जहाँ निबिड़ अन्धकार है, जहाँ असत्य है, जहाँ अन्याय और अनीति है, जहाँ मिथ्यातत्त्व है- और भरपूर कोशिश करेगा कि वहाँ रोशनी पहुँचे/जमे,सत्य की स्थापना हो, अन्याय अपना बिसार-बोरिया बॉध कर भाग खड़ा हो और सम्यक्त्व की किरणे चारो ओर/दिगदिगन्त तक फैल जाएँ, इसीलिए अब से वह 'कॉमन जैन' (समाज की अन्तिम जैन) की फिक्र लेगा; समाज के विशिष्टो की चिन्ता भला उसे क्यो करनी चाहिये ?

'हीरा-भैया-वर्ष' में तीन कार्यक्रम : आहार-शुद्धि, आचार-शुद्धि, विचार-शुद्धि

आने वाले वर्षों में उसके सामने तीन कार्यक्रम हैं: आहार-शुद्धि, आचार-शुद्धि, विचार-शुद्धि। हीरा भैया प्रकाशन 'तीर्थंकर' के अठारह वें वर्ष (मई, '८८ से अप्रैल, '८९) मे हीरा भैया वर्ष के रूप मे संपन्न करने जा रहा है। इस वर्ष वह तीन पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाश मे लायेगा। वे है : 'शाकाहार-क्रान्ति, 'तीर्थंकर' , 'समय' ।

'शाकाहार-क्रान्ति' : आहार-शुद्धि

'शाकाहार-क्रान्ति' गत एक वर्ष से प्रकाशित है और पूरे मुल्क मे भक्ष्याभक्ष्य-के-विवेक के लिए सक्रिय है। वह बनती कोशिश उन जीवन्त क्षेत्रो मे रेखांकित करेगी जहाँ हिसा होती है और जहाँ अहिसा-मे-आस्था रखने वाले व्यक्ति की हिफाजत होनी चाहिये। अपने डेढ़ वर्ष के संक्षिप्त जीवन-काल मे 'शाकाहार-क्रान्ति'ने जो कुछ किया है वह उल्लेखनीय है। 'शाकाहार-क्रान्ति' द्वैमासिक है, हमारा संकल्प आहार-शुद्धि के लिए 'शाकाहार-क्रान्ति' एक समर्पित पत्रिका के रूप मे, एक सजग प्रहरी के रूप में अपने हाथ में मशाल लिये अनथक चलती रहे।

'तीर्थंकर' आचार-शुद्धि

'तीर्थंकर' आचार-शुद्धि की दिशा मे सक्रिय पहल करेगा। उसे जहाँ-जहाँ सदाचारमे कभी महसूस होगी- खासतौर से सामाजिक सदाचार मे वह वहाँ-वहाँ पहुँच कर पूरी निर्भीकता से जूझेगा, कन्तु जूझते हुए वह इस बात का ध्यान रखेगा कि जो हो, वह प्रामाणिक हो और रचनात्मक मंशा से हो। विनाश की ओर न तो उसका कदम कभी रहा है और न ही रहेगा। 'तीर्थंकर' मासिक है और गत सत्रह वर्षों से निरन्ती प्रकाशित है।

'समय' : विचार-शुद्धि

तीसरा पत्र होगा। 'समय' यह जैनाध्यात्म का त्रैमासिक पत्र होगा। इसका प्रथमांक भाद्रपद मे प्रकाशित होगा। प्रथमांक का विषय होगा-'प्रथमरति'। रूढियो से बच कर एक सामान्य जैन के लिए हम इस अंक का संयोजन करेगे।

स्वस्थ त्रिकोण की रचना

इस तरह 'हीरा-भैया वर्ष' मे हम व्यक्ति और समाज के विभिन्न आहार, आचार, विचार के एक ऐसे स्वस्थ त्रिकोण की रचना का प्रयास करेगे, जिससे जैनधर्म की मूलभूत निर्मलताओ की वापसी हो ओर हमे 'जैन' होने/कहलाने मे गौरव का अनुभव हो।

'जैन' होने का मतलब : 'सत्यान्वेषी मनुज' होना

मानिये 'जैन' होने का मतलब है 'सत्यान्वेषी मनुज' होना। 'तीर्थंकर', 'शाकाहार-क्रान्ति' और 'समय' जैसे साथी प्रकाशनो के साथ अपने इस सकल्प की पूर्ति मे पल-प्रतिपल लगा रहेगा। आइये, इस ऐतिहासिक अनुष्ठान मे आप अपना अजलि-दान कीजिये। (अप्रैल, '८८)

तेईसवाँ वर्ष : चुनौतियों का चक्रवात

अप्रैल १९९३ मे 'तीर्थंकर' ने अपने जीवन के २२ वर्ष सपन्न किये है तथा मई १९९३ मे उसने तेईसवे चुनौतीपूर्ण वर्ष मे पाँव रखा है। इसकी बाईस साला जिन्दगी कैसी रही, उसे कौन-कौनसी मुसीबतो और मुश्किलो का सामना करना पडा, इसकी वहिरग कथा तो हमारा पाठक-समुदाय जानता है, किन्तु जहाँ तक अतरग कथा-व्यथा का सवन्ध है, जो उसने अपने अस्तित्व को कायम रखने के लिए सही-झेली है, वह अनकही है और सभवत दुस्सह भी।

चुनौतियो और चेतावनियो का सामना

निश्चय ही इस बीच उसे कई चुनौतियो और चेतावनियो से निबटना पड़ा है। कही उसके अंक फाडे गये, कही पुलिस थानो मे रपटे हुई, कही कुछ मुनि-आचार्यों के इशारो पर उसे नोटिस 'सर्व' किये गये, कही उसके सपादक को चेतावनी/धमकी दी गयी, किन्तु बावजूद इस सघर्ष के जो मार्ग, जो दिशा उसने मई १९७१ मे चुनी थी उस पर वह अविचलित रहा-रेशे-भर भी इधर-उधर नही हुआ।

स्वच्छ सामाजिक/सांस्कृतिक राहों का अविराम अन्वेषण

किसी धमकी, किसी नोटिस, अथवा किसी साधु/नेता की सतुष्टि के आगे उसने घुटने नही टेके, अपितु औचित्य, न्याय, और सम्यक्त्व के लिए जूझ कर उसने स्वच्छ सामाजिक तथा सास्कृतिक राहो का अविराम अन्वेषण किया।

अंगीकृत संकल्पो की पूर्ति में आंशिक सफलता

जिन सकल्पो की पूर्ति मे उसे आंशिक सफलता मिली, वे है- १ जीवन के हर मोर्चे पर हिसा और क्रूरता से मुकाबला, २ अहिसा के साथ जो पाखण्ड आ जुड़ा है, उसका निरसन, ३. मानव-मात्र/प्राणि-मात्र की सेवा के लिए जागरूकता, ४. कथनी-करनी मे

एकता का जो सूत्र मनुष्य के हाथ से खिसक गया है, उसकी पुन· संस्थापना, ५. स्वतन्त्र और आत्मनिर्भर पत्रकारिता के लिए आवश्यक/न्यायोचित पृष्ठभूमि का निर्माण; ६ जैनत्व के सही अर्थ की अभिव्यक्ति, ७ आगम की निर्मलताओ का पुनरुज्जीवन, ८. सास्कृतिक चेतना का पुनर्जागरण, ९. पश्चिम की व्यसनोन्मुख प्रवृत्तियो का निर्भीक सामना, १० जैन साहित्य को सृजनधर्मिता की दिशा मे मोड़ना, ११. शिथिलाचार का सर्वत्र/सदैव, हर मोर्चे पर मुकाबला, १२. आहार, आचार और विचार-शुद्धि के लिए सशक्त अभियान, १३ आगामी पीढी/को स्वस्थ/स्वच्छ दिशा-दृष्टि, १४. धर्म की अपेक्षा अध्यात्म पर अधिक बल।

'तीर्थंकर' अपने संकल्पों के प्रति सुदृढ़, सजग, सुप्रतिबद्ध

यद्यपि उक्त संकल्पो के कारण 'तीर्थंकर' को कडे आर्थिक संघर्ष झेलने पडे है, तथापि उसने न तो किसी से भीख माँगी है और न ही वह अस्तित्वशेष हुआ है। समाज के कई शीर्ष नेताओ ने उसके खिलाफ आर्थिक नाकाबंदी करने का दुस्साहस भी किया, किन्तु इसका उसके उद्देश्यो पर कोई असर नही हुआ, बल्कि वह अधिक तेजोमयता के साथ अपने सकल्पो के प्रति सुदृढ, सजग, और सुप्रतिबद्ध हुआ। कई बार तो इन पंक्तियों के लेखक को प्रलोभन भी दिये गये; किन्तु उसने इन कमीना पेशकशो पर कोई तरजीह नही दी और अपनी तय-शुदा स्वच्छ डगर पर निरन्तर चलता रहा। उसके कई विशेषांको को वक्रदृष्टि से देखा गया, किन्तु अन्तत उसे सफलता मिली और रूढियों ने उसकी निष्ठाके आगे आत्मसमर्पण कर दिया।

'तीर्थंकर' के लिए अहिंसा सर्वोपरि

'तीर्थंकर' के लिए अहिसा सर्वोपरि रही है। उसने इस दृष्टि से अत्यन्त समर्पित चित्त से प्रयत्न किया है। कई जैनो ने कहा भी कि वे अपनी आजीविका नही छोड पायेगे; क्योंकि आवश्यक नही है कि आजीविका, या उदर-पोषण और धर्म के बीच कोई सुसंगत मैत्री हो ही। तय है उनकी दलील लचर है, और उन्हे अपनी आजीविका को न सिर्फ अहिसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह, बह्मचर्य के अणु-सस्करणो से जोडना चाहिये, बल्कि उसके मूलभूत सिद्धान्तो की संगति मे नयी राहे आविष्कृत करनी चाहिये। कुछ लोगो ने 'तीर्थंकर' से प्रभावित हो कर अपनी आजीविकाओं मे फेरबदल किया है, कुछेक ने स्वस्थ/उचित विकल्प खोजे है, किन्तु अधिकांश लोग धर्म की वैज्ञानिक शक्ल को पूरी तरह समझ नही पाये, अत वे अपनी आजीविका मे कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं कर सके।

'तीर्थंकर' का पाठक-समूह भी शाश्वत जीवन-मूल्यों को अपनाने के लिए संकल्पित हो

हमे विश्वास है कि इन वाईस सालो में 'तीर्थंकर' जिन जीवन-मूल्यो को अग्रसर करता रहा है, उसका पाठक-समूह तदनुसार तेईसवे वर्ष के आरम्भ में यह संकल्प करेगा कि वह अहिसा को गौरवान्वित करेगा और उसे सिर्फ ध्वज-के-अक्षर नही रहने देगा अपितु जीवन मे सर्वत्र उसे-उसकी अदृप्त रोशनी को प्रकट करेगा। (मई, '९३)

'तीर्थंकर' के विविध/विशिष्ट विशेषांक

'तीर्थंकर' के णमोकार विशेपाक (भाग १,२, नव. '८०/ जनवरी '८१) मे हमने स्पष्ट कहा है कि यह मन्त्र लौकिक उपलब्धियो के लिए नही हे वरन् अलोकिक सम्यक् वोध, सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए है। यह महामन्त्र एक अद्भुत-अपूर्व जीवन-शेली (सीढी-दर-सीढ़ी) है, जिसे प्रमाणित/स्थापित होने मे सहस्राब्दियाँ लगी है। साधुत्व का सिद्धत्व मे उत्तरोत्तर रूपान्तरित होना, णमोकार का अतरग सदश/आधार हे। जो पुरुपार्थ हममे है, उसे हम किस तरह क्रमश उद्घाटित/विकसित करे कि वह अपनी ऊर्ध्वगता मे उस ऊँचाई तक आ लगे जिसके आगे तमाम ऊँचाइयाँ व्यर्थ हो पड़े। 'णमोकार विशेपाक' मे हमने महामन्त्र के आन्तरिक गठन (इनर एनोटॉमी) पर सर्वतोमुख प्रकाश डालने का प्रयत्न किया हे। इस सदर्भ मे 'तीर्थंकर' के 'प्रतिक्रमण' (अक्टू.-नव , '८४/दिस , '८४) तथा सामायिक (जन , '८५) विशेपाको को भी विस्मृत करना संभव नही है। 'टोना-टोटका/जतर-मतर विशेषाक' (फर.-मार्च-अप्रैल, '८७) सम्यक्त्व की बुनियाद को मजबूत करने तथा जैन जन को अन्धविश्वास से मुक्त करने का एक महत्त्वपूर्ण अनुष्ठान है। इसे ध्यान से पढा जाना चाहिये। 'ओम्' तथा 'णमोकार महान्त्र' विशेपांको को एक साथ देखने-पढने का रसास्वाद और नेत्रोन्मीलन बिलकुल अपने ढग का है। 'पूजा विशेषाक' (अगस्त-सित , '८५) को भी इस सिलसिले मे भूलना न्यायोचित नहीं होगा। 'जैन भौतिकी विशेषाक' (अग - सित , '९६) मे हमने इसके पाँचवे अध्याय पर आधुनिक परमाणु-विज्ञान के सदर्भ मे तुलनात्मक प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है। इस मे हमने इशारा किया है कि 'तत्त्वार्थ-सूत्र' को आधुनिक भाषा-शैली मे प्रस्तुत किया जाना चाहिये ताकि आवालवृद्ध इससे उपकृत हो तथा वे जैनधर्म/दर्शन की विशिष्टताओ से परिचित हो सके। इस सदर्भ मे 'तीर्थंकर' के 'जैन भूगोल विशेषाक' (अगस्त '८२) को भी देखा जाना चाहिये। 'जैन जैविकी' (विशेषाक फर.-मार्च, '८६) भी इस दृष्टि से एक ऐसा अक है, जो जैन धर्म/दर्शन के वैज्ञानिक स्वरूप को प्रतिपादित करता है। हमे विश्वास है, यदि पाठको का सहयोग मिला तो हम 'तत्त्वार्थ-सूत्र' को ले कर भी एक अपूर्व/न भूतो न भविष्यति विशेषांक प्रकाश मे लाने का यत्न करेगे। 'तीर्थंकर' का 'भक्तामर स्तोत्र विशेषांक' (जनवरी '८७) इसकी कई विशेषताओ को रेखाकित करने मे सफल हुआ है, किन्तु अभी इसका समाजशास्त्रीय मूल्यांकन शेष है। ध्यान रहे यह अपने समकालीन व्यक्ति और जन-जीवन का अपूर्व दर्पण है।

'तीर्थंकर' में समग्र विषयो पर सहचिन्तन

इन विशेषांको के अलावा 'तीर्थंकर' के '[illegible]' ([illegible], '[illegible]) तथा 'जैन जन-जागरण' (मार्च-अप्रैल, '९१) विशेपाक भी [illegible] हुए हैं। दोनों [illegible] है। 'जैन ध्यान/जैन योग विशेषाक (अप्रैल '८३) ने [illegible] [illegible] व्यक्ति के सुख-शान्ति का जो संदेश दिया है, उसे भुलाया नहीं जा सकता।

हम नही सोचते कि इन २५ वर्षों में 'तीर्थंकर' के ३०० अको मे ऐसा कोई विषय छूट गया हो, जिस पर जैन जन को विचार करना था, या वह जिस पर विचार करना चाहता था। भविष्य मे भी हमारी कोशिश रहेगी कि हम बगैर किसी दबाव या पूर्वाग्रह के जैन जन/जैन समाज का स्पष्ट मार्गदर्शन करे; उसकी समस्याओ के तर्कसंगत समाधान ढूंढें।

समाज को सम्यक् जीवन-दर्शन में अपनाने की दिशा में अग्रसर करना

हमारा विनम्र प्रयास रहा है कि चुनौतियो और चेतावनियो के इस अन्धे/अँधेरे जमाने मे हम जैन समाज को जगायें, उसे उत्साहित करे तथा उसे एक स्वस्थ, सुचिन्तित और सम्यक् जीवन-दर्शन को अपनाने की दिशा मे अग्रसर करे।

स्वाध्याय के प्रति उदासीनता

हम जानते है कि इधर के ३-४ दशको मे न सिर्फ जैन अपितु संपूर्ण भारतीय समाज मे स्वाध्याय के प्रति उदासीनता और बेरुखी बढी है। अजीब बात है कि लोग आपराधिक अपव्यय कर सकते है, किन्तु कोई अच्छी किताब या पत्र-पत्रिका खरीद कर नही पढ सकते। यहाँ 'खरीद कर' शब्दो पर हमे रेखांकित करते हुए विचार करना चाहिये। **जो लोग संपूर्ण साधन-सुविधाओं से लैस हो कर अपना जीवन-यापन करते हैं; ऊँचे-ऊँचे भवनों में रहते हैं-आश्चर्य है कई बार उनके उन भव्य प्रासादों में स्वाध्याय के नाम पर एक भी किताब उपलब्ध नहीं होती।** वे इर्द-गिर्द के राजनैतिक , व्यापारिक, आर्थिक इत्यादि जीवन की तो चिन्ता रखते है; किन्तु अपने तथा अपने कुटुम्ब के बारे मे बेफिक्र बने रहते है। वे बेखबर होते है उन तमाम विकृतियो के बारे मे जिन्होंने हमारे जीवन को चिन्दा-चिन्दा/ध्वस्त किया है और इस तरह उजाड दिया है कि अब उसकी ठीक-से साल-सभाल भी मुश्किल हुई है।

'तीर्थंकर' का प्रयत्न : विश्व को अहिंसा/शान्ति/करुणा की दिशा में प्रवृत्त करना

ऐसे विषम/प्रतिकूल वातावरण मे 'तीर्थंकर' का प्रयत्न है कि जैन धर्म/दर्शन/अध्यात्म की गुणवत्ता को श्रावकीय/श्रमणीय स्तर पर प्रस्तुत किया जाए और संपूर्ण विश्व को अहिसा/शान्ति/करुणा की दिशा मे प्रवृत्त किया जाए। हमे विश्वास है छब्बीसवें वर्ष मे हम अपने इस संकल्प को पूरा करने मे हर संभव पुरुषार्थ कर सकेगे। (मई, '९६)

डॉ. नेमीचन्द जैन

च य नि का

स्वाभाविक संभावनाओ की खोज़

'तीर्थंकर' प्रयत्न करेगा कि वह जीवन और जगत् मे व्याप्त विकृतियो से विचार के स्तर पर जूझे और मनुष्य को मनुष्य के रूप मे प्रतिष्ठित किये जाने की स्वाभाविक सभावनाओ को ढूँढ निकाले। (१/मई, '७१)

मनुष्यता की विजय

हमे विश्वास है, मनुष्यता मे विश्वास रखने वाली शक्तियो की विजय होगी और राजनीति तथा सत्ता के उन्माद की पराजय होगी। (२/जून, '७१)

सही पर सही

हमे एक सतुलित दृष्टि से समन्वित समाज की रचना द्वारा सामजस्य स्थापित करना है, और लगातार सही पर सही नही करते जाना है वरन् जो सही है, उसी पर सही करना है। (३/जुलाई, '७१)

स्वाध्याय का लक्ष्य

स्वाध्याय मे सौंदर्य-शोध और बोध दोनो के लिए जगह है। भीतर के सौदर्य को खोजना और उस ढूँढे हुए खजाने को दूसरो के लिए उन्मुक्तता से खोल देना स्वाध्याय का लक्ष्य है। (४/अगस्त, '७१)

संधि-पत्र

जीवन-मूल्यो को जीवन मे चरितार्थ करके हम सधि-पत्र पर हस्ताक्षर करने मे सक्षम हो सकते है। (५/सितम्बर, '७१)

निर्वाण-वेला/निर्माण-वेला

वीर-निर्वाण की पुण्यवेला मे हमे निर्माण के नये-नये [illegible] खोलने की तैयारी रखनी चाहिये और पूरे उल्लास के साथ उसमे जुट जाना चाहि[illegible] ([illegible], '७[illegible])

पारस और कमठ

अक्रोध और क्रोध, पार्श्व और कमठ दोनो [illegible] है; एक [illegible] है, [illegible] खांडा, एक रक्षा है, एक प्रहार है। सच पूछा [illegible] पार्श्व और [illegible] जगमते है, कुछ लोग पार्श्व के पार्श्व में [illegible] और कुछ [illegible] है। (७/नवम्बर, '७१)

अभिशाप/शुभाशीष

पराधीनता से बडा कोई अभिशाप नही है और स्वाधीनता से बडा कोई शुभाशीष नही है। (८/दिसम्बर, '७१)

मूलदृष्टि/अन्तर्दृष्टि

विज्ञान ऑख को देखने की अधिक शक्ति दे सकता है, किन्तु मूलदृष्टि तो उसे मनुष्य से ही प्राप्त करनी होगी। यह दृष्टि मनुष्य के बाहर नही है, मनुष्य के भीतर बहुत गहरे है। इसे उत्साहित करने का काम धर्म कर सकता है। (९/जनवरी, '७२)

चुनाव : मतदाता की खोज-प्रक्रिया

मतदाता उस नये आदमी की तलाश मे भी है जो नयी आदमियत की रचना कर रहा है, वह उसकी अपनी धरती का अपना बेटा हो और वही ऊगा-फला-फूला हो। वह उस आदमी की ओर बडी आशा से निहार रहा है जो भारतीयता का सच्चा प्रतिनिधि है और दुनिया की नब्ज को जानता है। चुनाव मतदाता की खोज-प्रक्रिया है। (१०/फरवरी, '७२)

ज्ञान के लिए दो शर्तें

ज्ञान के लिए दो शर्तें चाहिये, १. अनाग्रह, २ पक्षातिक्रान्त हृदय। जो चित्त किसी एक छोर पर पहुँच कर रुक जाता है, उसे कुछ भी प्राप्त नही होता, और जो उस छोर को अन्तिम नहीं मानता, वह समग्रता तक धीमे-धीमे ही सही पहुँच जाता है। (११/मार्च, '७२)

सद्विचार को लेकर सक्रिय

हम सद्विचार को लेकर सक्रिय है। हमने अनेकान्तवादी-शैली को अपनाया है, अत न हमारा पूर्वाग्रह है और न कोई पहिले से निश्चित आन्दोलन। (१२/अप्रैल, '७२)

समर्पण की ताक़त समृद्धि से कई गुना बड़ी

समर्पण की ताकत समृद्धि की ताकत से कई गुना बडी है, इसलिए हम अधिक खर्च की अपेक्षा सही खर्च, सही जगह और सही काम की बात पर ही अधिक बल दें। हममे से प्रत्येक का प्रयत्न यह हो कि हम स्वयं अधिक नेक और प्रामाणिक बनें और ऐसा करते हुए अन्यो को भी वैसा बनने की प्रेरणा दें। (१३/मई, '७२)

समरस/सन्तुलित जीवन

जैनों को एक ऐसे जीवन को दुनिया के सामने जी कर बताना चाहिये जो भिन्न हो किन्तु सुघट हो, समरस हो, सन्तुलित हो। क्या एक शोषण-रहित समाज की स्थापना मे महावीर-जैसे अपरिग्रह के अनुयायियो की कोई भूमिका नहीं हो सकती ? (१४/जून, '७२)

कला एक सन्तुलक तत्त्व

लोकजीवन को निर्विकार, निष्कलुष, सरस सुखद और समरस बनाने के लिए आज कला को आगे लाना चाहिये। आज जितनी आवश्यकता हमे विज्ञान की है, उतनी ही समानान्तर आवश्यकता कला की है। कला एक सन्तुलक तत्त्व हे, इससे जीवन का 'धर्म-काँटा' स्वस्थ बना रहता है। आज यही 'धर्म-काँटा' काँटो की शेय्या पर हे। कला ही इसका पुन स्थापन कर सकती है। इसलिए असगतियो के परिहार के निमित्त हमे धर्म ओर संस्कृति को ललित कलाओ की स्वर्ण-सस्पर्श देना जरूरी है। (१४/जून, '७२)

बँधे हुए आदमी की मुक्ति आत्मबोध

आज का आदमी मिथ्यात्व से आहत हे, इसलिए सम्यक्त्व की निर्मल धार मे उसका अवगाहन जरूरी हुआ हे। अन्धकार से जूझते-जूझते उसने रोशनी की पहिचान खो दी है। रोशनी कैसी होती है, इसका बोध उसमे मर गया है। इसे जीवित कोन करे ? वह खुद। ज्ञान के मामले मे बाहर से कोई मदद आने वाली नही है। शक्ति आदमी मे है, आदमी शक्तिशाली है, सिर्फ उसमे इस शक्ति का वोध मरा हुआ है। इसे जिन्दा होने या करने की देर भर है। बँधे हुए आदमी की मुक्ति आत्मवोध है। इसके आगे न कोई मार्ग है, न मजिल। (१५/जुलाई, '७२)

'गरीबी हटाओ' का नवार्थ 'चरित्र को अमीर बनाओ'

'गरीबी हटाओ' को नवार्थ दे दिया जाए तो देश पलक मारते कही-का-कही हो सकता है, उसकी असली ताकत प्रकट हो सकती है। कोई देश पैसे, यानी दौलत से समृद्ध नही हो सकता। उसकी वास्तविक शक्ति है वहाँ का सच्चरित्र मनुष्य जिसकी अन्तरात्मा का कोष उन्मुक्त है, जिसके ईमान की दौलत चौकस है, जो दूसरो की स्वाधीनता मे अपनी स्वाधीनताके दर्शन कर रहा है, जो दूसरो के पेट मे उतरती रोटी से अपनी भूख को मिटते पा रहा है, जो दूसरो के उत्थान मे अपने उत्थान की अनुभूति कर रहा है, जो दूसरे की खुशी मे अपनी खुशी को सम्मिलित मान रहा है। इसलिए 'गरीबी हटाओ' का असली और अमली सदर्भ है-'चरित्र को अमीर बनाओ'। (१६/अगस्त, '७२)

आत्मनिरीक्षण परिष्कार की उत्तम प्रक्रिया

आत्मनिरीक्षण मन-मस्तिष्क के परिष्कार की सबसे उत्तम प्रक्रिया है। इससे चित्त को जो ऊँचाई मिलती है, वह अन्य किसी प्रक्रिया से सभव नहीं है। इसका तकादा है कि हम यह खोजे कि हम क्या है, कल क्या थे, आज क्या है, और इस खोज को हम निरन्तर इतना तीव्र करते जाएँ कि प्रतिक्षण हम इस बात को देख सके कि पिछले क्षण हम क्या थे, और जिस क्षण के भीतर चल रहे है, उसमे क्या है, क्या हो रहे है। अपने होने को प्रतिक्षण देखना ही

पर्व है। आप क्या है, और क्या होते जाते है, इसे देखना ही जैन होना है। जैन होने के लिए 'जिनवाणी' बगल मे होना जरूरी नही है, जिनवाणी को चित्त के भीतर स्थापित करना आवश्यक है। (१७/सितम्बर, '७२)

तीर्थंकरों के उत्तराधिकार की शृँखला

भगवान् ऋषभनाथ का उत्तराधिकार छनता हुआ चला आया है; बीच मे बाईस हस्ताक्षर हुए है सम्यक्त्व के इस दस्तावेज पर। दस्तावेजो की या समर्थनों की यह शृँखला कोई कम महत्त्व की नही है। यह ऐतिहासिक है, सुदीर्घ है, बहुविध है। चौबीस तीर्थंकरो का, सम्यक्त्व की सूत्रकार-सूत्रधार शक्तियो का उत्तराधिकार जिसे मिला हो, उसके आलम का क्या कहना, उसकी खुशियो का क्या ठिकाना ! यह उत्तराधिकार तपश्चर्या और साधना-जनित है। तीर्थकरो के उत्तराधिकार की शृॅखला उज्ज्वलताओं की वर्द्धमान पंक्ति है। इनमे-से हरेक ने आत्मा की कसौटी पर तथ्यो की स्वानुभूति मे जाना है, अनुभव किया है, और दिव्यध्वनियो मे ध्वनित किया है। कही कोई फर्क नही है, एकरूपता है। सब कुछ जो एक के अनुभव में आया, वही दूसरे के अनुभव मे उपलब्ध हुआ। हू-ब-हू एक। फर्क है तो प्रस्तुतीकरण मे, जानने की प्रक्रिया मे, युग-भगिमा मे। द्रव्य एक, पर्याय भिन्न, विचार वही, माध्यम अलहदा, शब्द अलग, अर्थनाद वही। इस तरह उत्तराधिकार उत्तरोत्तर सघन होता उत्तराधिकार, अधिक सशक्त और अनुभूत उत्तराधिकार महावीर को मिला। अनेकान्तवाद तेईस छन्नो मे छन चुका तब कहीं आया महावीर के पास। (१८/अक्टूबर, '७२)

महावीर की अपना राह/पद्धति

महावीर की अपनी राह है और वह करनी की राह है, पुरुषार्थ की गंगोत्री से उमंगित राह है। राह है, पद्धति है, कोई चलने वाला इस पर चल नही पाता तो आप ही बताये इसमे राह बेचारी का क्या कसूर है ? महावीर निरन्तर आत्ममार्ग पर चलते गये, चलते गये, राह बनती गयी अब यदि कोई उस डगर पर विवेकपूर्वक चल नही पाता है, तो इसमे उस महान् जीवन-शिल्पी या उसके शिल्प का दोष कहाँ है ? हम यदि अपना रास्ता छोडेंगे तो नि.सन्देह उजडेगे, इसमे कोई दो राय नही हो सकती। महावीर ने कहा-'तुम 'पर' का मार्ग छोडो, 'स्व' मार्ग अपनाओ' अर्थात् अपनी डगर पर चलो और 'स्व-पर-भेद' को जानो। इससे अप्रमत्त रहोगे और परस्पर कोई टकराव नही होगा। भगवान् महावीर ने तो राह प्रकट की है, वह है, रहती आई है, रहेगी। उसका कुछ होने-जाने वाला नही है; जो उसे विवेकपूर्वक जानेंगे और उस पर पूरे सम्यक्त्व में चलेगे, समृद्ध होगे, नही चलेगे, उजडेगे। (१९/ नवम्बर, '७२)

त्याग कर भोग

दुनिया के सारे व्रतो की पीठ पर एक बुद्धिमान प्रजातत्र मशाल जलाये चल रहा है, वह कह रहा है, हर जगह हम दूसरो के लिए हाशिया डाल कर चले। भारतीय सस्कृति का यह बोधवाक्य कि 'तेन त्यक्तेत भुजीथा' जिसे तूने देखा नही है, उसके लिए हाशिया छोड कर भोग, कोई कम महत्त्वपूर्ण प्रजातन्त्र है ? पर इस पर लोगो का कोई ध्यान नही है। जैनो का 'अनेकान्तवाद' हाथिया छोड कर जीने की निराली कला-दृष्टि है। (१९/ नवम्बर, '७२)

एक नयी अर्थ-व्यवस्था

अनर्थदण्ड-विरति का कथन है, प्रयोजन देखो और काम करो, वस्तु और परिस्थिति का मर्यादित उपयोग करो, उपयोग करो और आगे बढो, सचय मत करो। यह जीवन को सत्य, शिव और सुन्दर की ओर एक साथ ले जा सकता है। यह जीवन को एक नयी अर्थ-व्यवस्था देने मे समर्थ है। 'अनर्थदण्ड' का मूल प्रहार लालसा पर है, लालसा पर शासन यानी 'अनर्थदण्ड'। इसका जैनो को पूरी निष्ठापूर्वक पालन करना चाहिये और जैनो को ही क्यो संपूर्ण भारत को आज एक नयी अर्थ-व्यवस्था को अगीकार कर लेना चाहिये। (२०/दिसम्बर, '७२)

महावीर होने की आवश्यकता

जब आप 'भारत हमारा है' कहते है तो कई जिम्मेदारियो से अपना दामन बचा जाते है, किन्तु जैसे आप कहते है 'हम भारत के है', तो आपकी जिम्मेदारियाँ बढ जाती है। भारत का होने के लिए भारतीय सस्कारो मे जीना ज़रूरी होता है, यानी समग्र भारतीय होना। ठीक इसी तरह 'महावीर का' होने के लिए चरित्र मे बड़ा साहस चाहिये, गहरी निष्ठा चाहिये। महावीर वैसे भी हर किसी के हो नही सकते, जो उन जैसा होने के सकल्प मे तैर रहा है, उसके वे होंगे, या क्रमश उत्तरोत्तर उसके होते जायेंगे।

आज महावीर को अपना कहने वाली कौम को सच्चे अर्थ मे महावीर का होने की आवश्यकता है। महावीर को आप अपनाये, इसके साथ ही इस तथ्य को भी देखते जाएँ कि महावीर ने आपको कितना अपनाया है। (२१/जनवरी, '७३)

ठीक तक पहुँचना

जैनदर्शन सभावनाओ का विश्वासी दर्शन है। वह सभावनाओ की नित-नयी खोज़ की डगर पर पाँव डाले हुए है। जैनधर्म की सबमे बड़ी विशेषता ही यह है कि वह 'ठीक है' कभी कहता ही नही, वह कहता है 'सभव है ठीक तक पहुँच जाओ', 'और खोज़ो', 'और-और खोजो'। 'संभावना प्रतिपल जीवित है' यह कह कर वह भविष्य की शिल्प-रचना मे पूरे सम्यक्त्व के साथ उतर आता है।

हमे चाहिये कि न तो हम 'जी-हज़ूर' की मुद्रा मे जीये और न दूसरो को इस तरह जीने पर विवश करे। जब तक हम सही सदर्भ मे 'नही' कहने की हिम्मत नही जगायेंगे, हजार कोशिश और साधनो के बावजूद हम एक कदम भी आगे नही बढा पायेंगे। (२२/फरवरी, '७३)

सौन्दर्यशास्त्र और मोक्षशास्त्र का महामिलन

कला मुक्ति की समझ और तलाश का सबसे गहरा, सबसे पहला सार्थक आयाम है, ऐसा सशक्त विस्तार जो चित्त को समाधि प्रदान करता है। मोक्षशास्त्र का जैसा गहरा बोध देवगढ मे होता है, अन्यत्र असभव है। यहाँ कला स्वय निर्ग्रन्थ, तथापि सुन्दर और सपूर्ण उपस्थित हुई है। यह एक ऐसा विलक्षण स्थल है जहा आदमी जितना डूबता है, उतना पार होता जाता है, वैसे कला का संपूर्ण क्षेत्र ही ऐसा है कि आप डूबिये यानी तिरिये, और डूब से बचिये तो डूबिये और फिर देवगढ की हर प्रतिमा एक गहरा समुद्र है; यहां चेतना और चित्त की कोई नौका काम नही करती, अतल मे गोते लिये बिना रसास्वाद असभव है। अपूर्व है यहाँ सौन्दर्यशास्त्र और मोक्षशास्त्र का महामिलन। देवगढ वीतरागता का हृदय-कमल है, सौन्दर्य और साधना की मिलन-भूमि को कोटि-कोटि प्रणाम। (२३/मार्च, '७३)

महोत्सवों की अपेक्षा 'सहोत्सवों की आवश्यकता

'म' की जगह 'स' टकित हो गया था, यानी 'महोत्सव' के स्थान पर 'सहोत्सव' टाइप हो गया था। इस तरह एक अजानी भूल ने 'ढाई आखर' को एक अक्षर मे समेट लिया था। वाकई हम लोग बडे उत्सव मनाना चाहते हैं, किन्तु 'सब साथ-साथ' नही मनाना चाहते। आज 'महोत्सवो' की अपेक्षा 'सहोत्सवो' की आवश्यकता हे। 'सहोत्सव' का अर्थ ही है 'सारी गॉठे खोल कर' एक मंच पर आना और विश्व के सामने साम्य और समत्व का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करना। टाइप राइटर की यह सही गलती हमारे वर्तमान जीवन का एक बहुत सही सतुलित सदर्भ बन सकती है। (२४/मई, '७३)

समाजहिताय जीवन के लिए पुख्ता आधार

हम चाहते है कि चारो ओर छायी हुई सामाजिक और वैयक्तिक घुटन से आज के मनुज को मुक्त किया जाए और एक निर्मल-निश्छल समाजहिताय जीवन के लिए पुख्ता आधार तैयार किया जाए। कार्य असंभव नही है, दुष्कर है। (२५/जून, '७३)

समारोह की अपेक्षा संस्कार की ओर ध्यान

महावीर के इतने सारे अनुयायी है, यह तथ्य खुशी उत्पन्न करने वाला नही है वरन् इस तथ्य से अधिक गहरी खुशी होगी कि यह महावीर का अनुयायी है, इससे बेईमानी होगी ही नही, यह सेवा से चूक ही नही सकता। हमें विश्वास है जैन अपनी स्वस्थ इमेज

(छवि) बनाने की चिन्ता करेगा और समारोह की अपेक्षा सस्कार की ओर ध्यान देगा। (२६/जुलाई, '७३)

आत्मीयता और कौटुम्बिकता

आवश्यकता है कि धर्म, सस्कृति, कला, साहित्य और समाज के नये-पुराने संदर्भों के तालमेल से एक अनूठी आत्मीयता और कौटुम्बिकता को जन्म दिया जाए जो मानवीय सवन्धो मे सतुलन स्थापित करने वाली हो और भावी मानव-सतति को रचनात्मक सभावनाओ के आगन मे अवतरित करने मे समर्थ हो। (२७/अगस्त, '७३)

बीजप्रसू क्षमा

क्षमा का एक नाम बीजप्रसू है। यह पृथ्वी का नाम भी है। पृथ्वी केवल फल ही नही देती, फल की वारम्वारता को भी जन्म देती है। उसका व्यक्तित्व ही कुछ इतना औदारिक है कि वह एक माँगो अनेक देती है। धरती, या क्षमा-सा ओघडदानी भला कौन है ?इतना ही नहीं वह ऐसा देती है, जिससे आप जब चाहे तब उस-जैसा पाते रह सके। पृथ्वी की यही कल्पवृक्षता है। क्षमा मे भी यह उतनी ही है। वह न केवल स्वय महत्त्वपूर्ण है, किन्तु ऐसे गुणो की जन्मदात्री भी है जो आवर्तक है, बढ़ते है, इसीलिए बीज को पकडने की अपेक्षा बीजप्रसू को पकड़ना, उसकी शरण मे पहुँचना अधिक श्रेयस्कर है। क्षमा की शरणगति मे शेष नौ कल्पवृक्ष (मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, सयम, तप, त्याग, आकिंचन्य, ब्रह्मचर्य) स्वयं हाथ लग जाते है। इस तरह क्षमा जगज्जनी है, विश्वम्भरा है, सर्वसहा है। वह पृथ्वी की सर्वश्रेष्ठ सतति है, उसके सपूर्ण व्यक्तित्व को स्वय मे झेले हुए है। (२८/सितम्बर, '७३)

इस्तीफा, अहिंसा का

माना आज अहिसा निश्चेष्ट है, किन्तु ऐसा लगता है कि वह उसकी भावी तैयारी की एक आशापूर्ण मुद्रा है। स्पष्ट ही अहिसा अपना मोर्चा सँभाल रही है। वह किचित् पीछे हट कर यदि आगे आती है तो हम इस रचनात्मक व्यूह-रचना की श्रेष्ठता से इनकार नहीं कर सकते। यदि हम सारी दुनिया को ध्यान से देखे तो पायेगे कि आज कोई भी बडा मुल्क पूरी तरह हिसक होने मे भीतर के किसी दबाव से लाचार है। जो ताकते भीषण रक्तपात कर सकती है, करना चाहती है, वे भी हिसा की सीमा का अनुभव कर रही हैं। आगे आने वाला वक्त कुछ इस तरह का होगा कि तेज-तर्राट शस्त्र रखने वाला स्वयं ही उसका उपयोग नही कर पायेगा, नाखून होगे, दाढे होगी किन्तु उनसे नोंचा या चींथा नही जा सकेगा। इस संदर्भ मे अहिसा का यह स्तीफा मार्मिक है। (२९/अक्टूबर, '७३)

जैनधर्म आदमी को हर जगह एक रूप देखना चाहता है

सौदागर होना बुरी बात नही हे, बुरा हे व्यावसायिक जीवन-दृष्टि रखना, ऐसी जीवन-दृष्टि जो जीवन मे द्वैत उत्पन्न करती हो, यानी दुकान पर एक तरह का आदमी, घर पर दूसरी तरह का आदमी, कुल मिला कर आदमी एक किन्तु दो जगहो ओर दो समयो मे दो किसिम का। हमारी आपत्ति आदमी के इस तरह खण्डित होने मे है। जैनधर्म आदमी को हर जगह एक रूप देखना चाहता हे, चाहे वह दुकान हो, चाहे घर। आज जो गडबड है वह यह कि पूरी कौम दो चेहरो मे चल रही है और उसने अपने इस दुर्व्यवहार के लिए शास्त्र के प्रमाण ढूँढ लिये है। यह आरभी हिसा है, इसे गृहस्थ कर सकता है। हमारे विचार मे अहिसा एक ही किस्म की हो सकती हे, न्यूनाधिक होने से उसकी गुणवत्ता मे कोई फर्क नही पडता, परिणाम ज्यादा-कम हो सकता है। (३०/नवम्बर, '७३)

क्रान्ति का चक्र ढोता है अंतिम आदमी

वस्तुत. क्रान्ति का चक्र ढोता है 'अंतिम आदमी' और उसके इस पुरुपार्थ पर पर्दा डालता है विशिष्ट , किन्तु विशिष्ट की यह कोशिश अपनी आँख रोशनी की तलाश के लिए है, उसे समझने, समेटने और बॉटने के लिए है, उसे दुवकाने के लिए वह हुई नही। इसलिए चाहे जो हो, अब हमे 'ढाई आखर' वोने होगे समर्पण की जमीन पर और समाज की बागडोर सौंपना होगी इस अतिम आदमी को, फिर यह नेतृत्व किसी मुल्क हो, समाज का हो, धर्म का हो। हमारा निष्कर्ष है कि यदि यह अंतिम आदमी वेचारा, असहाय, उपेक्षित और तिरस्कृत रहा तो उसके 'ढाई आखर' जल्दी ही शक्ति-सचय करेगे और हमारे औपचारिक कागजी नेतृत्व को ढहा देगे। (३१/दिसम्बर, '७३)

जरूरत है एक निष्कलंक और सशक्त राष्ट्रीय चरित्र की

'जियो और जीने दो', 'सहअस्तित्व', 'पचशील' जैसे नारे चरित्र की अनुपस्थिति मे सामान्य आदमी के शोषण के अलावा और कुछ नही हैं। मजा यह है कि नारा लगाने वाला आदमी स्वय जगा हुआ नही है, उसकी आवाज ऊँची है, चरित्र बिलकुल घटिया। इसलिए आज जिस बात की जरूरत है वह एक निष्कलक और सशक्त राष्ट्रीय चरित्र। हम इस मर्म को समझे कि प्रशंसा, अभिनन्दन, स्वागत, नारेबाजी, आन्दोलन, सभा, बैठकें, चर्चाएँ, जश्न-जुलूस सीमित शक्तियॉ और चरित्र असीमित ; इसलिए हम तुरन्त बाज आये तकरीरो से, बातो से और कोशिश करे एक प्राण हो कर एक निष्कलुष, स्वस्थ, सृजनशील, रचनात्मक राष्ट्रीय चरित्र के लिए। (३२/जनवरी, '७४)

दीपधार और वातावरण को जोत से भरने वाले चिराग को ज्योतित करे

हम अपने जीवन-मूल्यो को भी लगभग तोड चुके है, जो अब तक हमारे लोक जीवन का मार्गदर्शन कर रहे थे। अहिसा आज हमारे लिए कथन और प्रदर्शन-मात्र है अन्यथा हमारे लिए कोई विशेष अर्थ नहीं रह गया है। अपरिग्रह, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य-मात्र उल्लेख है। इनका एक ही जवाब है कि चिराग-तले अधेरा घुप्प है। हम चिराग बदले और ऐसे चिराग ज्योतित करे जो दीपाधार को तो आलोकित करे ही, वातावरण को भी नयी जोत से भर दे। इस सबके लिए हमे प्रतीक्षा करनी होगी, एक सक्रिय साझीदार बनना होगा। (३३/फरवरी, '७४)

चारित्रिक क्रान्ति के लिए व्यक्ति की परिशुद्धि आवश्यक

'हिसाब अपना, किताब अपनी' वाली स्थिति जब तक देश और समाज मे उत्पन्न नही होती हम किसी चारित्रिक क्रान्ति की आशा नही कर सकते। चारित्रिक क्रान्ति के लिए व्यक्ति की परिशुद्धि आवश्यक है। (३४/मार्च, '७४)

दिगम्बरत्व की विशेषता

दिगम्बरत्त्व की विशेषता है कि वह एकान्त मे भी अनेकान्त की आराधना कर सकता है और अनेकान्त मे भी एकान्त का अनुभव कर सकता है। (३५/अप्रैल, '७४)

धर्म की सृजनपरकता की नूतन भूमिका

जब हिसा इतनी भयानक शक्ल मे/यानी शोषण-दमन की शक्ल मे, सामने है तो इसके मुकाबले का उपाय क्या है ? ऐसा लगता है कि धर्म को इस क्षेत्र मे पहल करनी चाहिये और सप्रदाय के घोघे से निकल कर सृजनपरकता की नूतन भूमिका मे सक्रिय हो जाना चाहिये। उसे वर्तमान सदर्भों मे पूरी स्फूर्ति के साथ प्रवेश कर मनुष्य को नवमानवता से अभिषिक्त करना चाहिये। यह धर्म ही कर सकता है, विज्ञान के पाँव थक चुके है। (३६/मई, '७४)

व्रत-विस्फोट जीवन-दृष्टि को बदलते है

व्रत-विस्फोट आदमी की नीयत, यानी जीवन-दृष्टि को बदलते हैं, किन्तु नियम यानी कानून मात्र रास्ता बदलता है। वह लक्ष्य बदल ही नही सकता। जब हमारे देश मे दृष्टि और सृजनपरक कानून बनेगे तब नवसामाजिकता जनमेगी, नव क्रान्ति का न्यूक्लीय (नाभिकीय) आधार तैयार होगा। (३७/जून, '७४)

महावीर का पुनर्जन्म

हो सकता है कि लोग इस पर ही आपत्ति करें कि महावीर के साथ 'पुनर्जन्म' शब्द का

व्यवहार क्यो ? जो चला गया उसका प्रत्यावर्त्तन कैसा ? यदि गोर मे हम देखे तो पायेंगे कि महावीर जाने की अपेक्षा ओर अधिक गहरे गये मनुष्य की सवेदना मे। उनका सशरीर जन्म भले ही सभव न हो, अशरीरी जन्म-जन्मान्तर तो होगे ही, क्योकि अव वे दर्शन है, एक विचार हे और चिन्तन का लोपागम एक स्वाभाविक प्रक्रिया हे। पुनर्जन्म का स्पष्ट मतलव हुआ जैनधर्म की इमेज का पुन· सघटन। सिद्धान्त ज्यों-का-त्यों, जहॉं-का-तहॉं, किन्तु सडक नयी, किनारे अधिक हरे-भरे। (३८/जुलाई, '७४)

सामाजिक व्याकरण

जो लोग यह मानते हे कि व्याकरण एक वन कर फिर नही वनता और भापा निरन्तर विकास करती है, तो यह उनकी भूल हे। वदलती हर चीज का अपना वदलना विन्यास होता है। व्याकरण भापा के वाद की चीज है, इसलिए वह वरावर जाता रहेगा। जेनरेटिव्ह समाज का व्याकरण जेनरेटिव्ह होगा। जो समाज विकासोन्मुख हे, अ-मृत, उसका व्याकण भी विकासोन्मुख यानी अ-मृत होगा। ऐसी स्थिति मे हमे सामाजिक 'विल्ट-अप' (निर्मिति) की सगति मे ही सामाजिक व्याकरण की योजना करनी होगी। अव वे क्षण हमारे द्वार दस्तक दे रहे है जब हमे समग्र सामाजिक ढॉंचे को नये सदर्भो की नजर से शुरू करना चाहिये और उसकी रचना मे निजी मामलो से वच कर सहयोग देना चाहिये। (३९/अगस्त, '७४)

तीसरा संदर्भ : ज्ञेय ज्ञान नहीं है, ज्ञायक ज्ञान है

तप यानी जीव-अजीव को उनकी स्वाधीन सत्ताओ मे जान लेने के वाद उन्हे अलगाने का विज्ञानधर्मी प्रयत्न, संक्षेप मे तप यानी जानना कि जानने वाली सत्ता कौन-सी है ? इस सदर्भ मे 'समयसार' के अन्त मे कुन्दकुन्दार्चा ने वडी गहरी और रहस्य-पारदर्शी छलांग ली है। उनका कहना है शास्त्र, शब्द, रूप, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, धर्म, अधर्म, काल, आकाश और अध्यवसान ज्ञान नही है, क्योकि इनमे-से कोई जानता नही है, किन्तु चूँकि जीव अनवरत जानता है, युगपत् जान सकता है, इसलिए ज्ञान है, ज्ञायक है। ज्ञेय ज्ञान नही है, ज्ञायक ज्ञान है। यह भेदविज्ञान है और यही परम तप है। (४०/सितम्बर, '७४)

धर्मचक्रों की अपेक्षा व्यक्ति-शुद्धि का उपाय अनौपचारिक

धर्मचक्रो की अपेक्षा व्यक्ति को विशुद्ध करने का यदि कोई उपाय हम करते है और दिये-तले बैठे अन्धकार से जूझना शुरू करते है तो हमारा परिनिर्वाण-समारोह महत्त्व का माना जाएगा। वरना हम उसी कतार मे खडे होंगे जिसमे वे लोग खडे है जो अपनी निपट औपचारिकता के कारण ही परास्त हुए है। (४१/अक्टूबर, '७४)

उजले पुरखे

ऋषभ, पार्श्व, महावीर, गौतम, गाधी, रामकृष्ण, ईसा, मुहम्मद सब उजले पुरखे हे हमारे, किसने क्या कहा, कौन क्या था, कौन कितना प्रासगिक था, अप्रासगिक आज है, कौन नही है, कौन कब फिर सार्थक होगा, इस सबकी जाँच-परख ओर स्वीकृति-अस्वीकृति ही हमे उजले-मैले होने की दिशा मे ले जाती है। (४२/नवम्बर, '७४)

'जियो/जीने दो' : परस्पर पूरक सूत्र

'जियो' और 'जीने दो' परस्पर पूरक है और एक-दूसरे मे पूरी सजगता के साथ समाये हुए है। 'जियो', 'जीने दो' मूलत सहअस्तित्व का सिद्धान्त ही है। अस्तित्व-हरण या हनन के इस युग मे भगवान् महावीर का उक्त सूत्र पुराना भले ही लगे, किन्तु उसकी उपयोगिता मे हम मुँह नही मोड सकते। (४३/दिसम्बर, '७४)

एक जुड़ा हुआ आदमी हमारे युग की सर्वोपरि अपेक्षा

एक जुडा हुआ आदमी (जोडा हुआ नही), हमारे युग की सर्वोपरि अपेक्षा है। और जब यह आदमी प्राची से ऊगेगा तो समाज भीतर से जुड जाएगा और पथो के, जातियो के, उपजातियो के, वर्गों, उपवर्गों के, मन्दिरो के, मूर्तियो के, दहेज के, और-और किस्म के सारे झगड़े स्वत समाप्त हो जाएँगे। इन क्षणो मे हमे जो सब से बडी बात कहना है वह है अपनी समकालीन तरुण और किशोर पीढ़ी पर पूरा-पूरा विश्वास। (४४/जनवरी, '७५)

उपादान को माँजते जाना ही 'कलाओ की कला'/'विज्ञानों का विज्ञान'

असली कलाकार व्यक्ति है, उसे साधन मिलते है, तो उसकी साधना सम्प्रेषित होती है। रसास्वादन की पहली अजस्र धार व्यक्ति की प्रज्ञा ही झेलती आयी है, बाहर जो प्रकट है वह उच्छिष्ट मात्र है। वह आकार जो व्यक्ति के भीतर सध जाता है, पाषाण पर, काष्ठ पर, धातु पर, वाद्य पर, जिह्वा पर घटित होता है। असल मे यह भीतर की रसधार है जो शरीर के माध्यम से बाहर आती है। यह उपादान है, बाकी माध्यम है। तीर्थंकर का लक्ष्य इस उपादान को माँजते जाने का और उसे उसकी समस्त संभावनाओ मे अनावृत करने का होता है, जो आवरण मे इतनी सुषमा सिरजता है, वह मूल मे क्या है ? इसे ढूँढना 'कलाओ की कला' और 'विज्ञानो का विज्ञान' है। (४५/फरवरी, '७५)

क्रोध की दिशा और केन्द्र बुराइयाँ और अनैतिकताएँ हों

क्रोध हम अक्सर खुद पर करते है जबकि उसकी दिशा और केन्द्र वे सब बुराइयाँ और अनैतिकताएँ होनी चाहिये जो समाज को चीथ रही है, उसकी भव्य काया को

चिथडा किये जा रही है। जनसाधारण की कुढन ओर कोप को सही दिशा मे जोतने पर हम एक ऐसी अप्रत्याशित क्रान्ति कर सकने हे जिसकी इतिहास मे कोई सानी नही होगी। (४६/मार्च, '७५)

वर्द्धमान का बीजमन्त्र

वर्द्धमान ने अपने युग के सकटग्रस्त मनुज को एक बीजमन्त्र दिया था 'तुम स्वय अपने भाग्य के विधाता हो, कोई बाहरी सत्ता तुम्हारी शक्तियो की नियामक नहीं है'। इससे आदमी को अपना भान हुआ, उसकी मूर्च्छा टूटी ओर वह विकास की ओर कदम उठाने लगा। उसे वर्द्धमान के उद्घोष मे एक उज्ज्वल और स्वस्थ भविष्य दिखायी दिया। (४७/अप्रेल, '७५)

'तीर्थंकर' : कल : आज : कल

'तीर्थंकर' की भूमिका पूरी तरह संप्रदायातीत रही और उसने जैन मात्र ही नही वरन् मानव-मात्र को अँधेरो से बाहर खींचने का विनम्र प्रयास किया। हम जानते है, यह एक दुष्कर कार्य था, किन्तु हमारा सकल्प था, जो आने वाले कल के लिए भी उतना ही मजबूत है, जितना गुजरे हुए कल के लिए था कि हम संप्रदायो की पहुँच-परिधि से परे रचनात्मक और मानव-मगल की डगर पर चलते रहेगे। (४७/अप्रैल, '७५)

भाग्यशाली मोक्ष-क्षण

क्या बदली हुई परिस्थितियो मे हम जैनधर्म को सामायिक बनाने तथा उसके सिद्धान्तो की छवि को सन्तुलित पर्याय देने की पहल नही कर सकते ? यह भगवान् महावीर के पच्चीस सौ वे मोक्ष-वर्ष मे आम आदमी के विवेक का परम भाग्यशाली मोक्ष-क्षण होगा। (४८/मई, '७५)

साधन-साध्य-शुद्धि का प्रयोग

साधन-साध्य-शुद्धि का प्रयोग गांधीजी के रूप में अधिक विकसित हुआ और हमारे स्वाधीनता-सग्राम का प्रमुख आधार बना। (४९/जून-जुलाई, '७५)

'तीर्थंकर' द्वारा परस्पर जोड़ने की पहल

'तीर्थंकर' की रीति-नीति के अनुरूप आत्म-निरीक्षण करते हुए हम जैनो के विभिन्न वर्ग-उपवर्गों, संप्रदाय-उपसप्रदायो, भेदोपभेदो को परस्पर जोडना चाहते है ताकि वर्तमान हालात का साफ-साफ जायजा लिया जा सके और उन उपायो पर निष्पक्ष विचार हो सके, जो हमे मैत्री की दिशा मे ले जाने की पहल करते है। (५०/जून-जुलाई, '७५)

शब्दों का सम्यक् प्रयोग

शब्दो का सम्यक् प्रयोग सबके बलबूते की बात नहीं है। एक सही सदर्भ मे सही शब्द का प्रयोग बडी कठोर साधना है। कोई आचार्य कुन्दकुन्द या उमास्वाति, जिनसेन या कालिदास, कबीर या तुलसी ही इस भेद को ठीक से जान पाता है, क्योकि बहुधा हम जिन शब्दो को बडा सामान्य मान कर जेब मे डाल लेते है, वे आगपेटी साबित होते है। एक शब्द आदमी को बीमार या स्वस्थ, पागल या प्रबुद्ध कुछ भी कर सकता है, हमारे ख्याल से जो शब्दो को कब्जे मे ले पाते है, वे ही जीवनमे अधिक कामयाब होते है। (५१/अगस्त, '७५)

भीतर की ओर हमारी यात्राएँ बहुधा नही होतीं

दुर्भाग्य से हम बाहर की यात्राएँ ही अधिक करते हैं, भीतर की ओर हमारी यात्राएँ कम ही होती है। कई बार हमे लगता है कि हम क्षमा मे, निर्बैर मे, अपरिग्रह में, सरलता मे, समत्व मे लौट आये है, किन्तु यह आभास-मात्र होता है, असलियत कुछ और ही होती है, क्योकि हम मौका मिलते ही फिर क्रोध, क्रूरता, कपट, काले कार्य की यात्रा पर निकल पडते है। प्राय हमारी वापसी नकली या भ्रमपूर्ण होती है। हम सोचते है लौटे है, किन्तु एक शहद-जैसी मीठी गलतफहमी के अलावा वहाँ कुछ होता ही नही है, और इस तरह हमारा स्वभाव हाथ से बार-बार खिसक जाता है। (५२/सितम्बर, '७५)

लोकजीवन से सम्बद्ध कामों की कसौटी

बहुधा हम लोकजीवन से सम्बद्ध कामो की एक ही कसौटी मानते आये है-लोकप्रियता और वाहवाही। कई बार तो लोग वर्तमान मे किसी बात को समझ ही नही पाते, वर्षों बाद उसकी महत्ता प्रकट होती है और फिर उसमे से ठोस मिशन अवतरित होता है। (५३/अक्टूबर-नवम्बर, '७५)

निष्काम चित्त और चेतना की निर्मल विरासत

वस्तुत सेवा के विनिमय मे कोई सच्चा समाजसेवी कभी कुछ प्राप्त करने की बात सोच ही नही सकता। यह एक ऐसी शूद्रता है जो कभी भारतीय चरित्र का अश नही बन पायी, आज है, पता नहीं क्यो ? हमे व्यापक जाँच करनी चाहिये और प्रशस्तियो, प्रमाणपत्रो और अभिनन्दनो के स्थान पर हमे आगामी कल को निष्काम चित्त और चेतना की निर्मल विरासत देनी चाहिये। (५४/दिसम्बर, '७५)

समझ को अधिक व्यापक, तर्कसंगत और रचनात्मक बनायें

इस देश मे आचरण ही सबमे बडा जलसा था, किन्तु इधर के कुछ वर्षों मे हुआ यह है कि हम अपनी समझ को रचना और विवेक का जो क्षितिज देना था नही दे पाये। जो भी

उत्सव आया, उसने हमारी समझ को विवेक की कोई जमीन देने के वजाय उसके नीचे से मौजूद जमीन को ही अधिक खोखला किया। समझ के विकास की समस्या वरावर वनी रही, समझ पर लगातार वज्रपात हुए. हर वार हमने उसके किसी-न-किसी अश को खोया है। कम-से-कम स्वतन्त्र होने के वाद हमने जितने जलसे मनाये उनके द्वारा हम अपनी सांस्कृतिक समझ को समृद्ध नही कर सके है, फिर चाहे गाधी की जन्मशती हो या महावीर की निर्वाण-शती (पच्चीस सौ वॉ निर्वाणोत्सव) हमारी समझ लगातार कुण्ठित हुई है, और हम जिस जगह कल थे, दूसरे दिन उससे कही अधिक वुरी और अरक्षित जगह पर दिखायी दिये हैं। इसलिए अभी भी अवसर है कि हम इस प्रश्न को पुन उठायें और विवेक के माध्यम से भारतीय समझ को अधिक व्यापक, तर्कसंगत और रचनात्मक वनाने का यत्न करे। (५५/जनवरी, '७६)

जैन युवा को धर्मयुद्ध छेड़ना चाहिये

जैन समाज को जिस समाजशास्त्र यानी समयसार की जरूरत थी उसे न तो पण्डित-वर्ग तैयार कर सका और न ही वे लोग तैयार कर सके जो स्वयं को समाज का कर्णधार मानते है, धन के कारण या अपने कार्यों के कारण। 'समणसुत्त' प्रकाश मे आया, किन्तु उसने सामाजिक दिशा मे कोई काम किया हो ऐसा नही लगता। सामाजिक आजादी का जो सघर्ष आज सारा देश जी रहा है, वैसा ही एक धर्मयुद्ध छेडना चाहिये जैन युवा को और जैन मात्र की चेतना को मध्ययुग की गिरवी से मुक्त करा लेना चाहिये। ऐसा करने मे चाहे जो कीमत उसे अदा करनी पड जाए, तैयार रहना चाहिये। (५६/फरवरी, '७६)

स्वतन्त्रता की रक्षा अनुशासन और कठोर श्रम से ही संभव

मूल प्रश्न एटीट्यूड यानी दृष्टि बदलने का है। यदि हम कोई काम कर रहे है और हमारी दृष्टि मे कहीं कोई फर्क नही हुआ तो मान कर चलिये कि सब निष्फल और निरर्थक ही रहा है, इसलिए जरूरी है कि आज जो हुआ है उसे अभय के साथ जोड कर चरित्र का अभिन्न भाग बनाया जाए, उसमे एक स्थायित्व लाया जाए। प्रदर्शन या दिखावे के स्थान पर यदि वाकई हम अखण्ड राष्ट्रभक्ति के साथ आत्मानुशासन को अपनाते और उसके साथ जीते हैं तो यह एक उल्लेख्य उपलब्धि है अन्यथा हम बारूद के एक ऐसे अविश्वसनीय ढेर पर खडे होगे, जहाँ विनाश के अलावा कोई विकल्प नही है। स्वतत्रता की रक्षा अनुशासन और कठोर श्रम से ही सभव है। चौकन्ना रह कर और चौकन्ना रख कर ही हम उपलब्ध कर सकते है, अन्यथा खतरो के अतिरिक्त सामने और क्या हो सकता है ? (५७/मार्च, '७६)

बहिर्मुख लड़ाई के अन्तर्मुख रहने की आवश्यकता

यदि हम लडना ही चाहते है तो लडने के लिए काफी बड़ा रण-क्षेत्र हमारे अपने भीतर मौजूद है। हमे अपने सारे शौर्य को भीतर की ओर मोड लेना चाहिये। तब जैनदर्शन भी इस

युद्ध पर हस्ताक्षर कर सकेगा। वाकई भीतर लडने को वहुत है। क्रोध से आप जूझे, मान, माया, लोभ से आप लडे और अपने चरित्र की एक नैतिक अस्मिता बनाये, तथा इस तरह प्राप्त शक्ति का रचनात्मक उपयोग करे। सच पूछा जाए तो मन्दिर माध्यम है इस सासारिक लडाई को एक जीवन्त आध्यात्मिक सघर्ष मे परिवर्तित करने के; इसलिए जो ताक़त और पुरुषार्थ हम इधर-उधर व्यर्थ ही लगाते हे, उसे हम एक सृजनमूलक स्थिति मे आत्मोन्नयन के क्षेत्र मे खर्च कर सकते है। क्रोध तथा अन्य कषायो पर काबू हम पाते है तो इससे वडी पूजा सभवत कोई हो नही सकती। मान पर यदि अकुश हमे मिल जाता है, और हम उसे अपना चाकर बना पाते है, तो जैन साधना का एक परमोज्ज्वल पृष्ठ उघड कर सामने आ जाता है, 'माया बहु ठगिनी हम जानी' सतो की इस उपलब्धि पर यदि हमारा ध्यान जाता है, और हम मन्दिरो को उससे मुक्त करते है तो हम अपनी साधनाभूमियो को तो तपोवन बनाते ही हैं, स्वय को भी एक तपस्थली मे बदलते है, इसी तरह निर्लोभ का अविरत विकास और तृष्णा की क्रमश अनुपस्थिति भी इसी तरह की आत्मजयता है, जो वाहरी लडाइयो को अन्तर्मुख कर देने से संभव है। इस तरह हम जो भी शक्ति अपने बहिर्मुख जीवन के सघर्षों मे विनियुक्त करते है यदि उसका एक छोटा-सा प्रतिशत भी हम अपने भीतर की ओर मोड ले तो हमारी कई प्रमुख समस्याओ का समाधान संभव हो सकता है। हमारे इस आवाहन (आओ लडें) की मूल भावना यही है। (५८/अप्रैल, '७६)

नवसामाजिक क्रान्ति के लिए जैन पत्रकारों को आवाहन

अगला क़दम श्रावको या साधु-साध्वियो को नही वरन् जैन पत्र-पत्रिकाओ के सपादको /पत्रकारो को उठाना है और नवसामाजिक क्रान्ति के लिए अपने लेखन-कर्म को पूरी निष्ठा, निष्कामता और निष्पक्षता के भाव से अर्पित करना है, बिना यह चिन्ता किये कि उनकी आर्थिक हालत का क्या होगा, उन्हे इस क्रान्ति-यज्ञ के लिए तैयार होना है, अपनी कमर कस लेना है। पृष्ठो की सख्या आर्थिक तंगी के कारण भले ही एक बार कम करनी पडे, किन्तु अपनी कलम की नोक से समाज को नयी करवट लेने के लिए विवश करने के दायित्व को उन्हे अवश्य निबाहना है। (५९/मई, '७६)

समाज-सेवा का कोई मुआवजा नहीं

जब भी कोई परिवर्तन मेहमान होगा, उससे पूर्व समकालीन पीढी को एक स्वस्थ और रचनात्मक धक्के की जरूरत लगेगी। वे लोग जो मनमानी करते हुए स्वय को अन्तिम मानते आये है, उन्हे टोका जाएगा और एक नये प्रभात की अगवानी के लिए लाचार किया जाएगा। कर्म और श्रम का सत्कार होगा, अकर्म को दुत्कारा जाएगा। आत्मशंसा और परस्पर-प्रशंसा की घातक स्थिति पर अकुश लगाया जाएगा और ऐसे रचनात्मक तत्त्वो की जो पूरी निष्ठा और निष्काम भाव से समाज-सेवा के लिए आगे आ रहे है, अगवानी की

जाएगी, असली अभिनन्दन उन्ही का होगा। यह हो ही नही सकता कि उस देश के लोगो की जिन्होंने त्याग और तपस्या के आदर्श स्थापित किये है, किसी ऐसी अन्धी और दूपित परम्परा मे तडपते छोडा जाए जो 'अहो रूपं, अहो ध्वनि' की हो। क्या हम पुरस्कारो, प्रशस्तियो और पदको की वंदर-वॉट से ऊपर उठ कर भगवान् महावीर के पदचिह्नो पर नही चल सकते, उस महावीर के चरण-सकेतो पर जो क्षण-भर मे जागतिक ऐश्वर्यो से वाहर आ गया, और जिसने सर्वभूतहिताय अपना रोआँ-रोआँ होम दिया ? निश्चय ही भगवान् महावीर की आरती प्रशस्तियों की आरती नही हो सकती, जव भी वह होगी त्याग, तपस्या और साधना की ही होगी। पारितोषिक-समारोहो के आयोजनो से ऐसा लगता है जैसे हम समाज-सेवाओ का कोई मुआवजा चुका रहे हो, नि:संदेह सेवा के क्षेत्र मे चुकारो की जिन्दगी जीना जानवरो की जिन्दगी से वदतर है।

कीर्ति एक क़िस्म का वेतन

महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कभी कहा था कि कीर्ति एक किस्म का वेतन है, जिसे कोई समाज-सेवी स्वीकार नही करता, किन्तु आचरण की जिस जहरीली सभ्यता मे हम जी रहे है वह अपावन है। जब कोई समाज-सेवी कोई पुरस्कार, पदक या प्रशस्ति स्वीकार करता है तब यह एक प्रकार का वेतन ही होता है जो उसे उसकी सेवाओ के विनिमय मे मिल जाता है। ऐसे मे सेवा व्यापार बन जाती है, और उसकी एक निकृष्ट छवि उभर कर सामने आने लगती है।

समीक्षा के क्षण

समीक्षा के क्षण कठिन और दुस्सह अवश्य हो सकते हैं, किन्तु प्रगति की दिशा मे उठे हुए कदमो के लिए ऐसी प्रखर समीक्षाओ मे-से रोशनी मिलती है। वे लोग जो रचनात्मक और स्वस्थ समीक्षाओ को भी नापसन्द करते है, घातक होते है और प्रगति के द्वार पर पडी जड अर्गला की भाँति अवरोधक होते है। (६०/जून, '७६)

बोधकथा का लक्ष्य : हिये की आँख खोलना

जिस तरह कोई उदाहरण, रूपक या उपमा सत्य को सहज ग्राह्य बना देता है, बोधकथाएँ भी उसी डगर चल कर बडे-से-बड़े और पेचीदा सत्य को आसान बना देती है। इन कथाओ के कई विषय हो सकते है, किन्तु लक्ष्य एक ही होता है- हिये की आँखे खोलना। ऐसा प्रकाश-स्तम्भ बनाती है जो किसी तूफान से हमारी रक्षा कर सके।

एक उद्धरण एक ग्रन्थ से वजन में कम नहीं

एक उद्धरण एक ग्रन्थ से वजन मे कम नही होता, शब्द की चोट पडती है तो मन के कपाट आसानी से खुल जाते है, फिर चाहे कितना ही जकडे हुए हो। (६१/जुलाई, '७६)

अनेकान्त-चिन्तन हमें लौटा सकता है

आज भाषण, वक्तव्य और उपदेश हमे चारोओर से घेरे हुए है। ये घेरे मजबूत है और पाखण्ड से भरे हुए है , क्या हम मुलम्मो की जिन्दगी से हटकर किसी असली जिन्दगी मे नही लौट सकते ? एक ऐसी स्वाभाविक जिन्दगी मे जहाँ 'कबूतर की गुटरगूँ' है और 'बाँसुरियो की गूँज' है ? 'अनेकान्त-चिन्तन' हमे इस ओर लौटा सकता है, किन्तु बदकिस्मती यह है कि हम 'पानी बिच मीन पियासी' की स्थिति मे जी रहे है, जानते ही नही कि हम क्या है, हमारे पास क्या है और हम क्या कर सकते है ? (६२/अगस्त, '७६)

आत्मनिर्भर किन्तु विनिमय में गुलाम

आत्मनिर्भरता का जो सुख था, वह क्रमश टूट गया है। अब आत्मनिर्भरता केवल शब्द है, वैसी कोई अर्थवत्ता उसमे अब नही है। सभव है आप पैसो मे आत्मनिभर हो किन्तु विनिमय मे गुलाम है। स्वाधीनता पर हुए इस सामाजिक आक्रमण ने धर्म और नीति को भी प्रभावित किया है।

मृत्यु धर्म के लिए नवजीवन

धर्म के आचार मे काफी शिथिलताएँ आयी है और हमने कई परिवर्तन अब इसलिए कर लिये है कि हमे अब समय के साथ बदल जाना चाहिये। हमे धर्म को नये सन्दर्भों के साथ अनुकूलित कर लेना चाहिये, यह नही कि हमे धर्म के अनुरूप होना चाहिये। असदिग्ध है कि भारत के यन्त्रो की विकास-पराकाष्ठा तक पहुँचते-पहुँचते हम एक ऐसी खतरनाक सन्धिरेखा पर उपस्थित होगे जहाँ आ कर हम यन्त्राधीन मुल्को और समाजों की तरह अपनी भीतरी कमियो को महसूस करने लगेंगे, क्योकि सिर्फ खाना और मौज करना ही जीवन नहीं है, जीवन इसके पार भी है। धर्म की सबसे बडी विजय यह है कि उसने मौत को कभी माना ही नही है। मृत्यु धर्म के लिए नवजीवन है, वह जीवन का अन्त नही है। भारत मे मृत्यु नामक कोई चीज है ही नहीं। मृत्यु यानी नया जन्म। सन्दर्भ मे हम मृत्यु से कभी भयभीत नही हुए है, मुख्य यह है कि मृत्यु हम से भयभीत हुई है। विज्ञान की कमतर उपलब्धियो के बीच भी हम मृत्यु को रोकने पर विवश किये हुए है। यह सब अजूबा नहीं है, सहज-स्वाभाविक है।

विकास का न्यूनतम कार्यक्रम

इन सारे सन्दर्भों मे जबकि हम जानते है कि व्यक्ति के चारो ओर दुर्घटनाओ और आकस्मिताओ की एक जटिल श्रृखला जमी हुई है, क्या एक जरूरी नही है कि हम उसके विकास का एक न्यूनतम कार्यक्रम बनाये ?

अधिकतम नहीं न्यूनतम

आज शायद अधिकतम का प्रश्न नही है, न्यूनतम की ओर भी ऐसे मे यदि हमारा ध्यान जाता है तो मानना चाहिये कि यह हमारी बहुत बडी कामयाबी है।

यह हम सोचे कि हम कम-से-कम हिसक या अधिक-से-अधिक अहिसक कैसे बन सकते है।

हम यह तय करें कि हम असत्य को कम-से-कम कैसे स्वीकार करे या अधिक-से-अधिक सत्य को कैसे अपने जीवन मे दाखिल करे।

हम सोचे कि कम-से-कम तस्करी हम किन-किन उपायो से कर सकते है, या दूसरी ओर हम यह प्रयत्न करे कि हम अधिकतम शोषण-विहीन कैसे हो सकते है।

हम यत्न करे कि हमारे जीवन मे कम-से-कम असयम कैसे हो, या प्रयास करे कि अधिक-से-अधिक सयमी कैसे बने।

जैसा भी हमे प्रिय हो हम करे किन्तु इन 'कम-से-कम' और 'अधिक-से-अधिक' मे से किसी एक को अवश्य चुन ले।

प्रश्न उठ सकता है कि यह हो कैसे ?

साफ है, यह सब आत्म-निरीक्षण और तदनन्तर अविचल संकल्प से ही सम्भव है। इरादे की कचाई का कोई भी क्षण धोखा दे सकता है। (६३/सितम्बर, '७६)

जैनत्व का आधार

जैन होने की पहली शर्त है मनुष्य होना, मनुष्यत्व का आसन होना। माना यह कठिन है, किन्तु किसी शर्त के कठिन होने मे उसका टूटना सन्निहित नहीं है। इसीलिए नामधारी जैन होने की अपेक्षा जैनत्व का आधार होना जरूरी है। आप दान-पूजा, ध्यान-स्वाध्याय हजार करते हो किन्तु सहिष्णु नही है और अपने विरोधियो के प्रति सम्मान और मैत्री नही रखते है, तो और कुछ भले ही हो जैन नही ही है। असली जैन विरोधी के प्रति, निन्दक के प्रति गहरा और निर्मल आदरभाव रखता है, यही उसकी मूल कसौटी भी है। कमठ के प्रति पार्श्वनाथ की वर्तनी क्या कोई छोटा ऐतिहासिक प्रमाण है, वह तो जन्म-जन्मान्तरो के उल्लेखो से पुष्ट सबूत है, इसलिए निन्दक को जो नजदीक नही रख पाता उसे जैन कहना कठिन ही है। (६४/अक्टूबर, '७६)

जीवन्त/प्रेरक बनाये रखने के लिए

विकास के सिद्धान्त को मान कर ही कोई धर्म या सस्कृति स्वय को जीवन्त और प्रेरक बनाये रख सकती है। (६५/दिसम्बर, '७६)

नयी आचार-सहिता

तर्कसगत यही है कि श्रावक बैठे और विचार करे, मुनिजन बैठे और विचार करे तथा नयी आचार-संहिता की रचना का मार्ग खोले। यह बिलकुल माना जाना चाहिये कि यदि हमने अपने द्वार उपस्थित परिवर्तनो को समायोजित नही किया तो ये परिवर्तन अपने ढग से समायोजित हो जाएँगे, जैसा कि प्रकृति मे होता आया है, किन्तु अभी एक सुनहला मौका हमारे सामने हैं कि हम इस बदलाव पर विचार करे और जैनधर्म की चली आती परम्पराओ के अनुरूप इन्हे समायोजित करे अन्यथा कुछ समय बाद लगाम हमारे हाथ से छूट जाएगी और समय का अश्व सरपट आगे निकल जाएगा। यह आवश्यक है कि हम घोघे से बाहर आयें और देखे कि इस घेरे से बाहर, जो नितान्त व्यक्तिगत है, भी एक और ज़िन्दगी है, जिसे हमे प्रतिपल जानते जाना चाहिये था, किन्तु दुर्भाग्य से हम जिसे बिलकुल नही जान पाये है। (६६/जनवरी-फरवरी '७७)

सही अर्थ मे श्रावक

जो पहला नियंत्रण श्रावक पर आयेगा वह उसके संबोधन मे ही प्रस्तावित है। उसे सही अर्थ मे श्रावक बनना चाहिये। इस अ, आ, इ ई मे-से ही वह क्ष, त्र, ज्ञ तक की सास्कृतिक यात्रा संपन्न कर सकेगा। यदि कोई श्रावक सच्चा श्रोता नहीं है, और किसी बात को दुराग्रह किसी खास रंगत, उद्विग्नता या वदनीयती के साथ सुन रहा है तो कहना होगा, वह श्रावक नहीं है। इस तरह श्रावकाचार का क, ख, ग भाषा के संयम या श्रावकता से आरम्भ होता है। श्रावक बोलेगा नहीं वैसा सब, जिससे किसी को चोट लगती हो या किसी का चित्त विघात हो, बल्कि वह इस तरह विनम्र रहेगा चरित्र के रेशे-रेशे में-से कि जैसे उसकी भाषा पूनम की चाँदनी हो, शब्द चन्दन-वन हों, बर्ताव गुलाब की बगीचा हो। उसका आत्मानुशासन कोरा सैद्धांतिक या शास्त्रगत नहीं होगा वरन् उसकी छटा-महक जगत् मे छिटकेगी और उपकृत-अनुग्रहीत करेगी। (६७/मार्च, '७७)

अन्तिम आदमी

अन्तिम आदमी के जीवन का व्याकरण ही जुदा किस्म का है। वह भाषाई व्याकरण से भिन्न है। वैसे, भाषा के व्याकरण में संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया-विशेषण अव्यय इत्यादि होते हैं, जिस तरह ठीक वैसे ही अन्तिम आदमी के जीवन व्याकरण मे भी ये सब है किन्तु उनके अर्थ कुछ भिन्न और काफी दिलचस्प है। (६८/अप्रैल, '७७)

कलम की इज्जत

कलम जिनके पास है उनके लिए हमारे मन मे इज्जत की कोई विशिष्ट भावना नही है जैनों में, विशेषत साधु-मुनियों की कलम के लोग इसलिए इज्जत की नज़र से देखते हैं कि

वे परम्परागत श्रद्धा के पात्र है, फिर उनकी ओर से जैसा जो भी आता है, हम उसे अन्तिम और उत्कृष्ट मानने के आदी हो गये है। यह एक किस्म का अन्धविश्वास है। आज हमारे पास ऐसा कोई केन्द्रीय प्रकाशन संस्थान नही है, जो इस तरह की कृतियो को कसौटी पर कसे और अपनी निष्पक्ष राय दे। इसकी जरूरत कई बार बडी ईमानदारी से महसूसी जाती है।

एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उन लेखको का है, जिन्होंने अपना तिल-तिल, सर्वस्व समाज के लिए झोक दिया है, किन्तु जिनकी सामाजिक सुरक्षा की कोई गारंटी आज नही है। (६९/मई, '७७)

बैलगाड़ी के बहाने

चाहे जो हो बहुत जरूरी है कि हम बैलगाडी को आधुनिक और सुविधाजनक बनाने से पहले समाज की बैलगाडी को आधुनिकता से लैस करे। एक ताजा आंकडे से अनुसार देश मे एक करोड तीस लाख बैलगाडियाँ है, आदमी साठ करोड है, ये सब भी बैलगाडी की स्थिति मे ही है, क्या इस सबके आधुनिकीकरण की आवश्यकता से मुँह मोडा जा सकता है? माना, हम लोकतन्त्र के मैदान मे सफल हुए है, किन्तु जब तक हम उन लोगो की ठीक-ठीक चिकित्सा नही कर लेते जो दोहरे-दोगले चरित्रधारी है कहते कुछ, करते कुछ है तो अभी काफी समय तक हम बैलगाडी-युग मे ही बने रहेगे, गाडी बदलने से पहले गाडीवान की मन स्थिति मे परिवर्तन लाना शायद अधिक जरूरी है। असल मे सामाजिक क्रान्ति की पहली शर्त ही यह है कि उन लोगो को बीन-बीन कर ढूँढ निकाला जाए जो समाज मे दोहरी भूमिकाओ का वर्वर खेल खेल रहे है। कह रहे है चारो ओर पवित्रताएँ आनी चाहिये, किन्तु स्वय अपवित्रताओ मे सने हुए है। जब तक यह दोहरापन दूर नही होगा, हमारे सारे यत्न वेमानी होगे, और कहा जाएगा 'खोदा पहाड निकली चुहिया'। अत आज जरूरत है कि इन दोहरे चरित्रधारियो के विरुद्ध एक व्यापक धर्मयुद्ध लडा जाए, ताकि न केवल बैलगाड़ी वरन वैलगाडीवान भी खुशहाली के एक नये युग मे प्रवेश कर सके। (७०/जून, '७७)

धर्म ही सच्चा और वफादार साथी

अकुलाहट, भय, आतंक, अनिश्चय, सदेह और अविश्वास के इस अभूतपूर्व जमाने मे यदि कोई सच्चा और वफादार साथी हो सकता है तो वह सद्विवेक यानी धर्म ही है। यहाँ धर्म को यदि अन्धविश्वास और अज्ञान का पर्याय मान कर चलेगे तो धोखा हो सकता है; अत आप मान कर चले (आजमाये भी) कि धर्म एक ऐसा दिशादर्शन है जो सम्यग्दृष्टित्व और सही-संतुलित ज्ञान प्रदान कर सकता है। यह वह जीवन-दृष्टि है जो आपको प्राणिमात्र पर भरोसा करना मिखाती है और यह भी वताती है कि आप अखूट पुरुपार्थ के स्वामी है, मुख या आनन्द आपको वाहर कहीं से आयातित नही करना है अपितु वह आप स्वय मे

पहले ही उपस्थित है। आप खुद गगा जल की मछली है, किन्तु बदकिस्मती से प्यासे हैं, आप स्वय एक सुखद कैलाश-शिखर पर बैठे है और मान रहे है कि पाताल मे कही नरक भोग रहे है, धर्म सही क्षण मे सही स्थिति मे बोध की सज्ञा है, विज्ञान विश्लेषण प्रदान करता है, किन्तु धर्म इस तरह प्राप्त विश्लेषणो को मानवीय निष्कर्षों मे बदल कर उन्हे प्राणिमात्र के हित मे जोतने की क्षमता रखता है, वह मनुष्य को निरा निष्प्राण यन्त्र या उसका कोई बेजान पुर्जा नही मानता, वरन् उसे एक प्रतिष्ठित और आदरणीय अस्तित्व मानता है।

विश्वास किया जाना चाहिये कि आप धर्म के आईने के सामने खुद को निठार डाल सकेगे और उन आत्मस्वीकृतियो से जो अपराध या कालिख के रूप मे पेश होगी, विचलित नही होंगे, आप उनका परिहार कर सकते है और जिस मूल धातु के आप है उसे प्रकट कर सकते है। (७१/जुलाई, '७७)

जैन पत्र-पत्रिकाओं का योगदान

सपूर्ण देश को यह सूचना मिलनी चाहिये कि जैन पत्र-पत्रिकाएँ शताधिक वर्षों से प्रकाशित है और उनका भारतीय लोकजीवन के स्पष्ट, असदिग्ध एव मूल्यवान योग रहा है तथा उन्होंने विभिन्न क्षेत्रो मे विभिन्न प्रकार से सेवाएँ की है। (७२/अग -सित , '७७)

आशा की किरण अध्यात्म यानी धर्म के पास

क्या हम धर्म को अपने जीवन मे पुन प्रवेश देने को तैयार है, और क्या इतना साहस हममे है कि धर्म की जो शक्ल आज हमारे भीतर-बाहर फैली है, उसकी जाँच-पडताल हम करे ? तय है कि यदि कोई शान्ति, आशा, सुख-समृद्धि या सघटन हमे हासिल होगा तो वह नीति, अध्यात्म या धर्म मे-से ही प्राप्त होगा। भौतिकता हमे भुलावे मे डाल सकती है, कोई ठोस समाधान उसके पास नही है। आज आवश्यकता आवश्यकताओ को गुणित करने की नही है, वरन् उन्हे घटाने की है। सस्कृति और सभ्यता के जिस दौर से आज हम गुजर रहे है उसमे 'गुणा' की प्रतिष्ठा है, 'भाग' वहाँ अपकीर्तित है, वहाँ जोड है, बाकी विस्मृत है, परिग्रह है, त्याग की कोई साख वहाँ नही है। अध्यात्म भाग और बाकी सिखाता है, भौतिकता और विज्ञान गुणा और जोड़। दोनो के गणित दो अलग ध्रुवो पर स्थित है, इसीलिए आशा की कोई किरण यदि कहीं है तो वह अध्यात्म यानी धर्म के पास है। सारा नेतृत्व यदि हम धर्म (मज़हब नही) को आज सौप दे और उसके प्रति एक बिलाशर्त आत्मसमर्पण कर दे तो हालात काफी सुधर सकते है। (७३/अक्टूबर, '७७)

निर्मल आचरणांजलि

युगपुरुष मुनिश्री चौथमलजी की वाणी और उनके चारित्र मे एकरूपता थी, जो जीभ-पर था, वही जीवन मे था, उसमे कहीं-कोई दुई नहीं थी, इसीलिए यदि हमे उस शताब्दि-

पुरुष को कोई श्रद्धा अर्पित करनी है तो वह अजलि निर्मल प्रामाणिक आचरण की ही हो सकती है। (७४/नव.-दिस , '७७)

महावीर : सत्ताएँ-संपदाएँ शून्य और निरर्थक

हम महावीर के धर्म को मानने वाले है, उस महावीर के जिसके लिए सत्ताएँ-सपदाएँ शून्य और निरर्थक थी, जो दिगम्बर था, शरीर स्वत जिसके लिए अम्बर था, और जिसके सामने केवल ज्ञान ही सर्वोपरि था. प्राणिमात्र का सम्मान जिसके व्यक्तित्व का परम वदनीय भाग था, जो अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य के सिद्धान्त-माध्यम से काचन से जूझा, जिसने नारी को गुलामी की जकड से मुक्त किया, और प्रतिपल दुनिया को याद दिलाया कि मनुष्य पैसे से, सत्ता से बडा है, बहुत बडा है, सम्मान्य है, महत्त्वपूर्ण हे। (७५/जनवरी, '७८)

धर्म व्यक्ति को आत्मनिर्भर बनाता है

एक बात गाधी की भी याद आती है। उसने कहा था कि 'सरकार हमें कभी स्वाधीनता नही दे सकती, उसका स्वभाव है पराधीन बनाने का'। क्या स्वाधीनता के अन्वेषी हम, सरकार से पराधीनता मॉगने के लिए जुलूस निकालते है ? क्या हम अपनी रक्षा स्वयं नही कर सकते ? इस चुनौती का उत्तर भी हमे अधिक मजबूत तथा एक हो कर देना चाहिये। धर्म व्यक्ति को आत्मनिर्भर बनाता है तो क्या हम पराधीन होने के लिए कोई माँग करना चाहते है ? कुल मिलाकर इस समय, इन चुनौती-भरे क्षणो मे, हमे आत्मालोचन करना चाहिये और धर्म के उन शाश्वत मूल्यो को लौटाना चाहिये जो भारतीय चरित्र को महान् बनाते है, और धर्म को नवगरिमा प्रदान करते है। (७६/फरवरी, '७८)

गजरथ/विद्यारथ

समाज को चाहिये कि वह विद्वानो के दर्द को समझे। उनकी तकलीफो पर ध्यान दे। उन्हे आदमी समझे और उनकी आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा वैयक्तिक आवश्यकताओ को पूरा करे, उन्हें इज्जत दे, संदर्भ-ग्रंथ दे. विद्वद्वृत्ति दे, विकास के समुचित-समीचीन अवसर प्रदान करे, और उन्हे सब कही एक अनुकूल वातावरण प्रदान करे। वस्तुत. यह पहला और जरूरी गजरथ है, जिसे और अधिक टाला नही जा सकता, क्योकि विद्यारथ पर आरूढ हो कर ही हम मनोरथ पथ पर चल सकते है, अन्य कोई रथ नही है जो हमारी भीतर की प्यास को बुझा सके। (७७/मार्च, '७८)

महावीर भीड़ के आदमी नहीं थे

महावीर भीड के आदमी नही थे , वे खालिस व्यक्ति थे , किन्तु समुदाय मे-से आये थे। भीड मे जाने, और फिर भी सुख से बने रहने का माद्दा उनमे था, किन्तु उनकी साधना

इतनी प्रखर-उत्कट थी कि वे भीड मे, भीड के हो कर भी अकेले होने का अहसास कर सकते थे। दुर्भाग्य से, महावीर को उनकी परवर्ती पीढियो ने गलत ही समझा, और ऐसे काम किये जो उनकी मशा के खिलाफ थे और उनके विचारो से कतई मेल नहीं रखते थे।

महावीर के साथ सबसे बड़ी कठिनाई यह थी कि वे अनुशासनहीनताओ के बीच आत्मानुशासन के लिए आगे आये थे। सामाजिक और सास्कृतिक टूटन के बीच एक स्निग्ध सधि की भाँति उनका उदय हुआ था। रूढियो, अन्धविश्वासो, पाखण्डो और तर्कहीनताओ के बीच वे एक स्वतन्त्रचिन्तन और वैज्ञानिक तर्कसगति के साथ प्रकट हुए थे। (७८/ मार्च, '७८)

एक होने की संभावनाएँ तलाशनी चाहिये

जैनदर्शन के सिद्धान्तो को यदि जैन समाज एक बार (एक क्षण के लिए भी) जीना स्वीकार कर ले तो एकता तो हो ही सकती है, सारी दरारे पट सकती है, अच्छाइयाँ सगठित हो सकती है, किन्तु बदक़िस्मती कुल मिलाकर यह है कि न तो कोई साधु ही पूरी तरह जैनत्व को जी रहा है, और न ही गृहस्थ। दोनो ही टूटने और तोडने मे रस ले रहे है, और जुडने, या जोडने के सु-समाचार से चिन्तित दिखायी दे रहे है, जबकि होना असल मे यह चाहिये कि अनगार-सागार सबको एक होने की सभावनाएँ तलाशनी चाहिये और टूटन की कब्र खोदनी चाहिये। क्या इस तरह का कुछ कभी हम कर पायेगे ? (७९/मई, '७८)

पण्डित-वर्ग द्वारा स्वस्थ नवक्रान्ति का श्रीगणेश संभव

पण्डित-वर्ग जब तक-यहाँ 'पण्डित' शब्द अपनी सपूर्ण उज्ज्वल सास्कृतिक दमक के साथ प्रयुक्त है-हीनता की भावना से मुक्त नही होता, और सारे लोभ-लालच छोड़ कर मैदान मे नही आता चिन्तन और चरित्र मे एक रूप हो कर किसी स्वस्थ नवक्रान्ति का श्रीगणेश सभव है। (८०/जून, '७८)

जन जीवन में सर्वत्र एक परिशुद्ध वातावरण बनाने की कोशिश

अब वक्त आ गया है, जब सर्वत्र हमे निष्ठा, नेकनीयती और सर्वकल्याण की भावना से काम करना होगा। यदि हम इन सब सद्गुणो की वापसी नहीं करते है और ऐसे लोगो को, जो चारित्रिक बर्ताव की दृष्टि से उत्कृष्ट नही है, मात्र उनकी किसी-न-किसी प्रतिभा अथवा कौशल के कारण प्रशंसा या सम्मान करते जाते है, तो उससे नाना बुराइयो को जगह मिलती है और उस पीढी को, जो अभी सामाजिक बेईमानियो को पूरी तरह अभ्यास और सस्कार मे नही डाल पायी है, दिशाभ्रष्ट करते है। अब निश्चित ही ऐसे परिवर्तनकारी क्षण उपस्थित है हमारी आँखो के सम्मुख जब हमे अपनी कसौटियो को अधिक वास्तविक कर लेना है और जनजीवन मे सर्वत्र एक परिशुद्ध वातावरण वनाने की कोशिश करना है। चाहे जो क्षेत्र हो साहस के साथ उन लोगो को सगठित हो जाना चाहिये, जो सख्या मे भले ही कम ` जिनका विश्वास मानवता के लिए लगातार काम करते जाने मे है। (८१/-

बड़ा सूरज हमारे सार्वजनिक चरित्र का

स्वाधीनता का मतलब अधिकारो के प्रति सजगता नही है, कर्त्तव्यो के अप्रमत्त पूर्ति भी है। स्वाधीनता का पहला पाठ है कर्तव्यनिष्ठा। सच्ची आजादी कभी कागजी नही हो सकती, उसे वास्तविक होना ही चाहिये। आज स्वाधीनता की जडो मे स्वार्थन्धता, लोलुपता, संग्रह-सचय, हिसक, असत्य, तस्करी, मिलावट, अनुशासनहीनता इत्यादि के शोख चूहे लगे हुए है वे उन्हे अविराम कुतर रहे है, अत जब हम इन्हे पीजरो मे दाखिल नही कर लेते हमारा कोई काम पूरा नही होगा, बल्कि यो कहे कि एक दिन ऐसा भी हो सकता है कि सूरज नही ऊगेगा और सर्वत्र अधेरे छा जाएंगे। आवश्यक नही है कि यह सूरज वही हो जो रोज-ब-रोज क्षितिज पर आता है इससे बडा सूरज हमारे सार्वजनिक चरित्र का है, जिसे ग्रहण लगभग लग चुका है, क्या इसे हम कभी मुक्त कर पायेगे ? (८२/अगस्त, '७८)

जैन न तो भेड़ बनना पसन्द करेगा, न गड़रिया

उन सारे अहितकारक तत्त्वो को ललकारना होगा और उनसे मैदान मे निबटना होगा जो धर्म की चादर को स्वार्थवश मैला कर रहे है, या नोच रहे है। वस्तुत स्वार्थान्ध व्यक्तियो का कभी कोई धर्म नही होता है, वे अंग्रेजो की तरह धर्म और समाज मे अपने उपनिवेश या जेबे (पॉकेट्स) बनाना चाहते है, बनाते है, और कुछ भेडे इकट्ठा करने मे सफल हो जाते है। क्या हम चाहते है कि हम चन्द गडरियो द्वारा हॉके जाते रहे, ऐसे गडरियो द्वारा जो खुदगर्ज है कीर्तिकामी है, लोलुप है, भ्रष्ट है ? हम समझते है कोई भी जैन यदि जैन है तो न तो भेड़ बनना पसन्द करेगा और न गड़रिया, वह न गुलाम बनना चाहेगा, और न बनाना, वह तो उन अजाने आध्यात्मिक टापुओ की खोज मे निकलना पसन्द करेगा जो उसकी भीतरी ऊँचाइयो को उत्तरोत्तर उच्चतर करते जाएँगे। (८३/सितम्बर, '७८)

विशाल जैन साहित्य-मेले का आयोजन

क्या हम ऐसा नही कर सकते कि कम-से-कम पॉच वर्षो मे एक बार एक 'विशाल जैन साहित्य-मेला' आयोजित करे और विगत दो-तीन दशको मे प्रकाशित साहित्य को वहाँ प्रदर्शित करे ? हमारे विनम्र मत मे इस मेले का आयोजन इसलिए किया जाना चाहिये कि एक तो लोग इस तथ्य से वाकिफ हो सकेगे कि जैनो की भारतीय साहित्य को क्या देन है, दूसरे इस क्षेत्र मे हम जो कर रहे है, वह कितना खरा-खोटा है, इसका अनुमान भी हमे हो जाएगा। हम सोच पायेगे कि हमारा उठा हुआ पाँव सही दिशा मे है अथवा गलत ? (८४/अक्टूबर, '७८)

साधु जीवन्त प्रतीक संस्था

साधु त्याग, तितिक्षा, उत्सर्ग, करुणा, सत्य, अहिसा, अप्रिग्रह, ब्रह्मचर्य की जीवन्त प्रतीक संस्था है। (८५/नव -दिस., '७८)

हँसी आनन्द का सीधा पर्याय

यदि हँसी को उल्लास, हर्ष, आनन्द इत्यादि का सीधा पर्याय वनाना है, तो उसे अन्तस् की गहराइयो मे-से उठ-फूट कर सारे जीवन मे छा जाना होगा और विश्व के हर एक प्राणी को अपनी सक्षम मंगलमयी भुजाओ मे समेट लेना होगा। (८६/जन.-फर., '७९)

मान ही हमारा मैदान

जो लोग मैदान छोडते है, वे धर्म को जान ही नही सकते। [illegible] उसका तप और उसकी साधना है, हमारे मैदान हम खुद हैं। [illegible] है, यहीं से यानी इसके प्रति हमारे व्यवहार से ही यह [illegible] दासता में जी रहे है, या जीवन के जीवन्त, हरे-भरे [illegible]

मीक्षा की आवश्यकता

हमारी दोस्ती '-' से बढ रही है '+' या [illegible] सपन्नता के साथ हम पीछे की ओर गये है, [illegible] इस सबकी समीक्षा के लिए तैयार है, या [illegible] चाहते है ? (८८/अप्रैल, '७९)

र्थों के झगड़े धार्मिक निरक्षरता के परिणाम

धार्मिक साक्षरता का अभियान

धर्म को लेकर यदि एक व्यापक साक्षरता-धार्मिक साक्षरता-का अभियान चलाये तो दगो की ऊर्जा को एक रचनात्मक मोड दिया जा सकता है। इसे क्षेत्र मे अभी कोई साहस-भरा नेतृत्व करने को तैयार नही है कि धर्म एक मगलकारी अस्तित्व है, वह जोडता है, तोडता नही है। धार्मिक निरक्षरता को समाप्त करने के दो उपाय हो सकते है-एक, प्रत्येक धर्म अपने से संवन्धित धार्मिको को अपने संवन्ध में साक्षर वनाये, अपनी तमाम गहराइयो मे-विशेषत: सदाचार की गहराइयो मे-ले जाए, तथा अपने मौलिक सिद्धान्तो को नये-पुराने संदर्भो मे प्रतिपादित करे, दो, सारे धर्म मिल कर एक समन्वित कार्यक्रम हाथ मे ले और उन सारी गलतफहमियो को दूर करे जो एक-दूसरे को लेकर अज्ञानवश वनी हैं। यह एक ठोस कार्यक्रम होगा। इससे मनुष्य मजवूत होगा, उसकी सत्ता प्रतिष्ठित होगी, विश्वतन्त्र का सदियो से चला आ रहा स्वप्न साकार होगा। (९०/जून, '७९)

शब्द संकेत, वस्तु नहीं

'शव्द' को लेकर एक रोचक तथ्य यह है कि वह वस्तु का सीधे-सीधे सकेत तो करता है किन्तु वह स्वय वस्तु नही होता। इत्तफाकन यदि संवोधन/संकेत सवोधित/संकेतित हो तो बडी कठिनाई खडी हो जाएगी, इसलिए शब्द की सबमे बडी विशेषता यह है कि वह अभिधान है, वस्तु नहीं है। यदि कोई शब्द को वस्तु मान ले तो भ्रम की एक अभेद्य दीवार खडी हो जाएगी और सारी पार्थिव/भाषिक व्यवस्था गड़बडा जाएगी। इसलिए जाने कि शब्द 'पुस्तक' मात्र सकेत है 'पुस्तक' नही है। कई बार झगडे केवल इसलिए भी होते है कि शब्द को वस्तु मान लिया जाता है और अन्त तक वे वस्तु ही' बने रहते है। लाखो लोग शब्द को स्थिति/वस्तु मान लेने के कारण ही मारे गये है, मारे जाते है। (९१/जुलाई, '७९)

समाज में बहुत शक्ति, किन्तु वह जागृत नहीं

आज हमारा समाज द्विमुख एकोदर है और जुदा-जुदा फलाकांक्षा लिये हुए है। समाज मे शक्ति बहुत है, किन्तु वह अप्रमत्त नहीं है। अप्रमत्त, जागृत और शक्तिशाली होने पर वह बाघ-रीछ जैसी क्रूर-घनी समस्याओ का समाधान भी कर सकता है। समाज मे एकता का एकदम अभाव है, एक मुख एक फल खाना चाहता है, दूसरा दूसरा, मरता संपूर्ण समाज है। ग़लती कही बैठा एक नादान करता है और उसका कुफल भोगना पडता है सारे समाज को। (९२/अगस्त, '७९)

सूर्योदय कब होगा ?

सामन्तकालीन ख्यालो के होने, और विज्ञान को अविश्वसनीय मानने के कारण भी

हमारी हालत दयनीय हुई है। दुष्परिणाम यह/यो हुआ है कि इसका विना कुछ जाने/समझे अपने/समाज के चारो ओर मन्दिरो और अनुपयोगी संस्थाओ का एक बियावान जंगल खडा कर लिया है, किन्तु इसके मुकाबले न तो हमारे पास एक अधुनातन केन्द्रीय ग्रन्थालय है और न ही ऐसी संस्थाएँ/जो पूरी वित्तीय आत्मनिर्भरता के साथ काम कर रही हो और जिनकी रीढ़ की हड्डी सीधी हो। पता नही यह सूर्योदय कब होगा, खासतौर से ऐसे मे जब हम काले बादलो से घिरे हैं, क्या कभी हम इन गहन समस्याओ पर खुले मन-मस्तिष्क से बात कर पायेगे ? (९३/सितम्बर, '७९)

'कॉमनमैन' का अभिषेक करे

आने वाली पीढी नवनिर्माण करेगी उस मनुज का जो सचमुच मनुज होगा। इसे ध्वस की धमकी न माने किन्तु सामने चले आ रहे कालपुरुष की नब्ज पर अपनी अँगुलियाँ रखने का यत्न करे। वे नवयुवक जो इन औपचारिक षडयन्त्रो मे शरीक नही है और जिनका दिल-दिमाग सारी स्थिति का तटस्थ मूल्याकन कर सकता है, अविलम्ब आगे आये और 'कॉमनमैन' का अभिषेक करे, उसकी एक-एक साँस और समस्या के लिए सर्वस्व होमने की प्रतिपल तैयारी रखे। कृपया गलत अन्दाज न करे साफ-साफ देखे कि कोई क्रान्ति तेज कदम उठाये पूरे वेग से चली आ रही है, ऐसी क्रान्ति जिसे फूस के ये अधिवेशन और ये खोखली सभा-वैठके कभी रोक नही पायेगी। (९४/अक्टूबर, '७९)

आत्मानुशासन के लिए नये क्षितिज

जीवन को न केवल उपयोगिता से जोडना आज जरूरी हुआ है वरन् उसे लालित्य, मानवीय गरिमा और उपलब्धियो के साथ भी जोडा जाए क्योकि ऐसा करन से प्रगति के लिए नयी सभावनाएँ तो बनेगी ही, प्रजातान्त्रिकता भी विकासोन्मुख होगी और अन्तत अराजकताएँ कम होगी, और आत्मानुशासन के लिए नये क्षितिज खुलेगे/उघडेगे। चिन्तन की अनुपस्थिति मे जो अनुशासनहीनताएँ, प्रमाद, स्वार्थ, असावधानियाँ और बेइमानियाँ उठ खडी हुई है, वे कम होगी, एक निर्मल वातावरण बनेगा और सर्वत्र दोनो सिरो पर वैचारिक यातायात अपनी सपूर्ण तरुणाई पर सहज ही खुल जाएगा। तब लोग बोलेंगे तो सुनेंगे भी और सुनेगे तो आवश्यक होने पर साफ नीयत और अटूट विश्वास के साथ बोलेगे भी। (९५/नवम्बर, '७९)

'हाँ' के समय हाँ', 'न' के समय 'न'

कहाँ है हमारा वह तरुण जो कभी फुफकार कर पूरे विवेक और बलिदान के साथ खडा हो जाता था किसी अन्याय के खिलाफ और मर मिटता था 'हॉ-न' के औचित्य/अनौचित्य पर ? शायद वह साहसी पीढी अतीत मे कही बुझ गयी है और अब उसे पुन सुलगने मे

काफी वक्त लग जाएगा क्योकि यह तरुण भी अपनी लाचारियो के कारण करीव-करीव बिक चुका है और खरीददार भी काफी शातिर और होशियार किस्म का प्राणी है। वह नयी-नयी स्थितियो को जनम रहा है और तरुण अपने तात्कालिक वैयक्तिक स्वार्थों के कारण एक अबोध मृगछौने की तरह उस जाल मे जकडता जा रहा है। क्या हम अपने चरित्र मे भाषा के सम्यक्त्व को कभी पुनर्जन्म दे पायेगे और हमारी शिक्षण-संस्थाएँ ऐसी पीढी को पैदा कर पायेगी जो 'हॉ' के समय 'हॉ' और 'न' के समय 'न' कह सके ? (९६/दिसम्वर, '७९)

संतुलित विवेक की प्रतीक्षा

हमे दिखावे के सामाजिक जीवन से भी हाथ जोड लेने चाहिये और चित्त मे विवेक जगाना चाहिये। वस्तुत दिखावटो ने हमे तमाशा वना दिया है और हमारी रचनात्मक शक्ति को उजाड दिया है। इनसे हमारी स्थिति सुधरने के वजाय बिगडी ही है। विवेक के घटने या लुप्त होने का कारण हमारे न्यस्त स्वार्थ है, जिनके कारण न तो हम समाज के वारे मे ही सोच पाते है और न अपने बारे मे। इस स्वार्थान्धता ने हमे काफी गिरा-विखरा दिया है। क्या उपयोगी है, क्या अनुपयोगी है, क्या भला है, क्या बुरा है, किसे पहले लिया जाए, किसे बाद मे, इत्यादि बहुत सारे प्रश्न है, जो हमारे सतुलित विवेक का इंतजार कर रहे हैं और एक ओर हम है, जो इन्हे लगातार टालते जाते है और आने वाली पीढी के साथ एक क्रूर खिलवाड करते जाते है। यथार्थ मे हमे काम सारे छोड कर, तमाशगीरी से बाज आ कर समाज के विकास मे रुचि लेनी चाहिये ताकि वह उन्नत हो, व्यक्ति की वास्तविकताओ के निकट आये, और तमाशे/खिलवाडे रुके। (९७/जनवरी, '८०)

आत्मीयता का विस्तार

हमे, कैसे भी, संतुलन के उस बिन्दु तक तो आना ही होगा जो आनन्द की सृष्टि करता है और जहाँ से हम अत्यत्न औपचारिक और यन्त्रवत् हो जाने के कारण काफी खिसक चुके है। और यदि सचमुच ही हम उस बिन्दु की खोज मे हैं तो हमें अपनी आत्मीयता का इतना विस्तार कर लेना होगा कि सारा जगत् उसकी उदार परिधि मे आ जाए। इस प्रस्थान का प्रारम्भ हम खुद से करे/कुटुम्ब से करे/अपने वातावरण मे जहाँ भी सुविधाजनक हो वहॉ से करे। (९८ फरवरी, '८०)

टकराहटें कम हों ताकि एक संगति, एक संगीत जनम सके

एक टकराहट सादगी और अस्वाभाविकता/बन-वताब के बीच है। सादगी सौदर्य है या नही इसकी समीक्षा की जा सकती है , किन्तु स्वाभाविकता स्वयं सौदर्य है, इस सबन्ध मे शायद ही कोई मतभेद हो। क्या हम इस सच्चाई को स्वीकार नही करना चाहेगे कि इन दिनों हमारा जीवन-वैयक्तिक और सामाजिक-काफी बडी हद तक अस्वाभाविक और

कृत्रिम हुआ है ? शरीर के साथ कहे अपने साथ, जो छल हम करते है, क्या यह ठीक है ? हम व्यवस्थित जिये/रहे यहाँ तक तो ठीक है, किन्तु हम उन चीजो को पायें और उनका इस्तेमाल करे जो हमारे लिए घातक हैं और हमारी स्वाभाविकताओ को घटाती है तो क्या यह आतमघात नही है ? यह मर्ज निरन्तर बढ रहा है और प्राय· सभी क्षेत्रो मे बढता दिखायी दे रहा है, अत हमे प्रयत्न करना चाहिये कि इन परस्पर-विरोधी युग्मो के बीच कही कोई सतुलन कायम हो और टकराहटे कम हो ताकि एक सगति, एक सगीत जनम सके, स्थापित हो सके। (९९/मार्च, '८०)

सत्य की पुख्ता साख

सच इसलिए भी हमारे जीवन से निष्कासित है कि वह तुरन्त/तत्काल कोई लाभ नही दे रहा है और दीखने मे काफी दरिद्र है। सत्य का दृश्य दरिद्र और अदृश्य समृद्ध होता है और झूठ का दृश्य आकर्षक/भव्य और अदृश्य मलिन/भीषण/दरिद्र होता है, जो इसे जानते है वे सत्य की अँगुली संकट मे भी नही छोडते है और जो नही जानते है वे दुर्भाग्य से यह भी पता नही लगा पाते कि सत्य क्या है, कैसा है और उसे पाने/देखने के क्या उपाय/माध्यम है, इसीलिए लोग आज झूठ बोल रहे है और हमारा मत यह है कि झूठ को उसकी पराकाष्ठा पर बोला जाना चाहिये ताकि सारे रहस्य खुल सके और सत्य की पुख्ता साख जम सके। (१००/अप्रैल, '८०)

तीसरी दुनिया के लिए

पहली दुनिया अतीत की है ।
दूजी वर्तमान की और तीजी उस भविष्य की है जो अनवरत वर्तमान होता जा रहा है,
सहज ही यह प्रश्न उठता है कि क्या हम भीड़-समाज और महानगरीय
सभ्यता के अनुरूप धर्म का कोई रूप आपोआप उत्पन्न करने जा रहे है ।
या अपनी दुनिया के धर्मरूप को ही पुनरुज्जीवित कर हम तीसरी दुनिया को
एक स्वस्थ धर्म/नीति/चरित्र देना चाहते है।
वस्तुत हम धर्मग्रन्थ आज छाप तो तीसरी दुनिया की परम्पराओ के अनुरूप रहे है,
बढ़िया कागज, बढिया स्याही, बढिया जिल्द,
किन्तु हम उन्हे जान/जी बिलकुल नहीं रहे है हम प्रदर्शन के आवेश मे आ गये है।
और ज्ञान तथा चरित्र के मध्य लगातार एक खाई, चौड़ी खाई, बनाते जा रहे है।
ऐसे मे जो समस्याएँ आज धर्म और सस्कृति के क्षेत्र मे उत्पन्न हो गयी है
क्या हम उनके समाधान पर कोई ध्यान देने की स्थिति मे है ? (१०१/मई, '८०)

रचनात्मक साझेदारी से शान्ति-कपोत के पँखों का पुनर्जन्म संभव

क्या सैन्य, अर्थ, राजनीति, संस्कृति, विचार, दर्शन की सामरिक टकराहटो के बीच कहीं हमें इक्कीसवीं सदी की कोई ऐसी दुनिया दिखायी देती है जहाँ शान्ति के कबूतर के दोनो पँख साबित/अक्षत हैं, होगे ? क्या प्रदूषण की इतनी चर्चा होने के बाद/बावजूद हम विकासशील देशो को कोई राहत, कोई जीवन-दर्शन दे पाये है ? सच, बहुत मुश्किल हुआ है मनुष्य का मनुष्य की तरह जीना और विशेषत अहिसक शैली मे । कारण बहुत साफ है कि जिन स्थितियो को हम उनकी मुखमुद्रा पर अहिसक पाते रहे है, वे सारी हिसकताओ की उपज और हिसाओ से भरपूर रही है।

इन सारी स्थितियो से अब एक ही स्तर पर जूझा जा सकता है-वैचारिक/दार्शनिक। ध्यान से यदि हम देखेगे तो पायेगे कि बडी-से-बडी लडाई के पीछे कोई-न-कोई अच्छा/बुरा विचार सक्रिय रहा है। पूँजीवाद/समाजवाद अन्तत विचार ही है। क्या यह संभव है कि हम इन सतही अन्तर्विरोधो मे किसी साम्य की तलाश करे ? अर्थात् असहमतियो के बीच सहमति का कोई अलख जगाये। शायद संभावनाएँ है और अनगिनत है किन्तु चाहिये इस सबके के लिए साहस, सूझ, और धैर्य। एक बेहतर दुनिया की खोज के लिए यदि सारी दुनिया के विचारक, वैज्ञानिक, दार्शनिक, अध्यापक, और धर्मज्ञ एक हो जाएँ, कोई रचनात्मक साझेदारी खडी करें तो शान्ति-कपोत के पँखो का पुनर्जन्म संभव है। वस्तुत संभावनाएँ नाना है, राहे असख्य है, किन्तु उन लोगो की कमी है, जो समर्पित हो कर आगे आ सकें। (१०२/जून-जुलाई, '८०)

महामन्त्र णमोकार : संपूर्ण भारत की उज्ज्वलताओं और उदारताओं का जीता-जागता उदाहरण

महामन्त्र णमोकार एक ऐसा मन्त्र है, जो न केवल जैनों का, अथवा जैनो के किसी एक पन्थ/फिरके का है वरन् संपूर्ण भारत की उज्ज्वलताओ और उदारताओ का जीता-जागता उदाहरण है। उसकी शब्द-संयोजना ही इतनी अद्भुत है कि जहाँ एक ओर वह स्वय आश्चर्यजनक ध्वनि-प्रभावो मे अनुसूत्रित है, वही दूसरी ओर वह अर्थ-दृष्टि से समूचे भारत की अन्तरात्मा से अनायास ही जुड गया है। भारत की अन्तरात्मा संप्रदायातीत है, वहाँ न कोई वर्ग है, न पन्थ, न फिरका है, यदि कुछ तो वह है प्राणिमात्र के लिए मैत्री और करुणा का भाव। अरिहन्त से लेकर साधु तक की जो स्थितियाँ इस मन्त्र मे है, वे कायातीत है; इन्हे मन की निर्मलताओ मे जानने के प्रयत्न किये जाने चाहिये। वस्तुत. मन्त्रोच्चार के साथ जीवन में उसका स्पष्ट संचार भी उभरना चाहिये। असल मे मन्त्र को जब तक हम जीते नही है तब तक वह आकर हमे स्फूर्त्त नही कर सकता। (१०३/अग -सित , '८०)

स्वपरीक्षित है, वही श्रेष्ठ/प्रशस्त

समाज मे नीम हकीमो ने अन्धविश्वासो को काफी फैलाया है। आज देश मे नीम हकीमो की सख्या वहुत अधिक है। वास्तव मे जो अधूरा जानते है, उनसे अधिक खतरनाक कोई होता नहीं है, और दु खद यह है कि संपूर्ण/समग्र जानने वाला कोई उपलब्ध नही है। वस्तुत जो स्वपरीक्षित है, वही श्रेष्ठ और प्रशस्त है; न तिलक मे ज्ञान है और न सुमरनी मे, ताक़त है कही तो वह भीतर है और ज्ञान मे है। जिसके पास सही जानकारी है, भीतर या बाहर की, वही शक्तिशाली है इसलिए हमारा सबमे पहला फर्ज है कि हम वैज्ञानिक चिन्तन को फैलाये, आत्मशक्ति की ओर लोगो को मोड़े और सम्यक् ज्ञान का प्रचार करे। (१०४/अक्टूबर, '८०)

शब्दो को गहराइयो में जानना/समझना कठिन

शब्द को उसकी गहराइयो मे जानना/समझना तो कठिन है ही, समझ कर उसका सही/सतुलित उपयोग कही अधिक कठिन है। बहुधा हम शब्द/शब्दो का उपयोग व्यर्थ ही कर बैठते है और बाद को जब कोई दुष्परिणाम प्रकट होता है तब चकित रह जाते है, ऐसा असल मे तब होता है जब हम शब्द की अन्त शक्तियो से अपरिचित होते है और उसका सतही इस्तेमाल करते है। शब्द, हम जाने, कि मात्र सतह नही है, तह भी है। उसकी अपनी गहराइयाँ हैं और अतल/अन्तहीन गहराइयाँ है।

शब्द, जिससे हम रोज-ब-रोज काम चलाते है, वह वैसा नही है, वस्तुत जैसा दिखायी पड़ता है। प्राय हम अतिपरिचितो की शक्तियो की ठीक-ठीक थाह नही ले पाते, क्योंकि जो लोग नजदीक होते है अक्सर हम उनके मूल्याकन के बारे मे या तो लापरवाह होते है या असमर्थ। 'घर का जोगी जोगडा आन गाँव का सिद्ध' एक प्रसिद्ध कहावत है, जिसे हम शब्दशक्ति के अपरिचय पर लागू कर सकते हैं। (१०५/नव.-दिस., '८०)

ध्वनियाँ जब नाद/संगीत बनती है

ध्वनियाँ जव तक सार्थ होती हैं, जगत् से जुडी रहती हैं, किन्तु जैसे ही नाद/सगीत वनती हैं, जगत् के पार निकल जाती है और आनन्द के नये-नये टापू सामने करने लगती है। ध्वनियो के अश्व नाद के रथ मे जुते रहते है और नाद हमे उन स्थितियो तक पहुँचाता है, जो सामान्यतया कल्पना से परे होती है, किन्तु एक वार जिन तक पहुँचने पर फिर कही और पहुँचना शेष नही रह जाता। (१०६/जनवरी, '८१)

गुल्लिकाअज्जी : भक्ति-भावना की जीती-जागती मूरत

आज से १००० साल पहले विन्ध्यगिरि मात्र एक मामूली पहाड था किन्तु चामुण्डराय जैसे संकल्प और शक्ति, श्रुत और शील के धनी ने उसे अप्रतिम व्यक्तित्व प्रदान किया

और आज वह विश्वविश्रुत है, लाख-लाख लोगो की नेत्र-सम्पदा। नि·संदेह दक्षिण ने उत्त
को 'अनुत्तर' कुछ दिया है, और दोनो हाथो से उलीच उसकी धारा गंगा-यमुना की ओ
दौडी और उसने उत्तर के संताप को कम किया; क्या गुल्लिकाअज्जी उस भक्ति-चेतना
परम वैभव की प्रतीक नही हैं ? विन्ध्यगिरि पर गुल्लिकाअज्जी की प्रतिमा, उसकी मधुरा
स्निग्धता और शिल्प देख कर कौन मुग्ध नही होगा ? भला, जिसका समूचा मन महाभिषे
की पुलक में डूबा हो और जो अकिंचन होते हुए भी किसी महान् विभूति के अभिषेक
कल्पना मे पल-पल सुलगी हो, उसके अन्तस् वैभव का कोई सानी है !!

गुल्लिकाअज्जी कोई हाड-माँस की नारी रही होगी, किन्तु हम सबके लिए प
सौभाग्यशालिनी वह भक्ति-भावना की जीती-जागती मूरत है, जो आज से पूरे एक हज
साल पहले श्रवणबेळगोळ की पुण्यशालिनी धरती पर चली थी और जिसके चरणो
नेमिचन्द्राचार्य-जैसे महामनीषी का ज्ञान तथा वीर-मार्तण्ड चामुण्डराय का अप्रतिम शं
एकबारगी ही अकिंचन हुआ था। वह धन्य और सफल ही तब हुआ जब उसने सम्मा
किया उसे जो गुल्लिकाअज्जी के रूप मे प्रकट हुआ था। (१०७/फरवरी, '८१)

क्रान्ति शिखर से उतरने पर

हमारे विनम्र मत मे यदि क्रान्ति शिखर से उतर कर तलहटी मे फैलती-फलती है तो
इसके सुखद परिणाम निकलेंगे क्योंकि आज साधु के पास चरित्र है और वही वस्तुत स
बडी ताकत है।

तुलना करे तो पायेगे कि दिल्ली से गाँव/या/अन्तिम आदमी तक योजनाएँ इसलि
नही पहुँच पाती है कि हमारे नेतृत्व ने अपना चरित्र लगभग खो दिया है और अब
मात्र शाब्दिक रह गया है।

हॉ, यदि हमने इस स्वर्णक्षणो का सही उपयोग नही किया तो समय तो गुजरेगा ही,
कोरमकोर रह जाएँगे। (१०८/मार्च, '८१)

सिद्धान्त और व्यवहार में असंगति

उन तथ्यो पर भी विचार किया जाना चाहिये जो हमारे सिद्धान्तो और बर्ताव के बीच
की खाई को लगातार चौड़ा कर रहे है। हम सोचे कि क्या हमारे धार्मिक सिद्धान्तो और हमारे
दैनंदिन जीवन-व्यवहार मे कोई असंगति है ? कही ऐसा तो नही है कि हम कह कुछ रहे है
और हमारे रोजमर्रा के जीवन मे घटित कुछ और ही हो रहा है, शास्त्र हमारे कुछ है और
जीवन/व्यक्ति का, समाज का/कुछ और ही है। आज साहित्य ढेरो-तोल मे टनो-प्रकाशित
हो रहा है, किन्तु समाज को कितना वह जगा रहा है, इसकी समीक्षा के लिए हमारे पास कोई
फुरसत नही है।

अपराध है अन्याय के आगे घुटने टेक देना

अहिसा की इबारत भी हम ठीक से नही कर रहे है। अहिसा कायरो के लिए कभी रही ही नहीं, कायरो के लिए हिसा है। वही आदमी हथियार/बन्दूक/हथगोले रखता है, जिसमे शक्ति नहीं है, जिसका मनोबल घटिया है, ऊँचे मनोबल का व्यक्ति स्वयं मे हथियार होता है। क्षमा, जो अहिसा की ही एक आकृति है, शूरवीरो का आभूषण है, कायरो का नही। अहिसा का अर्थ बुराइयो के आगे आत्मसमर्पण नही है अपितु उन्हे यह सूचित करना है कि यदि बुराइयाँ सगठित हो सकती है तो अच्छाइयो का भी प्रभावशाली सगठन बन सकता है। अच्छाइयो के एक होने का मतलब है आत्मरक्षण, आक्रमण न तो उसका लक्ष्य हो सकता है और न ही प्रयोज्य। आत्मरक्षा के लिए उद्यत होना/कमर कसना अपराध नहीं है, अपराध है अन्याय के आगे घुटने टेक देना। (१०९/मई, '८१)

'तीर्थंकर' द्वारा समाज के सम्प्रदायातीत चित्त को जगाना

'तीर्थंकर' ने विगत दस वर्षों मे पूरी स्वतन्त्रता से काम किया है और समाज के सम्प्रदायातीत चित्त को जगाया है। मानवता के उदात्त लक्ष्यो की पूर्ति के साथ ही उसने जीवन के उन मूल्यो को भी पुष्ट किया है जो मनुष्य को एक बेहतर मनुष्य बनाते है और समाज को कोई रचनात्मक खुलाव देते है। उसने समाज की गतिशीलता/उर्वरता पर भी ध्यान दिया है। उसके विशेषाको ने सदैव अंधविश्वासो, अधी परम्पराओ और जर्जर रूढ़ियो को चुनौती दी है और कोशिश की है कि एक सुसगत/स्वस्थ/कल्याणकारी चिन्तन मे आस्था रखने वाले समाज का अभ्युदय हो। साहित्य की प्राय सभी विधाओ के माध्यम से उसने एक आदर्शपरक जीवन की ओर भारतीय चित्त को मोड़ने का प्रयत्न किया।

मनुष्य को प्रथम और 'भाषा/शब्द' को द्वितीय बनायें

क्या किसी हिसा को धार्मिक या राजनैतिक या सामाजिक या नैतिक या मानवीय हिसा कह देने से वह हिसा नही रहेगी ? वस्तुत· आज हम एक ऐसे भयानक मोड पर खड़े हैं, जहाँ शब्द हथियार बन गया है और वह उन सारे हथियारो से अधिक विस्फोटक/प्रहारक/सहारक हुआ है, जो विज्ञान की देन है। हमे चाहिये कि धर्म के माध्यम से हम मनुष्य को प्रथम और 'भाषा/शब्द' को द्वितीय बनाये। हमारा विश्वास है कि यदि हम किसी भाँति यह कर पाये तो मनुष्य के साथ/अब तक के मानव-विकास के साथ यह बहुत बडा उपकार होगा। (११०/जून, '८१)

चेहरों की लड़ाई द्वारा समाज की रचनात्मक शक्ति को तहस-नहस

दो ख्यातिलिप्सु चेहरे लडते है, दो धनपिपासु चेहरे लडते है, दो सत्तालोलुप चेहरे लडते है, यानी समान चेहरे लडते है और असमान चेहरे असमानताओ को बढाने मे रुचि

लेते है। चेहरो का यह महाभारत प्राय· वहाँ देखने को मिलता है जहाँ कोई सार्वजनिक मच होता है और मच पर कम लोगो के समायोजन की व्यवस्था होती है। चेहरो की ऐसी लडाई अक्सर दूरगामी प्रतिशोधों/दगो मे वदल जाती है और समाज की रचनात्मक शक्ति को तहस-नहस कर देती है। इन्हे समझने की जरूरत है ताकि वक्त रहते इस अन्तहीन जूझ को रोका जा सके और समाज की सिरजनहार शक्ति को बचाया जा सके। (१११/जुलाई, '८१)

स्वाधीनता आध्यात्मिक शब्द भी

स्वाधीनता केवल राजनीतिक या संवैधानिक शब्द नही है, वह आध्यात्मिक शब्द भी है और उसका व्यक्ति की सामाजिक अस्मिता से गहरा संवन्ध है। वह हजारो साल पहले हमारे सांस्कृतिक चिन्तन से सवन्धित रहा है। वह हमारी चिन्तन-धारा का एक महत्त्वपूर्ण भाग बना, प्रकटा और जिया है। (११२/अगस्त, '८१)

पर्युषण : आत्मानुशासन का पर्व

पर्युषण, दरअसल, आत्मानुशासन का पर्व है, किन्तु दुर्भाग्य से अब उसका मिथ्या रूपान्तरण हो गया है।

हम रोशनी, अच्छे वस्त्र, सजावट, जुलूस, हो-हल्ले को ही उसका पर्याय मान बैठे है, मानने लगे है नये सदर्भों मे भी कि वाद-विवाद/सगोष्ठी/प्रदर्शनी/प्रतियोगिता संभव है उसे कोई नया विस्तार दे जाएँगे, किन्तु है ऐसा नही।

हमे सारी स्थिति पर, किंचित् गंभीरतापूर्वक विचार करना होगा।
पर्युषण सादगी, सरलता, सौजन्य, मैत्री, दुष्कृतो को मिथ्या करने का पर्व है
यह मन के आँगन मे रोशनी बिखेरने का पर्व है।
व्यक्तित्व को निखारने का अद्भुत तपोत्सव है। (११२/अगस्त, '८१)

जैनधर्म/दर्शन/समाज की सही तस्वीर

आज जो किताबे दुनिया के सामने है वे जैन धर्म/दर्शन/समाज की एक अविश्वसनीय छवि प्रस्तुत करती है, इसलिए बडी-बडी इमारते खडी करने की जगह हमे इस तथ्य की ओर ध्यान देना चाहिये और उन संस्थानो/संस्थाओ को सिहासन से नीचे आना चाहिये। इस छोटे किन्तु महत्त्वपूर्ण कार्य को संपन्न करने के लिए यानी बहुत जल्दी ही हमे समस्त भारतीय भाषाओं और दुनिया की प्रमुख भाषाओ मे ऐसी छोटी, किन्तु सपूर्ण/सर्वसम्मत/प्रामाणिक किताबे लाने का संकल्प करना चाहिये, जिनके द्वारा हम सरलतम रूप मे जैन धर्म/दर्शन/समाज की एक सही तस्वीर दुनिया को दे सके। जो लोग विदेशो मे है या जो देशवासी जैनधर्म को जानना चाहते है वे ऐसी किताब/किताबो की बडी उत्कण्ठापूर्वक प्रतीक्षा कर रहे है (११२/अगस्त, '८१)

हमें अपने कल की खोज पूरी गंभीरता से करनी है और देखना है कि कल का मनुज केवल अतिवैज्ञानिक ही न हो, अति-आध्यात्मिक भी हो, वह सहज/समरस/सतुलित हो। (११३/सितम्बर, '८१)

धर्मस्थलो में अत्याधुनिक समृद्ध ग्रन्थालय हों

हमे बहुत बडे साफ-सुथरे स्तर पर धार्मिक अर्थात् नैतिक शिक्षा की स्पष्ट निष्काम पहल करनी चाहिये और वर्तमान दशक के अन्त तक तदनुरूप अल्पमोली पुस्तके प्रकाश मे लानी चाहिये। ध्यान रहे, इस बीच हमारा कोई मन्दिर कोई उपासरा ऐसा न रह जाए, जिसके पास धर्म/सस्कृति/नीति/सत्साहित्य पर एक अत्याधुनिक समृद्ध ग्रन्थालय हो। इसी तरह हमारी कोशिश होनी चाहिये कि हम देश के प्राय सभी बडे नगरो मे सप्रदायातीत हो कर समाज की ढहती/धँसती दीवारो को बचाये। (११४/अक्टूबर, '८१)

शाकाहारी वर्ग के लिए चुनौती/चेतावनी

शाकाहार सतुलित, पौष्टिक, सात्त्विक और आर्थिक दृष्टि से अत्यन्त मितव्ययी आहार है-इस तथ्य मे आज हमे पूरे बल से सारे देश मे समस्त उपलब्ध साधन-स्रोतो का इस्तेमाल करते हुए प्रचारित करना चाहिये। हमे विश्वास हे कि देश का शाकाहारी वर्ग जिसमे जैन मुख्य है- डाक विभाग द्वारा प्रकाशित अण्डे वाली टिकट का गंभीरता से लेगा और सारे देश मे एक सशक्त विरोध को बुलन्द करेगा। (११५/नवम्बर, '८१)

बिखरते-टूटते कुटुम्ब को सँभाले

आज भी यदि हमारी आँख खुले और हम अपने बिखरते-टूटते कुटुम्ब को संभाले तो निश्चित ही समाज का चेहरा बदला जा सकता है, ऐसा होने पर व्यक्ति न सिर्फ सांस्कृतिक दृष्टि से ऊपर उठेगा वरन् सारा देश/समाज भी एक नये धरातल पर अपने पाँव रोप सकेगा, इसलिए कुटुम्ब एक बार ध्वस्त होते हो तो हो, किन्तु कौटुम्बिकता को हमें [illegible] की पूरी कोशिश करनी चाहिये, हो सकता है हमारी इस कोशिश से कुटुम्ब के ठूँठ पर फिर नयी कोपलें आ जाएँ।। (११६/दिसम्बर, '८१)

भक्तामर स्तोत्र के लिए मौलिक/स्वस्थ भूमिका

गूढताएँ क्या हैं, और यह कि स्तोत्रकार का इसकी रचना के पीछे क्या उद्देश्य है ? सही है कि इसे आचार्य मानतुंगसूरि ने स्वान्त सुखाय रचा था, किन्तु बात इतने पर ही खत्म नही है, वह इससे आगे, बहुत आगे है।

धोबी तालाब के तट पर कपडे पछीत रहा है, उन्हे निर्मल कर रहा है, किन्तु स्वयं की अशुद्धियों का ख्याल उसे नही है। कपडे के साफ होने से भला क्या किसी का मन उजला/ साफ हो जाता है ? इस संदर्भ में कबीर की एक और पंक्ति मन-मस्तिष्क के फेरे देने लगती है-'मन ना रंगाये जोगी कपडा। आसन मारि मन्दिर मे बैठे, ब्रह्म छॉडि पूजन लागे पथरा।' सत कवि कहना चाहता है कि जब तक साधना को हम मन से नही जोड़ते, उसे केवल तन पर छोड देते हैं तब तक उसका कोई स्वस्थ नतीजा सामने नही आता। भक्ति को लेकर कबीर की ही एक पंक्ति है-'भक्ति का मारग झीना रे। साधन के रसधार मे, रहे निशिदिन भीना रे। राग मे स्रुत ऐसे बसे जैसे जल मे मीना रे।' भक्ति का रास्ता सूक्ष्म है। वहाँ नखशिख समर्पण चाहिये। जैसे जल के प्रति मछली की अनन्य प्रीति है, वैसी विरल अविरल प्रीति जब तक अपने आराध्य के प्रति नही बनती, कुछ हो नही पाता। (११७/जनवरी, '८२)

काया का श्रृंगार काल-क्षय के प्रति आँखें मूँदना

जब साध्वीश्री विचक्षणजी अपनी जिन्दगी के अन्तिम पड़ाव पर थी तो वे बहुत साफ देख रही थी कि अब घर खाली करने का क्षण आ गया है। और क्षण आते ही उन्होंने काया को इस तरह छोड दिया जैसे कोई जूना-पुराना वस्त्र उतार फेंकता है, क्यों ? हँसते-मुस्कराते वे ऐसा क्यो कर सकी ? इतनी ऐसी अद्भुत/अप्रतिम शक्ति उनमे कहाँ से आयी ? आयी काया को खोजने, सोधने और साधने में से। उन्होंने पता लगाया कि यह काया अन्तत क्या है ? इसकी सीमाएँ क्या है ? क्या यह अन्तिम है या इसके आगे और बहुत कुछ है ? क्या काया मात्र एक माध्यम है, मकान या मुकाम है, या ऐसा कुछ है जो अनश्वर है और सदा-सर्वदा है ? रोज-ब-रोज तो लोग इसे इसलिए देख-दिखा लेते है ताकि वे भले-सुन्दर दीखे, और रोज-ब-रोज कहे, एक-एक क्षण जो कुछ क्षय-क्षीण हो रहा है उसकी चुभन से बचे। काया का श्रृंगार, ध्यान रहे, सिर पर आये काल-क्षय के प्रति आँखे मूँदने के अलावा और कुछ नहीं है। जो लोग शरीर को समझने का प्रयत्न करते है, वे ही इस यत्न मे आत्मतत्त्व की ओर बरबस चले आते है। (११८/फरवरी-मार्च, '८२)

सूदखाऊ संस्थाएँ बुनियादी ध्येय से हट जाती हैं

संस्थाओ के बनने/बनाने की एक ही प्रक्रिया है-द्रव्यसंचय। पैसा इकट्ठा करना, संचित धन का कम-से-कम हिस्सा खर्च करना और अधिक-से-अधिक बैंक मे डालना ताकि भरपूर ब्याज आ सके और संस्था उसी तरह बनी रह सके जिस तरह महाजन सूद पर

ध्यान देता है, उसे वसूलता है और अपने कुटुम्ब का निर्वाह करता है। यह सबमे अधम शैली है कि सस्थाएँ उस ढब पर चलें जिस ढब पर किसी साहूकार का घर चलता है। सूदखाऊ सस्थाएँ उतना बडा काम नही कर सकती, जितना किसी महापुरुष के मिशन मे से जन्म लेता है। ऐसी सस्थाएँ बैक के लिए खड़ी होती है और पैसे पर ही अधिक ध्यान रखती हैं; बुनियादी ध्येय से उनका ध्यान करीब-करीब हट जाता है।

आवश्यकता है लोकाधारित संस्थाओं की

हमारी दृष्टि मे संस्थाओ के संचालन का गणित कुछ और ही होना चाहिये ताकि वे अस्तित्व मे भी रह सके और लोकजीवन के उत्थान का काम भी पूरी लगन/पुरुषार्थ से कर सके। सस्थाओ को पूरी तरह, प्रतिपल लोकशक्ति/मत पर ही निर्भर रहना चाहिये और लगभग सारा सचित धन पूरी शक्ति, मितव्यय और अत्यधिक फलदायी ढंग से विनियुक्त करना चाहिये। सुनियोजित ढग से और अच्छे उद्देश्य से विनियुक्त धन कभी व्यर्थ नही जाता। असल मे इस तरह की संस्थाएँ बनेगी ही तब जब कोई बडा उद्देश्य सामने होगा और उस पर प्रबल लोकसम्मति होगी। प्रबल जनसहमति का अर्थ ही यह होगा कि धन का कोई अकाल नही है, 'काम करो और साधन लो'। जब हर बार (साल मे, दो साल मे, तीन साल मे) जनता के सामने जाना पडेगा तब काम किये बिना झोली फैलाने का साहस ही नही होगा। अभी हो यह रहा है कि अत्युत्साह मे सस्थाएँ बन रही है और बाद को बिलकुल रूढ, निर्जीव और परम्परित हो कर ढह रही हैं। (११९/अप्रैल, '८२)

छोटे किन्तु मूलभूत बुनियादी काम

इस समय पोथी पर ध्यान देने की अपेक्षा हमे मैदान पर अधिक ध्यान देना चाहिये। जैनो का खानपान जिस तेजी से गिर रहा है, वह एक भारी चिन्ता का विषय है। वे सारी अभक्ष्य वस्तुएँ, जो हमारी देहरी के बाहर भी बड़ी कठिनाई से खडी हो पाती थी, आज सीना ताने हमारे रसोईघर मे पूरे आत्मविश्वास से साथ आ बैठी है। शराब पीने वाले जैनो की सख्या मे काफी बढत हुई है। मासाहार भी बतौर फैशन होने लगा है। कई जैन इस बहस को बहुत सार्थक मान रहे है कि अडा शाकाहार है, आमिषभोज नही है, जबकि ऐसी बहस मे विषबीज डालने वाले है अडा-व्यापारी। श्रृगार-प्रसाधनो को लेकर जो क्रूरताएँ प्राणि-जगत् के साथ होती है, उन पर भी हमारा ध्यान नही है। साध्य-साधन की शुचिता को लेकर हम पूरी तरह ध्वस्त हो चुके है, अत हमे पहले उन कामो पर सीधे पहुँचना चाहिये जो दीखते छोटे है, किन्तु जो मूलभूत है और जिनका बहुत बड़ा असर हमारी भावी समाज-रचना पर पड़ने वाला है।

केन्द्रीय जैन ग्रन्थालय और प्रयोगशाला की स्थापना

जैनो की ऐसी केन्द्रीय लायब्रेरी नही हे जहाँ उन सारे ग्रन्थो को पाया जा सके, जो दुनिया या हिन्दुस्तान के किसी भी कौने से प्रकाशित हुए हो। क्या ऐसे किसी ग्रन्थालय की आवश्यकता हम महसूस नही करते ? इसी तरह ऐसी कोई दुकान नही हे, जहाँ से हिन्दुस्तान और हिन्दुस्तान से बाहर प्रकाशित जैन साहित्य को खरीदा जा सके। क्या ऐसे किसी जैन ग्रन्थागार की स्थापना का कोई प्रस्ताव हे ? इसी तरह एक ऐसी जैन प्रयोगशाला की तुरन्त आवश्यकता हे, जो जैनागम मे वर्णित वनस्पति, प्राणि, शब्द, भौतिकी के तथ्य, भूगोल खगोल इत्यादि के सबन्ध मे तथ्याधारित वैज्ञानिक छानबीन कर सके। सारे काम छोड कर भारत के बीचोबीच कही से ऐसे 'कॉम्पलेक्स' की स्थापना अविलम्ब की जानी चाहिये, जो इन सारे कामो को निष्ठापूर्वक सपन्न कर सके और जैन विद्वानो/वैज्ञानिको को सरकारी वतनमानो से कहीं अधिक अच्छे वेतनमान दे कर उनकी सेवाए प्राप्त कर सके। सरकार से भीख माग कर काम चलाने की आदत भी हमे छोड देनी होगी। इतिहास साक्षी हे कि जैनो ने सरकार को दिया हे, सरकार की हेसियत कभी ऐसी नही रही कि वह जेनो को दे, इसलिए विश्वविद्यालयीन ऊचाई के माध्यतिक ख्वाब देखना छोड कर हमे छोटे-छोटे मोर्चे पर जाना चाहिये और उन्हे पूरी क्षमता से निपटाना चाहिये। (१२०/मई-जून, '८२)

पूर्वग्रह के कारण सत्य को समझने मे असमर्थ

किसी पूर्व निर्धारित रग मे रगे वस्तुनिष्ठ आँख से देखना होगा, ऐसी आँख से जो देखती है, किन्तु इस देखे हुए को पहले देखे हुए से जोड़ने की भूल नही करती।

माना, एक वैज्ञानिक की तरह सामाजिक स्थितियो का जायजा लेना संभव नहीं है, किन्तु यह तय है कि हम पहले से कुछ माने बिना घटनाओ, तब्दीलियो, वस्तुओ और स्थितियो को देख सकते है और उन्हे एक निष्पक्ष/कल्याणकारी दिशा दे सकते है। क्या हम कभी अपनी आँख मे-से पूर्वग्रह की किरकिरी को निकाल फेकने मे सफल हो सकेगे और समाज तथा व्यक्ति को एक नयी पृष्ठभूमि देने की कोशिश कर पायेगे ? (१२१/जुलाई, '८२)

भूगोल जैनदर्शन का मुख्यांश नहीं

भूगोल जैनदर्शन का मुख्यांश नही है, वह एक प्रसग है, जिसे जानने पर हम उस स्थल को जान लेते है, जहाँ हम जन्मजन्मान्तर से भटक रहे है और बहुविध विचलनो के कारण उस बिन्दु तक अपनी पहुँच नही बना पा रहे हैं, जिसे हम मोक्ष कहते है। 'बारह भावना' में एक दोहा आया है चौदह राजु उतग नभ, लोक पुरुष संठान। तामै जीव अनादि तै, भरमत हैं बिन ज्ञान ॥' यह लोक जो इस जीव की लीला-भूमि है, १४ राजू ऊँचा है और अलोकाकाश के बिलकुल बीचोबीच स्थित है। लोक पुरुषाकार है, उस आदमी की तरह जो कवायद मे आराम (स्टेड-एट-ईज) की मुद्रा मे खडा है। लोक मे यह अज्ञानवश भटक रहा है। यदि यह जान पाये कि इसका इस तरह घूमना अन्तहीन/निरुद्देश्य है और इस दुश्चक्र को वह काट सकता है, तो शायद कोई पुरुषार्थ करे। भूगोल/भू-वलय-शास्त्र की, सभवत., सब मे बडी उपयोगिता यही है कि इसके माध्यम से जीव इस अन्तहीन व्यूह को समझ पाने का कोई आधार पा लेता है। (१२२/अगस्त, '८२)

समाज को साफ देखना होगा

जहाँ एक ओर संस्थाओ और विद्वानो की गहन जिम्मेदारी है, वही दूसरी ओर समाज का दायित्व भी अत्यधिक महत्त्व का है। समाज को यह साफ-साफ देख लेना होगा कि मूर्ति, मंदिर, पंचकल्याणक, उत्सव-महोत्सव आदि से धन वचा कर वह उतने ही उत्साह से उसे एक रचनात्मक मोड़ प्रदान कर रहा है। उसे देखना होगा कि जमाने के सारे सदर्भ, उसकी सारी दिशाएँ विलकुल वदल गयी है; अव हमे तदनुसार अपनी कसौटियो मे भी किंचित् परिवर्तन कर लेना होगा। जहाँ तक वने हमे अपनी परम्पराओ को ठोस, और यथार्थ धरातल देने के प्रयत्न करने चाहिये। यदि हम समय के इस महत्त्वपूर्ण मोड पर भी यह सीख पाये कि सपदा, शक्ति, समय, और साहस का कहाँ, क्या, कितना, कैसा उपयोग किया जाए तो निश्चय ही काफी उपलब्ध कर पायेगे। (१२३/सित अक्टू. '८२)

प्रतिमा के प्रताप की प्रखरता

जानें हम कि लौकिकताओ और अलौकिकताओ के अपने-अपने जगत् हैं। श्रीमहावीरजी का यह विग्रह है परम वीतराग, किन्तु लोग उसके नजदीक लौकिक कामनाओ की अभिपूर्ति के लिए आते है। विग्रह भी उनकी इन कामनाओ की पूर्ति से इंकार नही करता। वह अपनी ओर से तो कुछ करता नही, किन्तु उसके प्रताप की प्रखरता कुछ ऐसी होती है कि सब कुछ खुद-ब-खुद हो जाता है। कई लोग करते कुछ नही है, किन्तु उनकी अपनी स्थिति कुछ इतनी अद्भुत-अद्वितीय होती है कि सारे काम आपोआप होते जाते है। भगवान् महावीर का यह बिम्ब इतना अद्भुत है कि इसे देखते ही हममे एक नव शक्तिबोध अंगडाई लेने लगता है यानी हमे हमारी शक्तियो का भान होने लगता है, हमारा पुरुषार्थ करवट लेने लगता है। हममे से निराशाएँ दूर होने लगती है और हम आशाओ से सजीव पुँज हो उठते हैं। अचानक ही हमारी अंधियारी राते बीत जाती है और हम एक आश्चर्यजनक/अप्रतिम/अदृप्त पुरुषार्थ - सबेरे का अनुभव करने लगते है, कौन कहता है वीतरागता मे कोई बल-पुरुषार्थ नही है और वह कुछ कर नही करती ? जो लोग यह कहते है कि जैन प्रतिमाएँ मात्र प्रतीक है, उनमे कुछ करने-कराने की शक्ति नही है, अचानक ही गलत रास्ते पर है। जाने हम कि कई बार प्रतीक की शक्ति प्रतीक्य से अधिक होती है। (१२४/नवम्बर, '८२)

विनोबा ने अनासक्ति/भेद-विज्ञान को अपनी मृत्युंजयी साँसों से परिभाषित किया

विनोबा ने सत्य-शोधन ग्रन्थ की बजाय जीवन मे-से किया। उनका आत्मशोधन चारो खूँट हुआ। उन्होंने अपने चिन्तन को किसी एक खूँटी से कभी नही बाँधा। 'गीता' से 'समणसुत्तं' तक की उनकी ज्ञान-यात्रा अत्यन्त प्रेरक है। वस्तुत. उनमें कोई पूर्वाग्रह नही था। वे जन और जगत् दोनों को समझना चाहते थे। जब समझ गये तब मौन हो गये। काया से भी कहा कि वह भी मौन ग्रहण कर ले (उपवास) ताकि वे जिस ओर जाना चाहते है उस ओर बिना किसी शोरगुल के जा सकें। १९७४ मे वे 'राम-हरि' को समर्पित हो गये और १५ नवम्बर १९८२ को प्रात सारे नौ बजे उन्होंने अपनी देह कबीर की इस पंक्ति को जीवन्त करते हुए 'ज्यो की त्यो धरदीनि चदरिया' प्रभु को समर्पित कर दी। जो अर्थ 'समयसार' धोख कर कई लोग नही कर पाये जीवन का, वह उस परम विभूति ने हँसते-मुस्कराते कर दिया। उनका यह शब्दातीत जीवन-भाष्य 'यावच्चन्द्र दिवाकरौ' मानवता के ललाट पर कुंकुम-अक्षत की तरह दमकता रहेगा।

प्रणाम उन्हे, इसलिए प्रणाम, कि उन्होंने मनुष्य की इस देह को गौरवान्वित किया। उसे नया अर्थ दिया और अनासक्ति (जैन शब्दों मे भेद-विज्ञान) को शब्द से बहुत आगे चल कर अपनी मृत्युजयी सॉसो से परिभाषित किया। (१२५/दिसम्बर, '८२)

एक ऑटोरिक्शा चालक ने जैनविद्या के क्षेत्र मे पीएच.डी. की उपाधि (मैसूर विश्वविद्यालय से) हासिल कर हमे पुन एक वार महावीरकालीन रचना-परक और समतामूलक दृष्टि से जोड दिया है और यह ठोस चुनौती अनजाने मे हमारी हथेली पर रख दी है कि जैनधर्म कुछ चुने हुए लोगो की पैतृक संपदा नही है, वह जनसामान्य के जीवन को एक आध्यात्मिक नवोत्थान देने के लिए इस देश के क्षितिज पर हजारो-हजार साल पहले उदित हुआ था, जिसने उसी की भाषा मे धर्म/दर्शन के गूढ तत्त्वो को समझाया, संप्रपित किया।

ये जो बहुत सारे सवाल बार-वार हमारे सामने आ खडे होते है, और जिन्हे हम वार-वार टालते जाते है, अब ऐसे विप्लवी क्षण हमारे सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन की देहलीज पर आ उपस्थित हुए है, कि यदि आगे और इन्हे हम टालते है तो हम उत्तरोत्तर क्षीण होंगे, धुँधले होंगे; और यदि हम बिलकुल निराकुल चित्त से इन सारे प्रश्नो की क्रमश प्राथमिकताओं के आधार पर -समीक्षा करते है तथा इनके कोई तर्कसंगत हल ढूँढते है, तो हम जैन धर्म/दर्शन यानी जैनविद्या के साथ न्याय करते है वर्ना हम खर्च करते रहेंगे/करते आ रहे है, अपनी शक्ति लगाते जाएँगे/लगाते आ रहे है तो सफलताओ की जगह विफलताएँ और निराशाएँ ही हमारे हाथ लगेगी/लगती आयी है। (१२६/जन.-फर., '८३)

गुरुकुल-शिक्षा-पद्धति

आज हम जिस शिक्षा-पद्धति को स्वीकार किये हुए है वह हमारी शिथिलताओ और अप्रामाणिकताओं, दुर्बलताओ और चंचलताओं को वढाती है, जवकि एक स्वतन्त्र राष्ट्र को चाहिये अपने विकास/नवनिर्माण के लिए अविचल संकल्प और प्रामाणिकता, सुस्थिरता और सवलता, और यह सव हमें सहल ही प्राप्त हो सकता है एक सुचिन्तित, समन्वित, सशक्त, सुलझी हुई गुरुकुल-शिक्षा-पद्धति से। (१२७/मार्च, '८३)

ध्यान अनुभव की ओर ले जाने वाला मार्ग

शास्त्र की अपनी सीमा है। वह चेतन वस्तु नहीं है। वह खुद अनुभूति नहीं है, किन्हीं अनुभूतियो का सकलन-मात्र है। अनुभव का रास्ता जटिल/कंटककाकीर्ण भले ही हो. किन्तु असली मार्ग वही है। ध्यान अनुभव की ओर जाने वाला मार्ग है। शास्त्र हममें आस्था को जन्म दे सकता है, श्रद्धा मे हमे सुस्थिर कर सकता है, किन्तु इससे आगे का काम तो हमें खुद ही करना होता है। अध्यात्म का क्षेत्र स्वानुभूति का क्षेत्र है, परत्व/परानुभूति का क्षेत्र वह नहीं है। ध्यान मे आप स्व-पर-विज्ञान की अनुपस्थिति मे एक पग भी आगे नहीं बढ़ सकने। (१२८/अप्रैल, '८३)

ध्यान की प्रक्रिया में अवगाहन

ध्यान की प्रक्रिळा मे अवगाहन के लिए सिर्फ इस समझ की जरूरत है-'मै शरीर नही हूँ, आत्मा हूँ; ये संबन्ध जिनसे मै आठो याम घिरा हूँ, शरीर के है; वस्तुस्वरूप विभाक्तमुक्त है। पुद्गल है, आत्मा आत्मा है, दोनो एक-दूसरे को अतिक्रान्त करने मे असमर्थ है।' बस इतना जाना कि फिर तज्जत्य आध्यात्मिक निमानता मे-से लौटना मुश्किल होगा, वस्तुत. इसके लिए चाहिये जगत् मे रहते हुए भी जगत् के प्रति एक निष्काम/निर्लिप्त दृष्टि, हम रहे इसमे, करे अपना कर्तव्य, किन्तु इसमे लिप्तन हो; उत्तरोत्तर मुक्त होते जाएँ। अपनी निजता को जानने के लिए है ध्यान उस विस्तृत मूल पथ पर वापसी के लिए है योग। (१२९/अप्रैल, '८३)

नवयुवक आगे आकर वास्तविकताओं का विश्लेषण करें

जब तक हम जैन होने की अपनी पहचान को लौटा नही लेते उस प्रक्रिया को कौन रोक सकता है, जो हमे निरन्तर सर्वनाश की ओर दौडाये ले जा रही है ?इस खतरनाक प्रक्रिया के होते पंचकल्याणक, महँगे चातुर्मास, नये मंदिरों के निर्माण,श्वेताम्बर-दिगम्बरो के हिसक, बेसमझ दंगे कोई मतलब नही रखते। क्या हम अनेकान्त और अहिंसा की दुहाई देने वाले लोग अपने मंदिरो के झगडो को बिना कोर्ट-कचहरी, खून-खराबा, मारपीट के नही निपटा सकते ? निपटा तो सकते है, किन्तु कुछ ऐसे धूर्त व्यक्ति हमारे बीच है जो झगडा कराने मे रस ले रहे है, झगडो-के-रसिक-है और अपनी आँख फोड़ कर भी अपशकुन करना चाहते है। ऐसे मे नवयुवको को चाहिये कि वे आगे आये और वास्तविकताओ का विश्लेषण करे, मूल मुद्दो को विवेकपूर्वक समझे और समाज की उस शक्ति/संपदा को बचाये जिसे अन्यत्र जैनत्व की रक्षा मे खर्च किया जा सकता है। (१३०/मई, '८३)

जिनेन्द्र वर्णी का समाधिकरण : चेतना की विजय का अमर काव्य

होते है कई लोग ऐसे जो पार्थिव हो कर भी अ-पार्थिव होते है, वे होते पृथ्वी के/पृथ्वी पर है, किन्तु उनका अजर-अमर कृतित्व क्षेत्र काल को लाँघ जाता है। जिनेन्द्र वर्णी का नाम भले ही आज बहुत सारे लोग न जानते हो, किन्तु वे ऐसी महान् विभूति थे, जिन्होंने देह-मे-वैठ विदेह-की-अभीक्ष्ण-आराधना की, एक पल भी उससे विरत नही हुए। जैन कई है, किन्तु सच्चे जैन (कहे मनुष्य) की इवारत वर्णीजी के इन शव्दो मे ही प्रतिध्वनित है, पूरे वल से झनझना रही हे, 'मैं न श्वेताम्वर हूँ न दिगम्वर, न जैन न अजैन, और न हिन्दू न मुसलमान- मव कुछ हूँ'। यह है 'वर्णी' विशेपण की सार्थकता जिसमे वे वर्ण की सारी संकीर्णताओ को लाँघ गये है। कौन कह सकता है ये शव्द ? किसमे है वह कलेजा जो वर्ण की इम सुदृढ जिर्जीविपा को अपने कर्म और कृतित्व मे वदल सके ? जिनेन्द्र वर्णी ही

वह अप्रतिम व्यक्तित्व हो सकते है, क्योकि उनका शब्द उनका चरित्र था, उनका कथन उनका कर्म था, एक तो वे बोलते ही कम थे, दूसरे जितना बोलते थे उतना नपातुला, सुपरिमित, उपादेय, सारभूत, तर्कसगत, अत्यत प्रासगिक। आगे चल कर, इसलिए, मौन ही उनका वर्ण बन गया ।

इस तरह, इस परम पुरुष को हम सबके असख्य प्रणाम, जिसने क्रमश वर्ण, बुद्धि, विकल्प को अतिक्रान्त किया और भौतिक अतिवादो के बीच तडपती-कराहती इस दुनिया को आत्मा की अमरता का सन्देश दिया। उनका यह समाधिमरण चेतना की विजय का एक ऐसा अमर काव्य है, जो युगयुगो तक मानवता के विशाल भाल पर कुकुम-रोली का तिलक बना दमकता रहेगा। (१३१/जून, '८३)

शिविर ज्ञान और चरित्र के संगम-तीर्थ बनें

हमारी मान्यता है कि जब तक इन शिबिरो को ज्ञान और चरित्र का सगम-तीर्थ नही बनाया जाता, बहुत कारगर कुछ हो पायेगा ऐसी सभावना नही है। इन/ऐसे शिबिरो का सबमे बडा उपयोग यदि कोई हो सकता है तो यह कि हम इनके जरिये समाज को जैनाध्यात्म की सम्यक् जानकारी दे और उसे (समाज को) पूर्वग्रह-मुक्त हो कर जगाये। देखे हम कि व्यक्ति जाग रहा है, और कुल मिला कर उसके जागने मे-से समाज भी अपनी आँखे मल कर बिस्तर छोड़ रहा है। परिवर्तन हो रहा है व्यक्ति मे/समाज मे, किन्तु इन शिबिरो की भूमिका इसलिए गौण हुई लगती है कि शिबिर भीतर कुछ, बाहर कुछ की दुई मे अपनी जिन्दगी काटते है, अत शिबिर का पहला फर्ज है व्यक्ति का समुद्र-मथन तथा उसके भीतर जो जहर, गलतफहमी, मिथ्यात्व, भ्रम समाये हुए है उनका स्वस्थ विरेचन, यानी उसके भीतर एक ऐसी उर्वर भूमि की रचना जो शिबिर मे प्रदत्त प्रशिक्षण को झेल/उगा सके (हाँ, यह तो देख ही लेना होगा कि शिविर दे क्या रहा है ?) हमारे खयाल मे एक स्वस्थ धार्मिक मानसिकता की सरचना इन शिविरो का प्रथम दायित्व होना चाहिये। (१३२/जुलाई, '८३)

भारत मे आहार-विहार धर्म से संयुक्त

हमारा विनम्र मत है कि शाकाहारियो की भावनाओ का सम्मान करते हुए कचहरियो को कम-से-कम ऐसे फैसले नही देने चाहिये, जो उनके धार्मिक विश्वासो को चोट पहुँचाते हो और जो एक बहुत बडे वर्ग के खानपान से संबन्धित हो। भारत एक ऐसा देश है, जहाँ उसका आहार-विहार धर्म के साथ जुडा हुआ है, वस्तुत शाकाहार धर्म से जुदा कोई अस्तित्व नही है, इसलिए बहुत जरूरी है कि एक धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र व्यक्तिगत स्वाधीनताओ का ध्यान रखते हुए इन/ऐसी चीजो का प्रचार न करे। (१३३/अगस्त, '८३)

जैन कोई जाति/संप्रदाय नहीं, वह 'अहिंसा' का पर्याय शब्द

हम यह स्पष्ट करना चाहेगे कि जो लोग अपने नाम के पीछे 'जैन' लगाये है, वे सब जैन नही है; लाखोंलाख लोग जो अपने नाम के साथ 'जैन' नही जोडे हुए हैं, जैन है, क्योंकि 'जैन' कोई जाति या संप्रदाय नही है वह 'अहिसा' का पर्याय शब्द है। वस्तुत· जैन उन अनाम जैनो के कारण जिन्दा है, जिनका चरित्र ऊँचा है और जो प्राणिमात्र के लिए रहम/हमदर्दी से शराबोर है, क्योकि नामधारी जैनो ने तो अपने अनैतिक/असत् आचरण से उसकी कब्र खोदनी शुरू कर ही दी है।

क्या यह क्षण एक ऐसी ऐतिहासिक क्षण नही है कि जब हमे जैन होने की अपनी पहिचान की पुन स्थापना करनी चाहिये ? (१३४/सितम्बर, '८३)

चातुर्मास परम्परा का नवसंस्करण लायें

आश्चर्य इस तथ्य से होता है कि अन्य मासो की तुलना मे चातुर्मास मे जैन मुनि (सब नहीं) अधिक आकुल और व्यस्त हो जाता है स्वयं मे नही अन्यो मे। जो व्यक्ति निराकुलता की खोज मे साधु बना हो, वह ऐसे महीनो में जब कि आत्मोत्थान के लिए सर्वोत्कृष्ट किया जाना चाहिये, और-और बातो मे उलझ जाता हो तो उस पर तरस खाने के अलावा, आप ही बतायें, और क्या किया जा सकता है। प्रशिक्षण-शिबिरो और व्याख्यान-मालाओ की ताईद करते हुए हम जैन समाज के वरिष्ठ साधुओ/वरिष्ठ विद्वानो तथा वरिष्ठ (सचमुच ही) श्रावको से निवेदन करेगे कि वे चातुर्मास-परम्परा को व्यवस्थित करे, उसमे जहाँ कही भी टूट-फूट हुई हो उसकी मरम्मत करे तथा उसका नवसंस्करण लाये जो जैनधर्म/दर्शन की मूलभूत मान्यताओं से संपूर्ण सगति रखता हो। ऐसा करते हुए इस बात का भी ध्यान रखें कि व्यर्थ के प्रदर्शन, अपव्यय इत्यादि को हटाया जाए और उनके स्थान पर तप/स्वाध्याय को स्थापित किया जाए। (१३५/अक्टूबर, '८३)

समाज एक भावनात्मक सत्ता

समाज एक भावनात्मक सत्ता है। वह एक स्निग्ध अनुबन्ध है। 'वह है' इसकी अनुभूति हमें तव होती है, जब हम एक-दूसरे के आन्तरिक लालित्य को पहचानने की शुरूआत करते है। समाज व्यक्ति-इकाइयों का मीजान है; किन्तु व्यक्तियो मे तो इन्तहा वैविध्य है, तो क्या इस विविधता के लम्बे जोड का नाम समाज है ? नही, विविधता के गर्भ मे जो सामंजस्य और समरसता, सरलता और स्निग्धता है; समाज के आविर्भाव का असली कारण वही है। हम चाहते हैं कि साथ-साथ रहे, न केवल मनुज-के-साथ-मनुज, अपितु प्रकृति के हर वजूद के साथ मनुज · पेड-पौधो के साथ, पशु-पक्षियो के साथ, नदी-पहाड़ो के साथ वागवानी और पशु-पक्षी-पालन मनुष्य की इसी स्नेहवृत्ति की परिणतियाँ है।

वास्तव मे सहअस्तित्व की अनुभूति ने ही परिवार-संस्था को जन्म दिया है। शुरू मे मनोविकारो का विस्तार वैसा नही हुआ, किन्तु जैसे-जैसे हम परिस्थितियो के दबाव का अनुभव करते गये, पारस्परिक सम्बन्ध भी जटिल होते गये। आज तो हमारा समाज इस क़दर उलझ गया है विविध आयामो मे, कि हम यदि उसे ठीक से समझने की कोशिश भी करे, तो भी सभव नही है। (१३६-३७/नवम्बर-दिसम्बर, '८३)

तीर्थंकरो के विमल-धवल व्यक्तित्व की छाया में समस्याओं का समाधान

कम-से-कम अन्तिम तीन तीर्थंकरो के विमल-धवल व्यक्तित्व की छाया मे हमारे साधुओ और श्रावको को अपने चरित्र की व्यापक समीक्षा करनी चाहिये और देखना चाहिये कि जिन सत्वो के वे प्रतिनिधि है, जिन आचरण-सत्यो के वे जीवन्त उदाहरण है, उनके आधे सच को ही यदि वे जीवन मे, व्यक्तिगत और सामाजिक प्रकट कर सके तो हमारी बहुत सारी समस्याओ का समाधान हो सकता है। समीक्षा और पुरुषार्थ, एक-के-बाद-एक ईमानदारी-निष्ठा से जब तक हमारे जीवन मे नही जुडेगे, तब तक आशाप्रद कुछ घटित होगा, इसकी आशा कम ही है। (१३८/जनवरी, '८४)

अपने जीवन को मर्यादित/संयत करके हम मनुष्यता को गौरवान्वित कर सकते हैं

इतिहास ने न तो आज तक किसी को बख्शा है और न ही कभी उसने अपनी पुनरावृत्ति को बाधित किया है, वह निर्मम है, अत उसका चक्र अबाध चलता है। आज/इस क्षण वह मौका हमारे सामने है जबकि हम इतिहास से कुछ सबक ले और अपनी मौलिकताओ की रक्षा करे। यदि पश्चिमी सभ्यता के आवेश मे और आधुनिक कहे जाने के उत्साह मे हमने अपनी अस्मिता को गँवा दिया, तो फिर हमे गरीब होने से कोई बचा नही सकेगा। मासाहार, शराबखोरी, बेईमानी, जनजीवन के साथ सरेआम छल इत्यादि को यदि आज हम छोडते है और अपने जीवन को मर्यादित/सयत करते है, तो शायद इस समय इससे बड़ा और कोई कर्तव्य नही हो सकता। ये कुछ ऐसे काम है जिनसे हम भगवान् महावीर को और निखिल मनुष्यता को गौरवान्वित कर सकते है। (१३९/फरवरी, '८४)

धर्म मे-से राजनीति को पूर्णतया निष्कासित कर दिया जाए

कुल मिलाकर आज इस बात की जरूरत है कि राजनीति किचित् धर्ममय हो, तथा धर्म मे-से राजनीति को पूर्णतया निष्कासित कर दिया जाए। विश्वास कीजिये, जैसे-जैसे राजनीति का वर्चस्व धर्म के क्षेत्र मे मद/कम होता जाएगा, वैसे/वैसे धर्म मानव-कल्याण/प्राणिहित की दिशा मे अधिक रफ्तार से कदम उठा सकेगा। वास्तव मे, राजनीति ने धर्म के पाँवो मे सत्ता/अधिकार-लिप्सा की जो स्वर्ण बेडियाँ अनजाने मे डाल दी है, उन्हे जब तक हम सदाचार की तेज छैनी से छिन्न-भिन्न नही कर देते, तब तक किसी सुखद नतीजे की

उम्मीद हमे नही करनी चाहिये। (१४०/मार्च, '८४)

'अनुत्तर योगी' : महज एक उपन्यास नहीं, समस्त भारतीय दर्शनों का नवनीत

असल में, 'अनुत्तर योगी' महज एक उपन्यास नही है, वह है समस्त भारतीय दर्शनो का नवनीत, तुलनात्मक अध्ययन। वह महावीर से अरविन्द-गाधी तक की सपूर्ण कहानी है। है कोई ऐसा जैन विद्वान् जो इस तमाम पृष्ठभूमि को, समूचे परिदृश्य को जानता रहा हो और फिर 'अनुत्तर योगी' की समीक्षा के लिए तैयार हुआ हो ? अत हमारी इस उक्ति को शिलालेख की तरह सुरक्षित माना जाए कि वीरेन्द्रकुमार जैन (अब स्वर्गीय) ने जैन धर्म/दर्शन को कालजयी/मृत्युजयी बनाया है।

भूगोल-खगोल गौण; मुख्य अध्यात्म

भूगोल/खगोल की असली नियामिका-शक्ति आत्मा है। यही ज्ञाता/दृष्टा भी है, किन्तु यह कर्ममलाच्छित है, अत पहले इस पर्दे को हटाना होगा तब कही जैन 'भू/ख' अपनी संपूर्णता मे प्रत्यक्ष हो सकते है।

भक्ति की अद्‌भुत शक्ति

वास्तव मे एक आम आदमी ज्ञान की ओर प्रवृत्त न हो कर भक्ति के रास्ते प्रवृत्त होता है, धर्म मे, उपास्य मे, काव्य, संगीत तथा अन्य कला-माध्यम का सहारा ले कर भक्ति मन को सन्तृप्त करती है और न यही परिपूर्ण शुद्ध कम-से-कम शुभ की ओर वह हमे अवश्य ले जाती है। भक्ति की इस अद्‌भुत शक्ति के द्वारा हम दुर्लभ मानव-जीवन को सार्थक कर सकते है। (१४१/मार्च, '८४)

उपाधियाँ/पुरस्कार

विगत दो दशकों मे जहॉ एक ओर मानवीय मूल्यो मे अप्रत्याशित गिरावट आयी है, चारो ओर हिसा और क्रूरता की जहरीली हवा बनी है, वही दूसरी ओर अध्यात्म /धर्म के क्षेत्र मे एक अन्य प्रकार की आबोहवा कायम हुई है। लोगो का ध्यान धर्माचरण की ओर कम; समारोहो, पुरस्कारो और उपाधियों की ओर अधिक गया है। उपाधियॉ जब श्रावको तक सीमित थी, तब वे सह्य थीं, किन्तु जब उनकी सरहद मे साधु भी आ गये -आने लगे तब लगा कि इस मनहूस/बोझिल स्थिति की स्पष्ट समीक्षा की जानी चाहिये बगैर यह सोचे कि कौन बुरा मानेगा और कौन भला।

जब कोई मुनि/साधु/साध्वी अपने नाम के आगे या पीछे यह या वह डिग्री समाज द्वारा/किसी विश्वविद्यालय द्वारा प्रदत्त जोडता है तब उसके व्यक्तित्व ही नही बल्कि अस्तित्व पर भी प्रश्नचिह्न लग जाता है। हमें विश्वास है, हमारे साधु जैनधर्म की मुमूर्ष

मौलिकताओ/उज्ज्वलताओं पर ध्यान देंगे और अपने साधना के अमृत से उन्हे पुनरुज्जीवित करने मे कोई कोरकसर उठा नही रखेगे।

उपाधियों के समानान्तर ही पुरस्कारों का दुर्भाग्यपूर्ण सिलसिला समाज मे चल पड़ा है। माना, जो पुरस्कार पहले से स्थापित हैं और जिनके मानक एक लम्बे समय से पकते/निर्धारित होते रहे है उन्हे चलने दे , किन्तु विना सोच-विचार के हम पुरस्कार स्थापित करे, जिन्हे जिसे दिया जाए वह नकार दे तो यह पुनरीक्षण कर लेना होगा कि संबन्धित पुरस्कार की स्थापना मे या तो कहीं कोई भूल हुई है, या जिस क्षेत्र मे वह कायम किया गया है, उस इलाके मे शायद उसकी जरूरत नही थी।

पुरस्कार मे रचनात्मक प्रवृत्ति सम्मान-स्वरूप भेंट में दे सकते हैं

यदि एक लाख का कोई पुरस्कार दिया ही जाना है तो उसकी और शक्लें भी हो सकती है। क्या हम वित्त न दे कर कुछ और दे सकते है ? दे सकते है। असल मे ऐसे पुरस्कारो का स्वरूप अन्य पुरस्कारो/पारितोषिको/ इनामो की अपेक्षा कुछ भिन्न और महत्त्वपूर्ण होना चाहिये। हम ऐसे मनीषियो को कोई रचनात्मक प्रवृत्ति सम्मान-स्वरूप भेट मे दे सकते है।

हमे विश्वास है, जैन संस्थाएँ/सस्थान पुरस्कार/उपाधि देते समय हमारी इस अकिचन राय का ध्यान अवश्य रखेंगे ताकि हम जमाने को एक ऐसी करवट दे सके जो श्रमण/भारतीय सस्कृति के अनुरूप हो। (१४२/अप्रैल, '८४)

'जैन बोधक' . १८८४ से १९८४

क्या १०० वे वर्ष मे 'जैन बोधक' अपने उन पराक्रमी सपादको को कोई क्रान्तिनिष्ठ श्रद्धांजलि अर्पित करने का प्रयत्न नही करेगा ?

जो है उसका वैसा होना

भगवान् महावीर का विश्वास था 'है' मे, 'था' या 'गा' में नहीं , 'था' और 'गा' को गलाने मे ही उनकी निजता उदघाटित हुई। 'था' को वे क्रमश. अनुपस्थित करते चले गये और 'गा' को 'है' के निकट पहुँचने से पहले ही उन्होंने फूँक दिया। (१४३/अप्रैल, '८४)

विरासत मे : कल की सामान्य/साधु-पीढ़ी को

हम विरासत मे आगामी कल की पीढ़ी को किताब और खिताब दे रहे है, किन्तु उसके साथ चरित्र नही दे रहे है। याद रखिये अक्षर के साथ जब तक हम आचरण उसे नहीं देंगे, वह आगे नहीं बढ़ेगी। समीक्षा करेंगे तो पायेंगे हम अलग-अलग हैसियतो मे आने वाली पीढ़ी को अलग-अलग किस्म के उत्तराधिकार सौंप रहे है।

जैसे-जैसे वैज्ञानिक साधन-सुविधाएँ बढ़ती जा रही है, हमारे साधु आधुनिकता

परिग्रह-लिप्त होते जा रहे है । सामाजिक उपाधियाँ पाना, प्रकाशनो मे धन का अपव्यय करना, प्रचार-प्रसार के माध्यमो के बारे मे चिन्तित रहना, जमीन-जायदाद की फ़िक्र करना - क्या यह सब हमारी अपरिग्रही मुनि-परम्परा को शोभा देता है ? क्या आने वाली साधु पीढी को यही सब विरासत मे मिलने जा रहा है ? क्या वे 'उत्तराध्ययन', 'दशवैकालिक', 'प्रवचनसार', 'मोक्ष-शास्त्र' इत्यादि के कोई संशोधित परिवद्धित / टू-डेट संस्करण अगामी साधु-परम्परा को विरासत मे देने जा रहे है ?

क्या हम टूटना-फूटना, असंयुक्तता और विसंगतियो का वारसा/ रिक्थ आगामी कल को उपहार मे देगे ? हम समझते है कि हमे इन सारे तथ्यो का भलीभाँति परीक्षण अवश्य कर लेना चाहिये। (१४४/मई, '८४)

'नाम-के-लिए-अहिंसक'

अहिसा का नारा लगाने वाले हम सिर्फ अब 'नाम-के-लिए-अहिंसक' है, हमारे भीतर पता नही कितने कत्लख़ाने है, जिनकी जानकारी न हमे ठीक से है और न ही दुनिया को। (१४५/जून, '८४)

वर्षावास/वर्षायोग/चातुर्मास

वर्षावास के पहले का यह ऐसा महीना होता है जब चतुर्विध संघ अपनी भीतर साल-सँभाल, खोज-खबर (एक्सप्लोरिग द इनर वर्ल्ड) या अपने अन्तजगत् की टूटफूट या नवनिर्मिति की ओर ध्यान देता है।

वर्षावास, जिसे वर्षायोग और चातुर्मास कहकर भी जाना जाता है, सामाजिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से भी महत्त्व के होते है । इन महीनो की सबमे बड़ी विशेषता यह होती है कि साधु और गृहस्थ एक-दूसरे के आमने-सामने आ जाते है और एक-दूसरे का सूक्ष्मग्राही निरीक्षण कर पाते है। साधु, यदि चाहे तो इस अवधि मे समाज को एक स्वस्थ दिशादृष्टि दे सकता है, और गृहस्थ यदि चाहे तो यह देख सकता है कि साधु अपनी निर्धारित आचार-संहिता का समुचित अनुपालन कर रहा है या नही। इस तरह दोनो एक-दूसरे के अंकुश/अनुशासन बन सकते है, और एक-दूसरे के निमित्त ऐसी नियामिका-शक्ति बन सकते है, जो दोनो को ही सम्यक्त्व/पूर्णशुद्धि की ओर ले जा सकती है। (१४६/जुलाई, '८४)

अहिंसा : अचूक/अविचल/अमर शक्ति

गौतम बुद्ध/वर्द्धमान महावीर ने अहिसा के सूक्ष्मतर विज्ञान को विकसित किया और उसकी अमोघ/अपराजिता-शक्ति को न सिर्फ शब्दो मे पेश किया अपितु जीवन मे-से सारे विश्व के सम्मुख प्रकट किया। हमारे संतों ने/गाधीजी और विनोबाजी ने भी उन्ही पदचिह्नो

पर चल कर अहिसा को व्यक्ति के जीवन से उठा कर लोक जीवन मे प्रतिष्ठित किया और वताया कि वह कोई जड/निष्प्राण शक्ति नही है, अपितु एक ऐसी अचूक/अविचल/अमर शक्ति है जो क्रूरतम/बर्बर व्यक्ति/मुल्क तक को जड़-मूल से बदल सकती है।

पर्युषण : आत्मवैभव के उद्‌घाटन/उत्थान का महत् पर्व

पर्युषण आत्मवैभव के उद्‌घाटन/उत्थान का महत् पर्व है, जिसे आज या दस दिन के वहाने पूरे जीवन मे सुस्थिर करने का प्रयत्न करना चाहिये। वस्तु-स्वातन्त्र्य के दर्शन को भलीभाँति समझ कर अनासक्त होना पर्युषण की सफल सपन्नता की स्वस्थ मन स्थिति है। पर्युषण एक ऐसा ज्ञान-सत्र है, जिसके अन्त मे मैत्री के विशुद्ध अनुबन्ध पर सारी दुश्मनियाँ हस्ताक्षर कर सकती है। (१४८/सितम्बर, '८४)

शास्त्र-मर्म को समझने का प्रयत्न करें

हम चाहते है कि समाज शब्द/किताव को छोड कर सीधा ज़िन्दगी पर आये। वह परम्परित ढाँचे को माने, किन्तु भाषामुक्त हो कर वह अपने शास्त्र-मर्म को समझने का प्रयत्न करे। या तो वह प्राकृत का प्राथमिक अध्ययन करे, उसे प्रथमत सीखे, या फिर आवश्यको को जो उसके रोजमर्रा के जीवन से संबन्धित है, आधुनिक भारतीय भापाओ मे सरल अनुवाद के माध्यम से जाने। जैन धर्म/दर्शन/साधना के लिए सही समझ विकसित करे और शब्द-से-आगे आ कर परमार्थ मे प्रवेश करे तथा उन सारी प्रक्रियाओ को, जो अन्धी परम्पराओ, निर्जीव रूढ़ियो, कर्मकाण्डी मन्दिरो, तथा जड शास्त्रो से जुड कर निष्प्रभ/निष्प्राण हो गयी है, पुनरुज्जीवित तथा प्रभावी वनाये। (१४९/अक्टू -नव , '८४)

प्रतिक्रमण द्वारा चौकसी

प्रतिक्रमण द्वारा प्रतिपल यह देखे कि हमारे आचरण का ऐसा कौन-सा हिस्सा है जो खुद के, अन्यो के लिए घातक सिद्ध हुआ है और उसे किस तरह मिथ्या/निर्बीज किया जा सकता है। प्रतिक्रमण-द्वारा हम स्वयं पर तो चौकसी रखते ही है, सावधान रहने पर उस माल को भी वरामद कर लेते है जिसे अन्दर/वाहर के दैत्य-दस्तु (हिसा, असत्य, चोरी अपरिग्रह, अब्रह्म आदि) अपहरण कर चुके थे। (१५०/दिसम्बर, '८४)

सामायिक · सफल जीवन-कला

ऐसा जीना कि जो खुद के लिए सुखद और दूसरो के लिए मिसाल साबित हो मुश्किल जरूर है, किन्तु असभव विलकुल नही है। प्रश्न वस्तुत दृढ़ सकल्प तथा तदनुरूप आचर का है। सामायिक एक निष्कलक, निरतिचार, जीवन जीने की अनुभूत/सफल क[illegible] है (१५१/जनवरी '८५)

शुरू करें : रसोईघर और बैठकखाने से

प्रबुद्ध जैन पूरी निर्भीकता से आगे आये और विकासशील सदर्भ मे जैनधर्म की वैज्ञानिकताओ को पुन· स्थापित करें, उनका अध्ययन करें, और जैन आचरण को, जो प्रदर्शनों और आपसी लड़ाई-झगडो में बुरी तरह उलझ गया है, उबारे। उसे अंधी और अर्थ-हीन परम्पराओ के कैदखाने से मुक्त करे तथा दुनिया के सामने उसकी एक समुज्ज्वल छबि प्रस्तुत करे; शर्त सिर्फ यह है कि हमारा यह मिशन पूरे समर्पण और पूरी ईमानदारी के साथ खुद से, किचन (रसोईघर) से और ड्राइंग रूम (बैठकखाने) से शुरू हो। हमे आशा करनी चाहिये कि इन तमाम समारोहो के आयोजक (गृहस्थ/साधु) सारी परिस्थिति का सावधान अवलोकन करेंगे और देखेगे कि समाज की एक-एक पाई का स्वस्थ/बाजिव इस्तेमाल हो रहा है। (१५२/फरवरी, '८५)

श्रावक का सीधा अर्थ

सारी चुनौतियो/सवालो के बीच परम्परा से सीधा अर्थ श्रावक का जो हमारे सामने आता है वह है ऐसा नागरिक जो दूसरों की असुविधाओं/कष्टों का उतना ही ख्याल रखता है जितना वह अपने स्वयं की असुविधाओ/कष्टो का।

व्यक्ति-पर-आधारित क्रान्ति

अब जो भी क्रान्ति या परिवर्तन आयेगा वह 'व्यक्ति-पर-आधारित' होगा, यानी हमे दीया चौराहे पर जलाने से पहले अपने चूल्हे के करीब उसे जलाना होगा, द्वार-देहरी पर उसे रखना, प्रज्वलित करना होगा। क्या हम अब भी चौराहे की जगह अपने घर से अँधियारे को दूर करने की कोशिश नही करेंगे ? क्या हम इस मर्म को कभी समझ पायेगे कि व्यक्तियो से समूह बनता है, अत अपना काम वही से शुरू करे ? (१५३/मार्च, '८५)

अहिंसा 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' की जीवन्त प्रतिनिधि

भारतीय संस्कृति सदा से ही अहिंसक जीवन-शैली मे आस्था रखती आयी है। अहिसा हमारी माँ है। अहिसा ने हमे सात्त्विक जीवन, परस्पर विश्वास और ज्ञान की अजस्र गंगा दी है। अहिसा प्रकाश का अखूट स्रोत है। वह 'तमसो मा ज्योतिगर्मय' का जीवन्त प्रतिनिधि है। (१५४/मई, '८५)

शाकाहार : संतुलित आहार

शाकाहार ऐसा संतुलित आहार है जो तन, मन अन्ततः धन को भी/एक साथ स्वस्थ रख सकता है। (१५५/जून, '८५)

आहार और वाणी

क्या हम आहार पर विचार करते हुए अपनी वाणी पर विचार नहीं करेगे ? क्योकि कहा गया है कि 'जैसा पीवै पानी वैसी होवे वाणी'। (१५६/जुलाई, '८५)

परम्पराओ की निष्पक्ष समीक्षा करें

जो लोग इतिहास की अनदेखी करते है, और आँखे मूँद कर चलते है, उनके कदम आज नही तो कल किसी गहन खाई मे उतरते ही है, इसलिए यह बहुत आवश्यक है कि हम वक्त रहते परम्पराओ की निष्पक्ष समीक्षा करे, जानें कि क्या हेय और उपादेय, क्या ग्राह्य और क्या अग्राह्य है ? (१५७/अग -सित , '८५)

प्रामाणिकता एक शाश्वत मूल्य

प्रामाणिकता एक शाश्वत मूल्य है। आप चाहे जो करे/कहे लोग आज भी उस दुकान/उस आदमी के पास जाना पसद करते है, जो प्रामाणिक और विश्वसनीय है-अत कसौटी हुई कि जिसका चरित्र प्रामाणिक है वह अमीर हे और जिसका अप्रामाणिक है वह गरीब है। यदि हम इस निकष पर कस कर सामाजिक उपाधियो का वितरण करते है तो ही वे सार्थक है वर्ना एक क्रूर मजाक के अलावा उनका कोई अस्तित्व नही है। आज की आवश्यकता है प्रामाणिक और विश्वसनीय चरित्र, कथनी-करनी मे एकता, प्राणिमात्र की निष्काम सेवा, विश्वशान्ति के लिए प्रदर्शन से हट कर प्रयत्न। (१५८/अक्टूबर, '८५)

आने वाली शताब्दी के लिए तैयारी

'उत्पाद व्यय ध्रौव्य' का हमारा सिद्धान्त इतना सशक्त है कि यदि हम इसे ठीक समझ ले तो हम आज और आने वाले कल के साथ एक स्वस्थ सुलूक कर सकते है। स्थितियाँ पैदा होती है, टिकती है, नष्ट होती है, विनाश के इस मलबे पर दूसरी स्थितियाँ आती हे, टिकती है और लुप्त हो जाती है, किन्तु ऐसा कुछ है जो न तो पैदा ही होता है और न ही नष्ट। वह ध्रुव है। उस ध्रुव की जो कसोटी हे 'आज' की और 'आने वाले कल' की उसे ध्यान मे रख कर हमे आने वाली शताब्दी के लिए तैयारी करनी चाहिये। यह ऐसा संवेदशील क्षण है कि जब यदि हमने इस तरह की कोई तैयारी नहीं की तो हम दुनिया से बुद्धि और आचरण की दौड मे बुरी तरह पिछड जाएँगे। (१५९/नवम्बर, '८५)

कैनवास (पटल) वही रहेगा

कुल मिलाकर ऐसी तब्दीलियाँ होंगी, जिनके कारण जैनधर्म काफी भिन्न हो जाएगा, कैनवास (पटल) वही रहेगा, किन्तु रंग बदल जाएँगे। (१६०/दिसम्बर, '८५)

धर्म/अध्यात्म को नयी स्फूर्ति

आज के हमारे ज्ञान-विज्ञान के स्पंदन-इतने गति से उठ रहे है कि धर्म और अध्यात्म

उसके साथ हमकदम होने से हाँफने लगे हैं, क्या हमें धर्म/अध्यात्म को नयी स्फूर्ति दे कर विज्ञान से आगे नही ले जाना होगा ? (१६१/जनवरी, '८६)

वैज्ञानिक क्षितिज

क्या हमारे जीवशास्त्री/प्राणिविज्ञानी उस सारे वैभव को समकालीन भाषा-शैली मे विश्व के सामने रखने का कोई प्रयत्न करेंगे या समाज ऐसा अनुकूल वातावरण बना पायेगा कि इस तरह का कोई वैज्ञानिक क्षितिज पर आये ? (१६२/फरवरी-मार्च, '८६)

अस्मिता की रक्षा

क्या हम वर्तमान शताब्दी के खत्म होने और इक्कीसवीं सदी के आरभ होने से पहले ऐसा उल्लेखनीय कुछ कर पायेंगे जो हमारी अस्मिता की रक्षा कर सके ? (१६३/फरवरी-मार्च, '८६)

आने वाले वर्षों में

विज्ञान और धर्म विशेषत जैनधर्म के संबन्धो को निर्धारित करने का काम, आने वाले वर्षों मे हमे पूरी मुस्तैदी से कर डालना चाहिये। (१६४/अप्रैल, '८६)

उपवास सेतु है देह और आत्मा के बीच

उपवास ही एक ऐसा साधन है जिसमें हो कर हम स्वयं को खोजने और प्रकट करने की कला को प्राप्त कर सकते है। यही वह कला है जो साधक को भेद-विज्ञान की ओर मोड ले जाती है; यानी शरीर-से-निश्चिन्त चित्त शरीर और आत्मा दोनो दो जुदा अस्तित्व है इस तथ्य की खोज और पुष्टि मे निकल पड़ता है। उपवास देखने मे छोटा लगता है, किन्तु इसकी जो फलश्रुति है वह महान् है। हमे जानना चाहिये कि उपवास सेतु है देह और आत्मा के वीच। देह-संयम के सिरे से चल कर हम विदेह यानी आत्मा-की-निर्मलताओ के सिरे पर इस पुल पर उतर सकते है, किन्तु एक शर्त है हम औपचारिकताओ और प्रदर्शनो से उपवास को वचाये। (१६५/मई, '८६)

रचनात्मक क्रोध

ऐसे मे जव कि 'चलो यहाँ चले', 'चलो वहाँ चलें' के नारे हो आपको 'चलो क्रोध करे' का आह्वान शायद ठीक न लगे, किन्तु हालात कुछ ऐसे है कि यदि इस समय हम कोई सामाजिक या सांस्कृतिक या नैतिक क्रोध करने से चूकते है तो एक विस्फोटक स्थिति वन मकती है। क्या उन विसंगतियो से विकृत समाज के शरीर मे इलाज करना आप पसन्द नही करेंगे ? किन्तु यह मव तभी संभव होगा जव आपके मन मे कोई रचनात्मक क्रोध जन्म ले। (१६६/जून, '८६)

हिंसानन्द बनाम अहिंसानन्द

जब हिंसा अपनी भयावह शक्ल मे आदमी के व्यक्तित्व मे उल्लास का रूप ग्रहण करने लगती है तब उसे 'हिंसानन्द' कहा जाता है। इसके विपरीत है अहिंसानन्द। अहिंसा मे असीम उल्लास का अनुभव करना। वस्तुत. अहिंसा की नहीं जाती, वह होती है, वह स्वभाव है। वह आत्मा का मूल व्यक्तित्व है। (१६७/जुलाई, '८६)

परमाणु खुद अपना आरंभ, मध्य और अन्त

इस सत्य पर विश्वास करना कठिन है कि हमारी इस धरती पर कभी भगवान् महावीर हुए थे, जिनके सामने बैठ कर गौतम ने हजारो प्रश्न किये थे। पूछा था लोक क्या है ? परमाणु क्या है ? इनकी शक्ले/इनकी बनावट कैसी है ? क्या पुद्गल परमाणु को देखा जा सकता है ? क्या तलवार या छुरे की धार पर वह अविच्छिन्न टिक सकता है ? क्या उसका छेदन-भेदन सभव है ? उत्तर था : नहीं परमाणु इन्द्रियग्राह्य नही है, पुद्गल इन्द्रियगम्य है। परमाणु सूक्ष्म है। वह खुद अपना आरभ, खुद मध्य और खुद अन्त है। (१६८/अगसित , '८६)

आँखें हमारे पास है किन्तु जैसा चाहिये वैसा दीख नही पा रहा है

लोकोक्ति है आँखे न हो और दिखायी न दे तो क्षम्य है, आँखे हो और फिर भी ऐसा दिखायी दे जैसा जिनके पास आँखे है उन्हे भी नहीं दिखायी देता तो अद्भुत है, आँखे हो और दिखायी दे तो स्वाभाविक है (आँखे होती ही इसलिए है), किन्तु आँखे हो और फिर भी जैसा दिखायी देना चाहिये वैसा न दिखायी दे तो या तो कोई असाध्य रोग है, या फिर कोई अजूबा है।

आज हम चौथी स्थिति से गुजर रहे है। हालत दयनीय है। आँखे हमारे पास है, किन्तु जैसा चाहिये वैसा दीख नहीं पड़ रहा है-बदकिस्मती से कोशिश भी नहीं है कि सही-सही कुछ दिखायी दे-भरोसा भी नही है कि यदि जैसा है वैसा दिखायी पड़ गया तो तन-मन उसे झेल भी पायेगा ? अर्थात् न यत्न है, न साहस, न पुरुषार्थ।

अशानुभवो पर घमासान बहस छिडी हुई है, परिपूर्णता पर किसी की दृष्टि नही है। महावत के रूप मे युगपुरुष/सत/दृष्टा का इतजार है ताकि ऐसे लोगो को जिनकी आँखे है, किन्तु जिन्हे ठीक-ठीक दीख नहीं पड़ रहा है, दीख पडे वह, जो दीख पडना चाहिये। (१६९/अक्टूबर, '८६)

शास्त्रीय सूत्रों को नये संदर्भों में जीने/जगाने की आवश्यकता

हमे अपने आगम-धन की जुगाली करनी चाहिये और देखना चाहिये कि क्या-क्या

और कहाँ-कहाँ ऐसा और है, जिससे आज हम आँख नही मिला सकते है और ऐसा क्या किया जा सकता है, जिससे फिर आँख मिलाना संभव हो सके ? वास्तव मे इन सारे सूत्रो को नये सदर्भों मे फिर से जीने/जगाने की आवश्यकता से हम मुँह नही मोड सकते। (१७०/नवम्बर, '८६)

धर्म की रक्षा सुदृढ़/संस्कारवान् धार्मिकों/धर्मानुयायियों से

हम सीखे वह करना जो सामयिक हो और जो हमारी उखडती बुनियाद को बचाता हो, उसे सुदृढ करता हो। आज हम ऐसे खतरनाक मोड पर आ खडे हुए है, जहाँ हमारा स्वय का अस्तित्व ही विनाश की डगर पर आ गया है। याद रखिये, धर्म की रक्षा निर्जीव साधनो से नही वरन् सुदृढ/सस्कारवान् धार्मिको/धर्मानुयायियो से होती है। (१७१/दिसम्बर, '८६)

'साधुवाद' को 'साधुधर्म' में बदलने की कीमिया/रसायन आत्मावलोचन

'साधुवाद' को 'साधुधर्म' मे बदलने की सबमे उपयुक्त कीमिया/रसायन यदि कोई हो सकती है तो वह है आत्मालोचन। हमारा निवेदन है कि साधुजन स्वयं में गहरे उतर कर/डूब कर यह देखे कि उन्हे क्या करना चाहिये था और इस क्षण वे क्या कर रहे है ? यदि हमारे साधु भगवन्तो द्वारा पूरी ईमानदारी से यह कार्य सपन्न हुआ तो निश्चय मानिये हम साधु-सस्था को उमे गौरव-गरिमा के शिखर पर, जो सदियो पहले कभी उसे प्राप्त था, पुन लौटता देख सकेगे। (१७२/जनवरी, '८७)

लोकमाता सुमतिवाई

उनके जीवन पर जैनधर्म और दर्शन की जो अमर मुद्रा है उसे हम इन तीन शब्दो मे समझ सकते है-सम्यक्त्व, उत्तमता और सहिष्णुता। जिस तरह जैनधर्म के द्वार भी प्राणिमात्र के लिए खुले हुए है, लोकमाता सुमतिबाई की प्रज्ञा और समवेदना के द्वार भी प्राणिमात्र के लिए आठो पहर खुले हे। कम शब्दो मे हम कहेगे कि उनमे विश्व-मातृत्व और विश्व-भगिनीत्व अपनी चरम तरुणाई पर प्रकट हुए है। संकल्प, समर्पण, सतोप, स्वावलम्बन, चुनौतियो को झेलने का अभूतपूर्व साहस, समत्व इत्यादि कुछ ऐसे शब्द हे जो उनके अद्वितीय व्यक्तित्व की थाह देते हैं। (१७३/जनवरी, '८७)

अध्यात्म से बढ़ कर कोई शास्त्र या कोई विद्या नहीं

जतर-मतर/टोना-टोटका माणव विद्या के अन्तर्गत आते हे। जिसे अंग्रेजी मे विचक्राफ्ट, मैजिक, मॉमरी आदि कहा गया है, वह यही हे। ईसा की प्रथम सदी मे हुए दिगम्बर आचार्य धरसेन ने इसे बालतन्त्र कहा हे, 'पण्डिततन्त्र' नही। जो फर्क बालमरण और पण्डितमरण के बीच है, वही बालतन्त्र और पण्डिततन्त्र बीच हे। सब जानते है कि अध्यात्म से बढ़ कर कोई शास्त्र या कोई विद्या नही है और सम्यक्त्व से बडी कोई तकनीक

नहीं है। जिसके द्वारा हम सारे संदेहो से मुक्त हो कर असंदिग्धताओ के बीच आ खडे होते है, उसका नाम है सम्यक्त्व । सत्य और असत्य, सच और झूठ, सम्यक्त्व और मिथ्यात्व, प्रकाश और अंधकार देह और आत्मा को अलगाने का जो विज्ञान है, जो रसायन-शास्त्र है, उससे बड़ा कोई विज्ञान नही है, संसार के सारे धर्मों का नाभिकेन्द्र यही है। विश्व के समस्त विचारको ने इसी पर जोर दिया है। (१७४/फरवरी-अप्रैल, '८७)

गणवेश की गरिमा

कोशिश की जानी चाहिये कि हम जिस वेश को धारण करे उसकी जिम्मेदारियो, उसकी मर्यादाओ और उसकी गरिमाओ की रक्षा करें और उन्हे अपने आचरण मे प्रकट करे, उन्हे जी कर दिखाये। (१७५/मई, '८७)

न्ति की उपलब्धि

जब तक धार्मिक और वैज्ञानिक दोनो एक-दूसरे की पीडा और कमियो, भूमिकाओ और पृष्ठ-भूमियो को नही समझेंगे, मनुष्य का संतुलित विकास शुरू नही हो पायेगा। कोशिश की जानी चाहिये कि इस सदी के खत्म होने से पहले कि शान्ति, जिसे हम उपलब्ध करना चाह रहे है, महज एक स्वप्न न रह जाए, बल्कि वह एक उपलब्धि हो ताकि मनुष्य को एक बेहतर मनुष्य होने का मौका मिल सके। (१७६/जून, '८७)

आचार्य का व्यक्तित्व/अस्तित्व

कसौटियाँ जो सदियो तक पकती/विकसित होती रही है और जिन्हे अनुभवी आचार्यों ने अपने आचरण और तप से सींचा है। 'आचार्य' क्या होता है ? कैसा होता है ? उसके क्या कर्तव्य बनते है ? उसके क्या दायित्व हैं ? उसे समाज के और अपने शिष्य-समुदाय के साथ कैसा सलूक करना चाहिये ? उसे आत्महित और लोकहित के बीच किस तरह का समायायोजन करना चाहिये ? इत्यादि तथ्यो की सदियो तक समीक्षा हुई है और तब कहीं जा कर वे सुनिश्चित हुए है। इसी समुद्र-मन्थन मे-से प्रकट हुआ है आचार्य का व्यक्तित्व, उसका अस्तित्व। (१७७/जुलाई-अगस्त, '८७)

साधुमार्ग तलवार की प्रखर/दिगम्बर धार

साधुमार्ग साधु ही रख सकता है, किन्तु एकदम सरल और सहज हम उसे नही कह सकते अतः निष्कर्षतः हम कहेंगे कि साधुमार्ग कहने और दीखने को आसान है किन्तु वह है तलवार की प्रखर/दिगम्बर धार। (१७८/सित.-अक्टू., '८७)

'मरने दो' की जगह 'जीने दो' को पुनः स्थापित करना जरूरी

'मरने दो' की जगह 'जीने दो' को पुनः स्थापित करना बहुत जरूरी है पर्यावरण की

हिफाजत के लिए और दुनिया के अमनोअमान के लिए। इसी 'जीने दो' मे-से जन्म ले सकता है विश्व-बन्धुत्व, जन्म ले सकती है वसुधैव कौटुम्बिकता। हमारा मानना है कि यदि दुनिया के तमाम धर्म कमर कस ले कि मनुष्य को बेहतर मनुष्य बनाना है तो इस धरती पर ऐसी कोई ताकत नही है जो उसके इस सकल्प को बाधित कर सके। यह तय है कि धर्म ही इस सत्रस्त विश्व को उबार सकता है; किन्तु धर्म वह जो अन्धविश्वासो और अधी परम्पराओ से मुक्त हो, तर्कसंगत हो, कार्य-कारण पर अवलम्बित हो, सप्रदाय के पागलपन से दूर हो और दुनिया के समस्त जीवधारियो-जिनमे पेड-पौधे भी सम्मिलित हैं-के प्रति कल्याण-कामना रखता हो। (१७९/नवम्बर, '८७)

समाज और धर्म के जल को छानने का साहसपूर्ण पुरुषार्थ

चाहे जो हो हम इस तथ्य से मुँह नही मोड सकते कि आज हम अपनी मौलिकताओ को एक कुली की तरह ढो रहे है, हम अपने माल को दूसरो का माल मान कर उसे एक स्थान से दूसरे स्थान तक ढोने की निर्जीव मजदूरी कर रहे है; या फिर यो कहे कि हम पर कबीर की वह पक्ति पूरी तरह लागू पडती है जिसका आशय है कि जल विपुल है, किन्तु मछली बेचारी प्यासी-की-प्यासी है, सुनिये, आज वह सिर्फ प्यासी ही नही है वरन् गँदले और जहरीले जल मे छटपटा भी रही है, तो क्या ऐसे मे हम समाज और धर्म के जल को छानने का कोई साहसपूर्ण पुरुषार्थ नही करेगे ? (१८०/दिसम्बर, '८७)

अहिंसा रीढ है विश्वधर्म की

अहिंसा जैनधर्म की माँ है। अहिंसा मे-से ही जैनाचार का विकास हुआ है। कोई जैन यदि अहिंसा को छोड कर आगे बढता है, तो वह जैन होने/कहलाने से तत्क्षण रुकता है। जैन होने का मतलब ही यह है कि जैन धर्म और दर्शन मे अहिंसा का जो स्वरूप दिया गया है, उसे मानना, जानना, और जीवन मे-जीवन के हर इलाके मे उसे अभिव्यक्त करना, प्रकट करना। अहिंसा का आदर्श जैनधर्म का मूलभूत आदर्श है। हम उठे, बैठे, जागे, सोये, खाये, पीये, कोई धधा करे, किन्तु अहिंसा को हम एक पल के लिए भी भुला नही सकते। अहिंसा परम धर्म है। वह साँस है मनुष्य की, मनुष्यता की। वह रीढ है विश्वधर्म की, वह प्राणधारा है प्राकृतिक सतुलन की। उसके बिना सबकुछ डाँवाडोल है। (१८१/जनवरी, '८८)

सावधान नेतृत्व की आवश्यकता

हमें अब ऐसे सावधान नेतृत्व की आवश्यकता है, जो फिजूल की बकवास करने की [illegible] चाले और ध्यान रख कर हमारे मूलभूत सिद्धान्तो की रक्षा करते हुए हमारे अस्तित्व/[illegible] की चिन्ता करे। (१८२/जनवरी, '८८)

जैनाचार्यों की भाषा पूरे देश की भाषा

जैनाचार्यों की भाषा पूरे देश की भाषा थी। वह किसी एक प्रदेश या भू-भाग के लिए नहीं थी। इस सार्वदेशिकता को ध्यान मे ले कर ही हमे जैनागम के भाषिक ढाँचे का अध्ययन, उसका अनुसधान, उसकी समीक्षा, तत्संबन्धी कृतियो का अध्ययन/विश्लेषण, पाठालोचन इत्यादि करना चाहिये। (१८३/मार्च, '८८)

'जैन' का अर्थ जो स्वयं को जीत रहे हैं

शब्द-व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'जैन' शब्द 'जिन' शब्द मे-से विकसित है और 'जिन' शब्द 'जि' धातु से निष्पन्न है, जिसका अर्थ है जीतना या हराना। किसे जीतना, किसे हराना ? स्वय-पर स्वय-की विजय, इन्द्रियो के क्षुद्र लक्ष्यो की पराजय। ऐसी जो महान् विभूतियाँ हुई है, उनके अनुयायी हुए जैन। 'जैन' का अर्थ हुआ वे लोग जो स्वयं को जीत रहे है-स्वयं को असीम कर रहे है-स्वयं को समत्व से अभिन्न कर रहे है-स्वयं को इतना विस्तृत कर रहे है कि सपूर्ण लोक ही जिनमे धड़कने लगा है।

क्या इस कसौटी पर आज हम खरे है ? क्या हम खुद को जीत पा रहे है, या उन तमाम विषमताओ के आगे घुटने टेक रहे है, जो हमारे चारो ओर मँडरा रही है ? (१८४/अप्रैल, '८८)

सामाजिक नियन्त्रण के क्रमश घटने का कारण

सामाजिक नियन्त्रण के न होने का एक कारण युवावर्ग की सामाजिक भागीदारी का निरन्तर घटते जाना भी है। ऐसे बहुत कम मौके आते है जबकि बहुत तर्क-संगत ढंग से हमारा युवावर्ग सामाजिक आयोजनो मे हिस्सेदारी करता है, ज्यादातर तो वह व्यर्थ की टकराहटो से बचने के लिए कोई सुगम रास्ता ढूँढ़ता है। वह नही चाहता कि अपने बुजुर्गों के आमने-सामने हो और व्यर्थ की उलझने खड़ी करे। जब उसे लगता है कि सामाजिक हिस्सेदारी का अर्थ सिर्फ एक छोटे प्रभावशाली गुट की गुलामी है तब वह बड़ी चतुराई/सफाई से घेरे से बाहर आ जाता है और अपने स्वीकृत काम को करने लगता है।

क्रमश लुप्त हुए सामाजिक नियन्त्रण को लौटाने के लिए हमे क्या करना होगा, इस सबन्ध मे काफी गहराई से सोच-विचार होना चाहिये। सभी उम्र के लोग अलग-अलग समूहो मे बैठ कर (फिर एक साथ भी) इस प्रस्ताव की समीक्षा करे कि जो सामाजिक नियन्त्रण किसी समय इतना अधिक महत्त्व का था वही कुछ लोगो की नासमझी के कारण समाप्तप्राय क्यो हो गया, और क्या अब यह सभव है कि उसे फिर उतने ही प्रभाव के साथ लौटाया जा सके ? (१८५/मई, '८८)

विवेकशून्य व्यवहार

यदि समीक्षा करेगे तो पायेंगे कि आज जैन मे काम-धंधे को ले कर विवेक नही रहा है। वे वह सब कर रहे है जो उनके लिए टकसाल सिद्ध हो रहा है-वह कतई नही कर रहे है, जिसमे-से आत्मोन्नयन का कोई निर्मल माध्यम खड़ा होता हो। एक और दुर्भाग्यपूर्ण वृत्ति पनप आयी है- वह यह कि लोग सगोष्ठियो, प्रकाशनो, नयी सस्थाओ की स्थापनाओं, अभिनन्दन/ग्रन्थों के संपादनों/लोकार्पणो, वाचनाओ, पंच कल्याणको इत्यादि के द्वार असलियत/यथार्थ को टाल रहे है। वे उन कडुवी सचाइयो को जानना ही नही चाहते जे उन्हे लगातार पतन की ओर लिये जा रही हैं। (१८६/जून, '८८)

रचनात्मक खालीपन

तय है कि जिस रिक्तता का अनुभव हम आज कर रहे है, वह असल में एक रचनात्मक खालीपन है। इस खालीपन मे-से ही वे सारे लोग प्रकट होगे जिनके हाथो में समाज कं भावी बागडोर जाएगी। ये लोग निश्चय ही दोहरे चरित्र वाले दोगले लोग नही होंगे। इनके साथ संख्यात्मकता की जगह गुणात्मकता जुड़ी होगी। ये लोग जो कहेगे, उसे करेगे और जो करेगे उसे ही शब्द देगे। संभव है ये लोग अमीर न भी हो, किन्तु अखलाख-के धनी यानी चरित्रवान् होगे और जिस दायित्व को ओढ लेगे उसे पूरी निष्ठा से निभायेगे। अ वह क्षण काफी नजदीक है जब दिखावे/ढोग की संस्कृति खत्म होगी और ऐसे मैदान आयेंगे जो ठोस/प्रामाणिक/विश्वसनीय होगे। खाली कुर्सियो पर हमे ऐसे ही लोगो क इंतजार है। (१८७/जुलाई, '८८)

वैचारिक जीर्णोद्धार संवेदनशील और सुकुमार

इस तरह यह देख लेने की जरूरत से हम इंकार नही कर सकते कि हम निराश हों की बजाय इस तथ्य का स्पष्ट विश्लेषण करे कि हम आखिर इस कदर निराश क्यो हुए जा र है ? पता लगाये कि हम कौन थे, कहाँ थे, कैसे थे, और बदले हुए संदर्भ मे हमे क्या हो जान चाहिये, कहाँ होना चाहिये ? वास्तव मे देश-विदेश जहाँ भी हम है, वहाँ हमे अपनी बेलोस समीक्षा करनी चाहिये और जहाँ भी जो क्षति और सांस्कृतिक/नैतिक टूट-फूट हुई है उसकी दृढता के साथ मरम्मत करनी चाहिये। मरम्मत कौन करेगा और उसकी शैली क्या होगी; इस बात पर तो विचार करना ही होगा; किन्तु इससे पहले यह भी समझ लेनां होगा कि यह वैचारिक जीर्णोद्धार-इमारतो और मूर्तियो के जीर्णोद्धार से सर्वथा भिन्न कितना सवेदनशील और सुकुमार है-इतना कि यदि हमने कहीं भी जरा भी कोई भूल की (जैसा कि लगातार करते चले आ रहे है) तो आने वाली पीढियो को इसके भयंकर और अतिविनाशकारी परिणाम भोगने पड सकते है। (१८८/अगस्त, '८८)

लोककल्याणकारी मार्ग अपनाकर स्वस्थ/सुखद पगडंडी पर ला खड़ा करे

इस दूषित वातावरण मे हमे कुछ पल रुक-ठहर कर यह सोचना चाहिये कि जिस रम्य/लोककल्याणकारी मार्ग को छोड कर लोग एक दूषित और खतरो-से-भरी डगर पर ले आये गये है, क्या उन्हे उस डगर से हटा कर पुन. एक स्वस्थ रास्ते पर नही लाया जा सकता ? क्या हम मृतप्राय मानव-विवेक मे फिर से नये प्राण नहीं फूँक सकते ? क्या हम ऐसा कोई रास्ता नही अपना/बना सकते जो हमारी विकृत हो रही मानसिकता को सहारा दे और उसे एक स्वस्थ/सुखद पगडडी पर ला खडा करे ? (१८९/सितम्बर, '८८)

नेतृत्व का निर्मलीकरण

नेतृत्व के निर्मलीकरण का सबमे सरल उपाय यह है कि हम समाज मे बालोत्सवो और बाल-समारोहो की सख्या बढाये और इन्हे एकसूत्र मे बाँध कर विकेन्द्रित रूप मे मनाये। ख्याल रहे, बच्चो के बीच जितना अधिक हम रहेगे, उतने अधिक निर्मल, संवेदनशील, मानवीय, और प्रीतिपूर्ण बनेगे। बच्चे आगामी कल के नागरिक है, अत हम उन्हे सहेजे-सँभाले और बजरिये उनके स्वय सँभले। स्वाभाविकताओ को लौटाने और कृत्रिमताओ/औपचारिकताओ को दूर करने मे बच्चे हमारी जितनी मदद कर सकते है, पूरे जगत् मे शायद कोई और कर नहीं सकता। (१९०/अक्टूबर, '८८)

'मै' को समत्व मे झंकृत करे

'मै' को हम रिझाये नही बल्कि बुझाये। उसकी कशिश को शिथिल करे। यहाँ बुझाने से आशय है उसकी आँच को मदा करे और उसमे-से निजता की शुभ्रता प्रकट होने दे। 'मै' को हम व्यर्थ की प्रतिष्ठा का प्रश्न न बनाये बल्कि उसे सामायिक मे रूपान्तरित करे। उसमे समत्व को झकृत करे ताकि उसकी परिधि चोडी हो और वह निजता को पाने मे हमारी मदद कर सके। (१९१/नवम्बर, '८८)

आम जैन की अस्मिता की रक्षा

स्वाधीनता : अपनी-अपनी

जैनदर्शन परम अर्थ तक पहुँचने के लिए व्यवहार और निश्चत दोनो की यथा-स्थान/यथासमय महत्त्व देता है। वह किसी खास पड़ाव पर नही रुकता बल्कि वह वहाँ पहुँचने का पुरुषार्थ करता है, जहाँ सबकी अपनी-अपनी स्वाधीनताएँ है और सब अबाध एक अपरिसीम आत्मज्ञता और आत्मदर्शन मे तल्लीन है। (१९३/जनवरी, '८९)

रुपये-की-प्रभुता को खत्म करना होगा

रुपये ने अध्यात्म और धर्म के क्षेत्र में एक जहरीली व्यावसायिकता भी खड़ी कर दी है। वे लोग जो कभी अध्यात्म और धर्म के उपदेशक और वेत्ता माने जाते थे, धन-की-छूत के कारण आज उनकी प्रतिभा कुण्ठित हो गयी है और वे रुपये के प्रभाव मे अपनी चौकड़ी भूल गये है। इन पक्तियो के लेखक ने भर-आँख देखा है कि जो आदमी कुछ क्षण पूर्व पूजा मे खड़ा था, वही कुछ क्षण बाद रुपये का जिक्र आने पर ऊपर-से-नीचे तक बदल गया है। देखा यह जा रहा है कि लोग सादगी को तिलांजलि दे कर संपत्ति-के-संग्रह मे लग गये है। ये लोग उस महान् सत्य को भूल गये है कि धर्म की लडाई रुपये से है, वह उसके खिलाफ खडा हुआ था और मुश्किल यह हुई है कि हमने धन को धर्म का स्वामी बना दिया है। हम मान कर चलने लगे है कि धन के बगैर धर्म नही हो सकता/नही रह सकता। सबमे पहला परिवर्तन तो हमें दृष्टिकोण मे करना होगा। हमें रुपये-की-प्रभुता को खत्म करते हुए सेवा और कर्तव्य की मुख्यता को उभारने का प्रयत्न करना चाहिये। (१९४/फरवरी, '८९)

पदों में-से जीवन-का-सारांश

आध्यात्मिक पदो में-से हम जीवन-का-साराश अवश्य निचोड़ेंगे और इस बानगी को आधार बना कर पूरी जैन पद-सपदा के मंथन की प्रेरणा प्राप्त करेंगे। (१९५/मार्च-अप्रैल, '८९)

जीभ-की-दासता अस्वीकार

जैन आहार-विज्ञान मे 'अस्वाद' को शीर्ष महत्त्व दिया गया है। स्वाद मन की निरंकुशता का सूचक है, अस्वाद संयम और आत्मानुशासन का। जो लोग कोई लक्ष्य ले कर अपने कदम उठाये हुए हैं, वे जीभ-की-दासता को स्वीकार नही करते और स्वयं तथा समाज के लिए, उसके कल्याण के लिए, काम करते है, उसके लिए जीते है। (१९६/मई-जून, '८९)

वस्तुनिष्ठ समीक्षा आवश्यक

कॉमन मेन (सामान्य जन) और विशिष्ट जन के बीच जो अन्धा गैप है, सब मे पहले हमे

उनकी वस्तुनिष्ठ समीक्षा करनी चाहिये और फिर इस असंतुलन को दूर करने के कारगर उपाय करने चाहिये। अमीर/भ्रष्ट/सिद्धान्तहीन/स्वर्थी नेतृत्व की जगह जब तक हम सही/सतुलित/स्वच्छ/निष्काम नेतृत्व नहीं लायेंगे, लगातार असंतुलित होते जाएँगे और एक दिन बुरी तरह ध्वस्त हो जाएँगे। (१९७/जुलाई, '८९)

परम, उत्तम, सम्यक्, माध्यस्थ, स्यात् : जैनत्व की पाँच इन्द्रियाँ

यदि हम परम, उत्तम, सम्यक्, माध्यस्थ और स्यात् शब्दो पर अपनी गहन पकड बनाते है तो जैनधर्म की आत्मा तक अपनी पहुँच बना सकते है। जिस तरह अहिसा जैनाचार की जननी है, उसी तरह उक्त शब्द जैनत्व की पाँच इन्द्रियाँ है जिनके माध्यम से हम चख, देख, सुन, सूँघ, छू सकते है। (१९८/अगस्त, '८९)

हमने खेल-के-मैदान की वृत्ति को गँवा दिया

जो हालत खेल के मैदान मे कमर-कसे खिलाडी अथवा नीलाम-स्थल पर खड़े आदमी की होती है, वही आज हमारी है, हमने खेल-के-मैदान की वृत्ति को गँवा दिया है। अब हारने पर हम सिर धुनते हैं, हाय तोवा करते है और जीतने पर भारी उन्माद का अनुभव करते है।

समाज में आज नीलामी-का-माहौल

पूरे समाज मे आज नीलामी-का-माहौल बना हुआ है। हर आदमी के भीतर 'एक, दो, तीन' की अनुगूँज है। यह अनुगूँज भौतिकवादी है। तृष्णाओ-की-मडी मे चारो ओर से 'एक, दो, तीन' की आवाजकशी सुनायी देती है। आदमी पागल-जैसा हुआ है। उसे बाहर-बाहर तो दीख पड़ रहा है, भीतर कुछ है इसकी जानकारी वह लगातार खो रहा है। कहना होगा वह अन्तर्जगत् की सपदाओ को गँवाता जा रहा है।

तृष्णाओ और कृत्रिमताओ की मडी मे हमने अपना सर्वस्व नीलाम कर दिया है। जहाँ तक धर्म का प्रश्न है, हम उसे पहले ही नीलाम कर चुके है। उसकी अन्तरात्मा या मौलिकताएँ तो वर्षो पूर्व नीलाम हो चुकी हैं। अहिंसा को हमने सबसे पहले नीलाम किया। सत्य को नीलाम करते वक्त हमें कोई तकलीफ नहीं हुई। अचौर्य की नीलामी रातोरात कब हुई, कुछ पता ही नहीं चला। अपरिग्रह की नीलामी एक काफी दर्दनाक दुर्घटना है। जहाँ तक ब्रह्मचर्य की नीलामी का प्रश्न है, वह भी एक, दो, तीन के बाद नौ दो ग्यारह की मुद्रा मे है।

क्या हम इन सारी स्थितियो के सदर्भ मे चिन्तित नहीं होंगे और अपने धार्मिक, आध्यात्मिक, नैतिक, सास्कृतिक वैभव को यो ही 'एक, दो, तीन' के हवाले कर देंगे? (१९९/सितम्बर, '८९)

समवसरण : तीर्थंकर-की-साधारण सभा

'समवसरण' इस तथ्य का प्रतीक है कि किस तरह उसमे सामान्यताओ को समायोजित किया गया है। 'समवसरण' का अर्थ क्या है ? जहॉ समान अवसर मिल रहा है मुक्ति की दिशा पाने का वह है समवसरण। कही कोई भेद-भाव नही है। पशु-पक्षियो मे और मनुष्य मे, देव मे और मनुज में- कही कोई भेद नही है। लोग एक-जैसी तीव्रता के साथ फायदा उठाने मे समर्थ न हो, किन्तु भगवान् की इस साधारण सभा मे विशिष्टताओ का जिस तरह साधारणीकरण होता है, वह दृष्टव्य है। मानस्तम्भ इस साधारणीकरण का प्रमुख तेजस्वी औजार है। उसे देख कर या उसके समीपवर्ती हो कर कोई असाधारण या विशिष्ट रहे, यह सभव ही नही है। जो व्यक्ति स्वयं विशिष्ट से सामान्य होने के कारण अतिविशिष्ट हुआ है उसकी सभा साधारण सभा ही हो सकती है। समवसरण की उपयुक्त व्याख्या है 'तीर्थंकर-की-साधारण सभा' जहाँ न कोई विशिष्ट है, और न जहाँ किसी को विशिष्टता की खोज है।

संपूर्ण जैनदर्शन साधारणीकरण की प्रक्रिया पर केन्द्रित

आप आश्चर्य करेगे कि संपूर्ण जैनदर्शन साधारणधर्म की खोज का दर्शन है। किस तरह चिपकी हुई विशिष्टताओ को छील कर फेका जाए- जैनदर्शन/जैन साधना की पृष्ठभूमि पर यही तपश्चर्या विद्यमान है। आत्मा देव, तिर्यंच , नारक, मनुज हो कर विशिष्ट होती है, किन्तु जैसे ही वह इनसे पार निकलती है विशिष्टता के धब्बे उस पर से हट जाते है। उसकी स्वाभाविकता/साधारणता प्रकट हो जाती है। यही साधारणता स्वाभाविकता इस विश्व का परम वैभव है। सपूर्ण जैनदर्शन साधारणीकरण की प्रक्रिया पर केन्द्रित है। (२००/अक्टूबर, '८९)

नीम और नेता

नीम को 'नेता' कहा गया है। वह उन तमाम वनस्पतियों की अगुआई करता है, जो मनुष्य-के-स्वास्थ्य का नेतृत्व करती है। उसमे वे सारे गुण है, जो एक योग्य नेतृत्व मे होने चाहिये। सवाल है कि नीम मे जो है वह क्या कभी हमारे नेताओ मे हो पायेगा ? क्या हमारे तथाकथित नेता अपने ऑगन मे या अगवाडे नीम का कोई बिरवा रोपना पसन्द करेगे, ताकि आते-जाते याद पडे कि हमारा असली गुरु यही है ? (२०१/नवम्बर, '८९)

क्रान्ति का सूत्रधार मध्य/निम्नवित्त जैन

इस क्रान्ति की साझेदारी मे किशोरो/बालको को भी पीछे नही रखा जाना चाहिये। उन्हे भी इसमे शरीक करना चाहिये। हमारी राय में जो क्रान्ति क्षितिज पर ऊग रही है, उसकी हमे समीचीन व्याख्या करनी चाहिये और देखना चाहिये कि उसकी रचनात्मक रूपान्तरता अविकृत, रचनात्मक और लोककल्याणकारी हो। ध्यान रहे, यह वदलाव जो हमारी पलकों-तले खडा हे-अदम्य है, वह आयेगा, आ रहा है-फिर यह हम पर है कि हम उसका

संतुलित उपयोग करे, न करे। इस तथ्य को भी हम समझें कि इस क़दम उठाती क्रान्ति का सूत्रधार मध्य/निम्नवित्त जैन ही है, उच्चवित्त/अमीर जैन नही। (२०२/दिसम्बर, '८९)

चिह्न भेदक विज्ञप्ति

चिह्नो के द्वारा इस बात का पता लगता है कि मूल कहाँ है, कैसा है, और उसका स्वरूप क्या है? ये जो इतने सारे है इनमे-से किसकी क्या विशेषता है, यह बात चिह्न द्वारा ही स्पष्ट होती है। चिह्न भेदक विज्ञप्ति है। उसके द्वारा हम पहचान बनाते है, पहचान वे होते है, किन्तु इसके साथ ही वे चिह्न के बारे में भी काफी कुछ बता जाते है।

तीर्थंकर-चिह्नो की कथा-व्याख्या के संदर्भ मे हमारा यह प्रयास अन्तिम नहीं है, आरम्भिक है। (२०३/जनवरी-फरवरी, '९०)

व्यसन-मुक्त सहज ही समृद्ध

जैनो ने इतिहास मे यह सिद्ध कर दिखाया है कि यदि कोई व्यक्ति या समूह व्यसन-मुक्त है तो वह सहज ही समृद्ध है और यदि कोई व्यक्ति या वर्ग व्यसन-लिप्त है तो वह चाहे जितना कमाता हो, समृद्ध नहीं है। एक सास्कृतिक निष्कर्ष हमारे सामने है कि वे लोग जो व्यसन-मुक्त है, जिनका खानपान निर्मल और अविकृत है, जो शाकाहारी है, जिनका चरित्र प्रामाणिक और विश्वसनीय है-इतने प्रतिभावान् और कुशल हैं कि दुनिया के किसी भी कोने मे उनकी सफलता को सहज ही देखा जा सकता है। क्षेत्र फिर कोई भी हो, कैसा भी हो, यदि एक व्यसन मुक्त जैन के हाथ मे वह है तो हम देखेंगे कि वह उसमे सर्वोत्तम है और अपने प्रतिभा-परचम को सर्वत्र फहरा रहा है।

सत्य, सम्यक्त्व, श्रम की संस्कृति को प्रतिष्ठित करें

और फूँक-फूँक कर पॉव रखना चाहिये। वर्ना अहिसा-की-नींव पर खडा हमारा नैतिक और सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक ढाँचा चरमरा कर चकनाचूर हो जाएगा। कोई खुलासा देने से पहले हमें यह अवश्य देख लेना चाहिये कि हम जो भी कर रहे है उसमें कोई भीतरी टकराहट या अन्तर्विरोध तो नही है ? हमे देख लेना चाहिये कि जिन वस्तुओं का उपयोग आज हमारे धार्मिक/सामाजिक अनुष्ठानों/उत्सवों मे हो रहा है, उनसे तीर्थंकरो की वीतरागता तो घायल नहीं हो रही है ? यदि आहत है, तो निश्चय ही हमे उनके उपयोग से बचना चाहिये और कोशिश करनी चाहिये कि वे पूरी तरह हमारे जीवन से बिदा हो जाएँ।

'जब जागे, तब सबेरा' वाली कहावत रातोंरात नहीं बनी है। इसके पीछे सदियो का बल और अनुभव है। हमे जब भी जिस बिन्दु पर भी, ऐसा लगे कि कोई वस्तु (वरक़ भी) असंगत या अशुद्ध है या उसके निर्माण मे हिंसक साधन प्रयुक्त हैं, हमें तुरन्त उसका उपयोग बन्द कर देना चाहिये। साधुओ का तो यह शीर्ष कर्तव्य है कि वे किसी भी परिस्थिति मे हिंसक साधनों से निर्मित वस्तुओ के उपयोग की अनुमोदना न करे। (२०५/अप्रैल, '९०)

स्व-पर-कल्याणकारी नेतृत्व

यदि हम नेतृत्व को कम-से-कम शब्दों में परिभाषित करें तो वह यूँ होगा कि जो भीतर-बाहर समग्र और संतुलित है वह स्व-पर-कल्याणकारी नेतृत्व है। आज स्व-कल्याणी (आत्म-कल्याणी नही) नेतृत्व तो है, किन्तु स्व-पर-स्वस्तिकर नेतृत्व देश और समाज की मुट्ठी से खिसका हुआ है। (२०६/मई, '९०)

जैन पत्रकारिता : विचारणीय विषय

क्या जैन पत्रकारिता जैसे किसी शब्द-बंध की कोई प्रासंगिकता अथवा सार्थकता है ? जैन पत्रकारिता का आगामी कल क्या होगा ? जैन पत्र-पत्रिकाओ मे सेवारत वैतनिक अथवा अवैतिक (मानद) संपादकों की स्वाधीनता के लिए क्या उपाय किये जाएँ ? क्या इन्हे विचाराभिव्यक्ति की कोई तर्कसंगत आजादी उपलब्ध करायी जा सकती है ? क्या जैन पत्रकारों के लिए कोई आचार-संहित संभव है ? क्या आँधी-की-तरह आगे-बढती सामाजिक क्रान्ति को जैन पत्र-पत्रिकाएँ कोई स्वस्थ दिशा-दृष्टि दे सकती है ? (२०७/मई, '९०)

जैनों का सबसे बड़ा धन जैनत्व

जैनो का सब से बडा धन जैनत्व है, वह जैनत्व जिसने महावीर को महावीर और आदिनाथ को आदिनाथ बनाये रखा, वह जैनत्व जिसने एक समय पूरी दुनिया मे अपनी साख को अनुगुंजित किया था-क्या इस जैनत्व की वापसी हम सिर्फ जन-गणना मे 'जैन'

लिखा कर अथवा महावीर की झूठी जय-जयकार से करेंगे ? ध्यान रहे यह धोखा होगा और हम इस युग के उन तमाम अवसरो से हाथ धो बैठेगे जो अत्यन्त वैज्ञानिक, तर्कसगत, और जागरूक हैं। यदि हमने जैनधर्म की कोई स्वस्थ छवि जैनो के (लोगो के भी) सामने नहीं रखी तो वे उसके प्रति रुष्ट होंगे और उसे अपने भीतर से उखाड फेकेगे। इतिहास के इन द्रवित क्षणो मे हमे हर कदम फूँक-फूँक कर सत्यनिष्ठा के साथ रखना चाहिये ताकि हमारी विश्वसनीयता (प्रामाणिकता) बने और हम जनगणना से सिर्फ दस-वर्ष वाले बालक की तरह नहीं बल्कि एक काल-पुरुष की तरह अपने अस्तित्व की रक्षा कर सके। (२०८/जून, '९०)

जैन नैतिकता की रक्षा अविलम्ब करे

जैन नैतिकता की रक्षा के लिए अब हमे कोई विलम्ब नही करना चाहिये, बल्कि ऐसा कुछ करना चाहिये जिससे समाज-सेवा के क्षेत्र मे, और धार्मिक सस्थानो मे, न्यायोपार्जित धन का निवेश बढे। ऐसा धन, हम, जानते है, चिराग ले कर भी हमे नही मिलेगा, किन्तु हमे कहीं-न-कहीं से तो इसकी शुरूआत करनी ही होगी।

ध्यान रहे कि यदि हम इसी तरह विलम्ब और टालमटूल की नीति पर चलते रहे तो हमारा यह विलम्ब क्रमश अल्पविराम (,) अर्द्धविराम (;) और पूर्णविराम ( ) मे बदल जाएगा और हम प्रश्नचिह्नो-के-बियाबाँ (?????) मे आश्चर्यचकित (!!!) खडे रह जाएँगे, हताश ओर खिन्न। (२०९/जुलाई, '९०)

'केन्द्रीय जैन खाद्य-निर्णय संस्थान' की स्थापना

जहाँ तक खानपान का प्रश्न है, इस सिलसिले मे हमे एक व्यापक वस्तु-सूची तैयार करनी चाहिये। सबसे पहले हमे जैन आहार की शास्त्रीय समीक्षा करनी चाहिये और इस बात का विश्लेषण करना चाहिये कि ऐसे कौन-से खाद्य पदार्थ है जो जैन आहार की दृष्टि से अग्राह्य हो सकते है और ऐसे कौन से पदार्थ है जिन्हे आँख मूँद कर ग्रहण किया जा सकता है। वस्तुत हमे सारे काम छोड कर एक 'केन्द्रीय जैन खाद्य-निर्णय संस्थान' की स्थापना करनी चाहिये और उसके हर शहर मे उपकेन्द्र खोलने चाहिये ताकि [illegible] जैन समाज का सम्यक् मार्गदर्शन कर सके। हमे विश्वास है कि इस दिशा मे [illegible] होगी और हमारे विद्वान, [illegible], साधु, आचार्य [illegible] (२१० [illegible], '९०)

अ-युद्ध/शान्ति का मंगलोच्चार करे

प्राय हम मामूली बातो को भूल जाते है और बडी-बडी बातो पर ध्यान देने लगते है। हम असल जड को भूल जाते है और पत्तो-की-बनावट और उनकी खूबसूरती पर बहस करने लगते है। सच है कि हममे-से निन्यानवे प्रतिशत लोग युद्ध नही चाहते। जब ऐसा है तो फिर युद्ध होते क्यो है? जब बहुसख्य जन युद्ध-विरोधी है तो फिर उन लोगो को जो निर्दोष/बेकसूर है, युद्ध की धधकती भट्टी मे क्यो झोक दिया जाता है? क्या व्यक्ति-की-महत्ता खत्म हो चुकी है, या कहे की वीर-पूजा की वृत्ति फिर से सिर तान रही है? वस्तुत आज आम आदमी की प्रतिष्ठा लगभग समाप्त हो गयी है और कुछ विशिष्ट लोग अपनी खुदगर्जी के लिए उसे गलत नारो के जाल मे फँसा कर उसकी अस्मिता को सकट मे डाल रहे है / डाले हुए है। ऐसे तमाम लोगो और मुल्को को, जो शान्ति को, शान्ति मे भरोसा रखने वालो को युद्ध मे झोक रहे है, इस तथ्य को जानना चाहिये कि जब तक हम मनुष्य के मूल चरित्र मे परिवर्तन नही लायेगे, युद्धो को जड-मूल से उखाड़ फेकना सभव नही हो पायेगा। मनुष्य-के-भीतर-का-मनुष्य असन्तुष्ट है, जब तक हम उसकी देखभाल नही करेगे, उसकी भूख-प्यास को परिभाषित नही करेगे तब तक रण की आशकाओ को स्वप्न मे भी खत्म नही कर पायेगे। ऐसी स्थिति मे शान्ति और मगल, सुख और समृद्धि मे विश्वास रखने वाले लोगो को, जो सख्या मे कम नही है आगे आना चाहिये और जहाँ कहीं भी, जो भी उत्सव, समारोह या आयोजन हो वहाँ अ-युद्ध और शान्ति का मगलोच्चार करना चाहिये।
(२१८ 'जनवरी '९१)

सामूहिक विचार की प्रवृत्ति अत्यन्त सावधानी से उपयोग करे

समाज की आकांक्षा और आवश्यकता को समझे और पिघली हुई धातु को सहज आकृति ग्रहण करने के लिए अनुकूल आबोहवा उपलब्ध करायें।(२१७/मार्च-अप्रैल, '९१)

बुनियादी समस्याओं की पहचान और उनका मूलभूत समाधान

हिसा ने विश्व मे जगह-जगह उपनिवेश कायम कर लिये हैं और हम उन औपनिवेशिक ताकतों के गुलाम हो गये है। हमें अब एक ऐसी निष्काम लडाई जूझनी होगी, जिससे क्रूरता पर करुणा, हिंसा पर अहिसा, अविश्वास पर विश्वास, अनास्था पर आस्था, वैर पर प्रीति, बर्बरता पर मानवता का ध्वज फहरा सके और इन तमाम मानवीय गुणो मे परस्पर रिश्ते बन सकें। वस्तुत· किसी भी तरह हमें बदलाव की प्रक्रिया मे आना है, किसी औपचारिक परिवर्तन के पीछे बावला नही होना है। अब तक हम औपचारिक या सतही परिवर्तन के व्यूहचक्र मे फँसे रहे है, अब हमे बुनियादी समस्याओ को पहचानना है और उनके लिए उपलाक्षणिक नही, बल्कि मूलभूत समाधान ढूँढने है। (२१८/मई, '९१)

सामाजिक परिवर्तन की बुनियाद बनने वाले मुद्दे

हमे आशा है, कुछ साहसी मित्र आगे आयेंगे और हमे बतायेंगे कि ऐसे कौन-से मुद्दे है, जो सामाजिक परिवर्तन की बुनियाद बन सकते है, और ऐसे कौन से लोग है जो किसी भी कारण से द्वार खटखटा रही जीवन-मूल्यगत क्रान्ति के मार्ग को लगातार कंटकाकीर्ण कर रहे है। (२१९/जून, '९१)

'दीक्षा' का अर्थ

'दीक्षा' का अर्थ किसी विशिष्ट लक्ष्य के लिए आत्मसमर्पित होना अथवा किसी विशिष्ट व्यक्तित्व का शिष्यत्व स्वीकार करना है। जैनागम मे भगवती, आर्हती, अथवा जिनेश्वरी दीक्षा को साफ-साफ शब्दों मे समझाया गया है। जैन शास्त्र अनगार जीवन की मर्यादा, पात्रता, कर्तव्य और दायित्व की सयत व्याख्याओं से भरे पडे है। वस्तुत भगवती दीक्षा श्रावक-जीवन-की-उत्कृष्टताओ-के-तट पर खडे हो कर श्रमण जीवन के चरम शिखर तक पहुँचने का एक महत्त्वपूर्ण आरम्भ है। यह यूँ ही नही है, बल्कि एक गहन सिन्धु-मन्थन है। (२२०/जुलाई, '९१)

हमें कुछ ऐसा करना है

जब तक संभव हुआ है हमने अपने दुर्गन्धित घाव को ढाँका है और उसे अधिक सड़ने से बचाया है, किन्तु एक नेतृत्व-विहीन या कीर्ति-लोलुप नेतृत्व वाले समाज या कायर किस्म के नेतृत्ववाले समाज को अधिक समय तक बचाये रखना सभव नही है। प्रश्न है कि क्या पर्युषण के बाद के बहुमूल्य क्षणो मे हम कुछ ऐसा नही कर रहे हैं जो हमारे डूबते/अन्तिम साँस लेते जहाज को बचा सके ? (२२१/अग.-सित., '९१)

वरक एक प्रबल निमित्त है

आज जब हम वरक के उपयोग के बारे मे सोचते हैं, तब हमें लगता है कि वरक मात्र वरक ही नहीं है, उस पर विचार करना समाज के पुनर्निर्माण की प्रक्रिया का ऐतिहासिक सूत्रपात है। वह एक ऐसा मोड है, जिसने हमे अपने सामाजिक और धार्मिक जीवन मे प्रयुक्त वस्तुओ के औचित्य के सबन्ध मे सोचने पर विवश किया है। यह एक प्रबल निमित्त है जिसके जरिये हम समाज के ताने-बाने को दुरुस्त कर सकते है, या उसके जीर्ण-शीर्ण पट को बुन-बदल सकते है। यह एक ऐसा लम्हा है जबकि हमे अपने निष्प्राण जन-जीवन मे फिर से प्राण फूंकने चाहिये। (२२२/अक्टू - नव , '९१)

साध्वी-पीठो की स्थापना

क्या हमारे लिए यह सभव नही है कि हम साध्वियो को उनके दीक्षा-पूर्व जीवन मे समाज-सेवा-की-शिक्षा दे। धार्मिक और आध्यात्मिक अध्ययन-अनुसधान का वातावरण और सुविधाएँ प्रदान करें तथा तन्निमित्त जैन साध्वी-पीठो की स्थापना करें ताकि दीक्षोपरान्त यह साध्वी-समुदाय समाज के लिए प्रकाश-स्तम्भ सिद्ध हो सके ?

साधु-संस्था की ऊर्जा से क्रान्ति

यदि किसी तरह ये दोनो काम सभव हो सके तो विश्वास है कि जैनो के पास साधु-सस्था के रूप मे सामाजिक-सांस्कृतिक-धार्मिक-आध्यात्मिक-नैतिक ऊर्जा है वह विश्व मे एक उल्लेखनीय क्रान्ति घटित कर सकती है और अहिसा की प्रसुप्त शक्ति को जागृत रख सकती है। (२२३/दिसम्बर, '९१)

अहिंसा को निराश नहीं करना चाहिये

हमें विश्वास करना चाहिये कि हमारी देहलीज पर जो क्रान्ति उपस्थित है, खडी है, हमारे मुनि-मनीषी उसकी भाषा को समझेगे और अपने 'सान्निध्य' को एक अपूर्व सार्थकता प्रदान करेगे। (२२५/फरवरी-मार्च, '९२)

तय है कि समाज मे चारो ओर परिवर्तन के लिए एक अपूर्व प्यास जगी हुई है, किन्तु कठिनाई यह है कि हमारा नेतृत्व इस प्यास की गुणवत्ता को पहिचान नही पा रहा है। वह स्थिति को अपनी अयोग्यताओ के कारण टाल रहा है। उसने अपने भीतर स्वार्थों को प्रधान और समाज-के-हितो को गौण कर लिया है। हमे इस विषमता को बदलना होगा, और तदनुसार एक रचनात्मक रणनीति अपनानी होगी। इस रणनीति की तैयारी मे हमे बिना किसी झिझक के युवावर्ग की हिस्सेदारी को निमन्त्रित करना होगा। हमे विश्वास है, इस तरह की हिस्सेदारी काफी ठोस और अभीष्ट फलदायी सिद्ध होगी।

मौन क्रान्ति

परिवर्तन की इस लहर को स्वीकार करने मे हमे कोई सकोच नही होना चाहिये, बल्कि इसकी अगवानी के लिए हमे अपने तमाम धन-साधन आगे ले आने चाहिये ताकि यह मौन क्रान्ति प्रकट हो सके, हमारी विसंगतियो का खात्मा हो सके, और हमारे भीतर जो धर्मांधता है उसे चकनाचूर किया जा सके। वस्तुत हमे एक नये सुदृढ मनोबल / उत्साह के साथ समस्त अनुत्तरित प्रश्नो से ऑख मिलानी चाहिये और मिल-बैठ कर इनके उत्तर तलाशने चाहिये ताकि हमारी सामाजिक चादर पर जो दाग आ गये है-आने लगे है उन्हे हम धो सके और अनागत की शुभ्रता को सुरक्षित कर सके। (२२६/अप्रैल, '९२)

कोई क्रान्ति/रचनात्मक परिवर्तन बिना मूल्य चुकाये नहीं आता

हमे अब एक विखण्डित जीवन जीने की अपेक्षा समग्र और अखण्ड जीवन जीने की जीवन-शैली अपनानी होगी ताकि मूल्य-भ्रशता के इस दुर्भाग्यपूर्ण दौर को हम ठीक से पहिचान सके और किसी संकट-के बज्र बन कर हम पर गिरने से पहले हम कोई ऐसी व्यवस्था कर सके कि आम आदमी मे-से कोई नेतृत्व उभर कर सामने आये जो खामोशी की काली चादर को खींच कर समाज के चेहरे को रोशनी मे उघाडे। किसी भी हालत मे हमे इस शुतुरमुर्गी खामोशी का अन्त करना होगा और समाज के हर व्यक्ति की शक्ति को पहिचान कर उसे किसी उत्पादक तथा रचनात्मक दिशा मे मोडना होगा। इस काम के लिए समाज के हर उम्र और हर हैसियत के आदमी को स्वय आगे आना चाहिये और हर संभव त्याग के लिए अपनी कमर कस लेनी चाहिये। ध्यान रहे कोई क्रान्ति या रचनात्मक परिवर्तन बिना कीमत चुकाये नहीं आता-अभी तक हमने कोई कीमत नही चुकायी है-फिर क्रान्ति कैसी ? (२२७/मई, '९२)

जडो को पानी चाहिये

आज असल मे हमारी स्थिति यह है कि हम पत्ते सीचने मे लगे है और जड़ो को प्यासा रख रहे है। जडे दम तोड़ रही है और पत्ते जश्न मना रहे है। जडो को पानी चाहिये, किन्तु इस मूलभूत मुद्दे पर किसी का ध्यान नही है। हम नही जानते कि यह अन्तर्विरोध कब तक चलने वाला है किन्तु यह तय है कि जो लोग पत्ते सीचने का काम कर रहे है, उनके सामने समाज के 'कॉमन मेन' का कोई भविष्य नही है। हमारा खान-पान और रहन-सहन उजड गया है। हमारी आगामी पीढी पर सब तरह के प्रदूषण मँडरा रहे है और हम है कि व्यतीत परम्पराओ के चन्दन-चर्चन मे लगे है।। (२२८/जून, '९२)

इस सपूर्ण स्थिति का खुला, निर्भीक, अनासक्त जायजा ले

आप बच सकते है, किन्तु आपकी युवा किशोर, और शिशु पीढी को कैसे बचायेगे ? आपने उनकी जन्मघुटी मे जैनाचार की सार्थकताओ को मिश्रित ही नही किया। उन्हे शुरू से यह बताया ही नही कि करुणा और अहिंसा का भी कोई मतलब है और मनुष्य बनाये रखने के लिए धर्म एव व्रत बडी सहायता है। आप तो सिर्फ अपने बेटे या बेटी को एक स्टेटस-पाना स्टेटस-देने के चक्कर मे उसे अहिंसा और करुणा से लगातार दूर फेकते गये है। आपने उसके लिए फीस चुका कर, जगह-जगह दाम चुका कर, टैक्स चुका कर हिंसा/क्रूरता खरीदी है और उसकी मानसिकता को अस्वस्थ बनाया है-ऐसी स्थिति मे अब हमारे सामने कोई राह बची ही नही है।

कोई फैशन नही है ; यह बल्कि इसकी पीठ पर एक सुचिन्तित/सुपरीक्षित, और सुविकसित जीवन-दर्शन है। जैनधर्म/दर्शन को बगैर समझे किसी फिल्म को सिर्फ इसलिए नकार देना कि उसमे दिगम्बर मुनियो की नग्नता प्रदर्शित है, या वह उसका एक हिस्सा है, न तो युक्तियुक्त है और न ही भारत की सांस्कृतिक विरासत से कोई स्पष्ट संगति रखता है। बडे और जिम्मेदार अफसरो को इस तरह का फतवा देने के पहले काफी सोच-विचार कर लेना चाहिये। (२३०/अगस्त, '९२)

रेशम : एक हिंसक उत्पादन

सब जानते है कि रेशम एक हिसक उत्पादन है। इसके उत्पादन मे जो हिसा होती है, वह किसी भी ऐसे व्यक्ति के लिए जो अहिसा और करुणा मे आस्था रखता है, पीडा पहुँचाने वाली है। रेशम अनगिनत जीवो के प्राण रूँध कर उनकी साँस रुद्ध कर, उनका दम घोंट कर तैयार होता है। मनुष्य अपने स्वार्थ, शौक और दिखावे के लिए इन अरबो निरीह जीवो की जाने लेता है। क्या हम इस हिसा पर कोई काबू नही पा सकते ? पा सकते है, बशर्ते यह काम हम खुद अपने से शुरू करे तथा रेशम के इस्तेमाल को संकल्पपूर्वक छोड कर दूसरो के लिए उदाहरण बने। (२३१/सित -अक्टू., '९२)

धर्मनिरपेक्षता नहीं, सर्वधर्मसमभाव

धर्मनिरपेक्षता के इर्द-गिर्द अपरम्पार धुन्ध बनी हुई है। वह घनीभूत कोहरे से घिरी हुई है; इसीलिए महात्मा गाँधी ने अपने एकादश व्रतो मे धर्मनिरपेक्षता की जगह **सर्वधर्मसमभाव** शब्द को दर्ज किया है।

सर्वधर्मसमभाव एक मानवीय शब्द-गुच्छ है। उसमे किसी स्थिति के प्रति उदासीन होना नही है। वह स्वीकृतिमूलक शब्द है। उसके गर्भ मे आदरभाव है। जो है, सबका है, समान है, सपूज्य है, सम्मान्य है। सर्वधर्मसमभाव मे बचाव नही है, स्वीकार है। आज हमे एक-दूसरे को स्वीकार करना है-इस या उस को अस्वीकार नही करना है। धर्मनिरपेक्षता मे भय है कि कही कोई सतुलन न डगमगा जाए, अथवा इसमे धर्म से विमुख, या उसे अमान्य करके चलने की सलाह है। आप ही सोचे क्या धर्म-से-विमुख हो कर यह दुनिया अपनी धुरी पर बनी रह सकती है ? धर्म तो फेफडो की तरह है, जो हमारे अशुद्ध सामाजिक रक्त का निरन्तर निर्मलीकरण करता है। धर्म विद्वेष और हिसा, प्रतिशोध और शत्रुता को कम करता है। उसमे ऐसा कुछ नही है, जिससे निरपेक्ष हुआ जाए। धर्म चाहे जो हो, चाहे जिसका हो- हिसक अथवा भयावह नही हो सकता। उसका सर्वप्रथम आधार है जीवन-के-प्रति-सम्मान, शान्ति, भ्रातृत्व।

वस्तुत हमे चाहिये कि हम 'धर्मनिरपेक्ष' होने की जगह 'धर्मसापेक्ष' बने और देश के

हर नागरिक मे सर्वधर्मसमभाव-की-ज्योति प्रज्वलित करे ताकि उसके निर्मल प्रकाश मे पूरी दुनिया मनुष्यता की दिव्य मुखछवि को देख सके। (२३२/नव.-दिस., '९२)

वक्त का तक़ाज़ा था ...

जब हम वर्ष १९९२ का विहंगावलोकन करते है कि सपूर्ण वर्ष गहन सामाजिक और सांस्कृतिक उथल-पुथल का वर्ष रहा है। भारतीय समाज ने (जैन समाज ने भी) इस वर्ष कई उतार-चढ़ाव झेले है। उसके सामने कई क़रारी चुनौतियाँ आयी है, जिन्हे उसने सहा है, किन्तु दुर्भाग्य से उनके साथ जैसा चौकस/अचूक सलूक होना था, नही हो सका है। वक्त का तक़ाज़ा था कि इस वर्ष सादगी, सत्य, और सम्यक्त्व को अपनाया जाता और पूरी दुनिया को अहिंसा और अनेकान्त की व्यावहारिक (मैदानी) उपयोगिता को बताया जाता, किन्तु हम इस काम को पूरी ताक़त से सपन्न नहीं कर सके। समाज की तथाकथित बड़ी-बड़ी संस्थाएँ और दिग्गज नेता अपनी हवेलियो मे मौन-मूक दर्शक बने पड़े रहे। नेताओ ने वायदे किये और तोड़े। (२३३/जनवरी, '९३)

हमारे शाश्वत जीवन-मूल्य लकवाग्रस्त

मन्दिरों की बढ़ती आबादी

एक पीडादायक परिवर्तन इस अवधि में यह हुआ है कि लोगो की अभिरुचि अन्तर्मुख होने की अपेक्षा बहिर्मुख हुई है। उसने भीतर हुई नैतिक और आध्यात्मिक टूटफूट की मरम्मत पर ध्यान न दे कर, स्थूलताओ और औपचारिकताओ मे मन बहलाने की कोशिश की है, यही कारण है कि मन्दिरों की आवादी तो बढी है, किन्तु उनकी गुणवत्ता का तीव्रतम क्षरण हुआ है। मन्दिरो का स्वरूप और व्यक्तित्व अब वह नही है, जो पहले कभी था, जिस पर हम कभी गर्व कर सकते थे। 'पूर्वमन्दिर' सामाजिक और नैतिक अनुशासन के अत्यन्त प्रभावशाली केन्द्र थे, जहॉ उदीयमान पीढी को मार्गदर्शन मिलता था और उसमे एक 'क्रिएटिव्ह'/तर्कसंगत नैतिक प्यास बनती थी। हर एक मन्दिर कुछ दशक पूर्व एक स्वाध्याय/साधना-तीर्थ होता था।

हमे मन्दिरो की बढती आबादी को देख कर चिन्तित होना चाहिये और मिल-बैठ कर उन्हें चिन्तन, स्वाध्याय, साधना और चारित्र्य से जोडने की कोशिश करनी चाहिये।

सख्या और गुण एक साथ यात्रा नही कर सकते। संख्या-वृद्धि मे जीवन-मूल्यो की बहुधा उपेक्षा हो जाती है, किन्तु जहाँ ध्यान 'क्वालिटी' पर होता है, वहाँ गिनती भले ही कम हो, परन्तु जो भी प्रवर्तित होता है, वह मस्तक को ऊँचा करने वाला होता है। नि संदेह हमे इस तथ्य की ओर ध्यान देना चाहिये कि मन्दिरों की अनावश्यक संख्या न बढे, आबादी के दबाव के अनुपात मे हम अपनी जरूरते पूरी कर सके, ताकि हमारे जीवन की गुणात्मकता को ऊपर उठने का मौका मिले। सुनिश्चित है कि जो प्यास भौतिक साधनो से नही बुझ सकती, उसे यदि मन्दिर नही बुझाते है तो उनका होना, न होना कोई मायने नही रखता। (२३५/मार्च-अप्रैल, '९३)

विज्ञान मनुष्य के अधीन; धन मनुष्य का आज्ञानुवर्ती

सही है कि हम आज जिस वातावरण मे है वह सिर-से-पैर तक विषाक्त है-उसके जहर से हमारी जीवन-शैली प्रभावी हुई है; किन्तु जिन लोगो ने जैनाचार, जैनधर्म, जैनदर्शन, और जैनाध्यात्म को गभीरता से जाना है उन्होंने बढती हुई भौतिकता के आगे घुटने नही टेके है, बल्कि आधुनिकता ने ही उनके चरण छुए है और वह उनकी भावना के अनुरूप उनकी सहयोगिनी बनी है।

ध्यान रहे, मनुष्य विज्ञान का गुलाम नही है, विज्ञान मनुष्य के अधीन है; मनुष्य धन की दासता मे नही है, बल्कि धन मनुष्य का आज्ञानुवर्ती है; तथापि बदकिस्मती से आज तथ्य उलट गये है और हमने धर्म की सत्ता को धन की सत्ता के आगे सर्वथा गौण कर दिया है।

हमने चारो ओर यही देखा है कि धन धर्म पर हावी है और उससे वह सब करवा रहा है,

[illegible] है। दुर्भाग्य से हम जिन्हें धर्म-की-ध्वजा मानते है, वे स्वयं धन की सत्ता के [illegible] हुए है। क्या हम धन की, और धर्म को धर्म की जगह कायम रखने की पहल [illegible] ? (२३६/मई '९३)

आदर्श और व्यवहार में अन्तर

असल मे, इन दिनो, मुश्किल यह हुई है कि हम कागज पर संस्थाओ के लक्ष्य, आदर्श और उद्देश्य ऊँचे रखते है; किन्तु जब मैदान मे आते है तब बुरी तरह हाँफने लगते है। जिन आदर्शो को हम बुलन्द आवाज मे प्रतिपादित करते है उन्ही के साथ जाने-अनजाने जब हम खिलवाड़ करने लगते है, तब स्थिति नियन्त्रण से बाहर निकल जाती है।

जैन सामूहिक विवाह, विधुरो/परित्यक्ताओ के आयोजन का लौकिक स्वरूप [illegible] निर्मित हुआ, किन्तु इनके सांस्कृतिक संरक्षण की ओर किसी का ध्यान नहीं गया। जैन सामूहिक विवाह के लिए यदि कोई जैन विवाह-विधि अथवा संहिता बनायी गयी होती तो [illegible] एक अविस्मरणीय काम होता। कठिनाई यह भी हुई कि आयोजको ने सामूहिक विवाह के आयोजन तो कराये किन्तु दिया-तले अँधेरा रहा। कई आयोजक [illegible] सामूहिक विवाह के समर्थक तो रहे किन्तु जब उनकी अपनी बारी आयी तो [illegible]

पाँच मूलभूत सिद्धान्तो का अनुशासन

आदिनाथ-युग की सुखद पुनरावृत्ति का आधार

शाकाहार और अहिंसा के क्षेत्र मे भी हमें कतिपय व्यावहारिक और ठोस कदम उठाने चाहिये, अर्थात् हमे श्रद्धाभिभूत लाखो-लाख दर्शनार्थियो को उनकी आस्था को फिजूल नही कर देना चाहिये, बल्कि उसे एक रचनात्मक मोड दे कर वर्तमान सदर्भ में आदिनाथ-युग की सुखद पुनरावृत्ति का आधार बनाना चाहिये। (२३९/अगस्त, '९३)

तीर्थयात्रा की सार्थकता

तीर्थयात्रा की सार्थकता प्रतिष्ठोत्सव अथवा पंचकल्याणक तय नहीं करते, बल्कि उसका निर्धारण होता है उन घटनाओ से जो हमारे अन्तर्मन मे घटित होती हैं। स्मरण रहे, जब तक हम रूढियों और अन्धी परम्पराओ से मुक्त नही होगे-उनकी जिद्दी गिरफ्त से नही छूटेंगे, जैनाध्यात्म के मर्म को नही छू पायेगे। (२४०/सित -अक्टू., '९३)

भूलों से सबक लें

किसी बडे काम को शक्ल देने मे भूले होती है, किन्तु सही रास्ता यह है कि हम उन भूलों से सबक ले, और आने वाले समय मे अधिक होशियारी, सजगता, साहस, धैर्य, सूझबूझ, युक्ति और विवेक से काम ले। (२४१/दिस. ९३,-जन.-फर., '९४)

आशा की किरण

हमे विश्वास करना चाहिये कि आशा की यह किरण निराश नही होगी और जिस स्वस्थ मानसिकता की वजह से यह पेशकश हुई है वह समृद्ध होगी तथा पूरे देश का कायाकल्प करेगी। कोशिश होगी कि देश के तमाम हिंसारत कसाइयो का पुनर्वास हो और एक नयी जिन्दगी जीने के लिए आगे आये। (२४२/मार्च-अप्रैल, '९४)

सल्लेखना आत्मघात नहीं

ध्यान देने योग्य है कि जैनधर्म मे सल्लेखना, सथारा (संस्तर से बना शब्द), समाधिमरण, निर्विकल्पता, निराकुल ध्यान, स्वास्थ्य, साम्य, योग-निरोध, तथा शुद्धोपयोग पर्याय शब्द हैं। इन सबके किंचित् विवक्षा-भेद से लगभग समान अर्थ है। सर्वार्थसिद्धि (७-२२-३६३-५) मे साफ कहा गया है कि सल्लेखना आत्मघात नहीं है, क्योकि इसमे प्रमाद का अभाव है। आत्मघात हिसा है, सल्लेखना हिंसा नही हैं। सल्लेखना-को-उपलब्ध जीव में राग आदि नही होते, वहाँ प्रमाद लगभग अनुपस्थित हो जाता है। सल्लेखना के मायने है कषाय का, काय का अप्रमत्त/भलीभाँति लेखन या कृशण। समाधि, सल्लेखना, एवं संस्तार एक-जैसे अर्थ वाले शब्द है।

न ही कोई जीव-हत्या, बल्कि तागा अच्छा निकलता है और अहिसा का परिपालन सभव होता है, किन्तु **अहिंसक तकनीकों का यह दुर्भाग्य रहा है कि उन्हें ठीक से अस्तित्व में आने से पहले ही दम तोड़ देना पड़ा है। न तो अहिंसा में आस्था रखने वाले लोग उनके विकास पर ठीक से ध्यान दे पाते हैं और न ही उन्हें राज्याश्रय प्राप्त होता है।** ऐसे मे जब सरकार कोई अन्य विकल्प तलाश लेती है, या परम्परित तकनीक को ही आश्रय दिये रहती है तो तय है कि बहुत विनम्र और सीमित साधनो मे विकसित ऐसी तकनीके असमय मौत के जबडो मे चली जाती है। 'अहिसा' सिल्क के साथ भी यही हुआ। तकनीक को समुचित आश्रय न मिलने के कारण वह अनाथ रह गयी और आज तक 'प्रदर्शन' की वस्तु है। बदक़िस्मती से इस तकनीक के लिए बुनकरो को प्रशिक्षित भी किया गया था और प्रयास किया गया था कि यह तागा पूरे देश के रेशम-उद्योग का ताना-बाना बनेगा, किन्तु जैन उद्योगपतियो की गफलत और उदासीनता के कारण इसका न तो व्यापक प्रचार-प्रसार हुआ और न की राज्य ने इसकी ओर कोई खास ध्यान ही दिया। आज भी वक्त है कि हम इस तक्नीक को पुनरुज्जीवित करे और 'हिसा सिल्क' के मुकाबले इसे खडा करे। (२४३/ मई, '९४)

मानवीयता आदि मूलभूत मानकों पर टिका अर्थशास्त्र

असल में जहाँ टकसाल का अर्थशास्त्र है, वहाँ हिसा का नग्न ताण्डव न हो, यह असंभव है, किन्तु जहाँ नीति, सस्कृति,धर्म, मानवीयता आदि मूलभूत मानको पर टिका अर्थशास्त्र है, वहाँ अहिसा न हो यह असभव है। हमारा देश विदेशी मुद्रा के लोभ-लालच में फँस गया है। लोभ की जड मे हिसा न हो यह मुश्किल है, वह तो वहाँ होगी ही , ऊपर से उसके साथ दुराचार और अनैतिक आचरण भी होगे। यह सब अटल है। इससे बचा नही जा सकता। हिंसा और विवेक साथ नही चल सकते। जब भी साथ चलेगे, अहिसा और विवेक ही साथ चलेगे। (२४४/जून, '९४)

अहिंसा-प्रधान अर्थतन्त्र

हिसा का अर्थतन्त्र अब गाँवो और ग्रामवासियो पर तरह-तरह की तबाहियाँ/कहर ढाने लगा है। विदेशी मुद्रा की लोभ-लालच ने भी भारत के अहिसाप्रधान अर्थतन्त्र की रीढ को चकनाचूर किया है। (२४५/जुलाई, '९४)

अहिंसक अर्थतन्त्र के सात आधार-सूत्र

अहिसा की नीव पर खडे अर्थतन्त्र के कम-से-कम सात आधार-सूत्र हो सकते है - १. जीवन के प्रति सम्मान; २. शोषण-मुक्त जीवन-शैली; ३ सहअस्तित्व मे घनीभूत आस्था, ४. परस्पर सहयोग का संकल्प, ५. व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक जीवन में सादगी का अनुसरण, ६ अपव्यय पर अंकुश; ७ गुणवत्ता पर सावधान नजर। (२४६/अगस्त, '९४)

[illegible] के अर्थशास्त्र की आत्मा विकेन्द्रीकरण

[illegible] अहिमा के अर्थशास्त्र की आत्मा है। अणुव्रतो मे वैसे पाँचो व्रतो की [illegible] भूमिकाएँ है तथापि अहिमा और अपरिग्रह ऐसे व्रत है, जो व्यक्ति और [illegible] जीवन को निश्चय ही अधिकाधिक निर्विघ्न एव सुख-सम्पन्न वना सकते है।

[illegible] करना चाहिये कि हम जिन गुणो को निजी कह कर अक्सर टाल देते है, [illegible] यदि हम अपने रोजमर्रा के जीवन की बुनियाद बनावे तो अहिमा के अर्थशास्त्र को [illegible] आकृति मिल सकती है। हमे चाहिये कि जिस तरह विनाशकारी शक्तियो ने [illegible] 'ग्लोबलाइज' किया है हम भी अहिमा की हैसियत और ताकत का [illegible] (ग्लोबलाइजेशन) करे और दुनिया को वता दे कि अहिमा की झोली मे [illegible] विरहण भी है जो दुनिया को उजडने, ध्वस्त और बर्बाद होने से बचा [illegible] है। (२४७/सितम्बर, '९४)

भारतीय अर्थतन्त्र की ऊर्जावान् इकाई ग्राम

पडता है कि एक भारतीय का चरित्र अब वैसा नहीं रहा है जैसे पहले कभी था-वह अपग/विकलांग हुआ है। गॉव बर्बाद हुए है। विदेशों के प्रति हमारी पराधीनता बढी है। राजनीति ने मनुष्य के सदाचार को हर देश मे छिन्न-भिन्न किया है। शिक्षा सर्वत्र अपने मौलिक दायित्व से अपदस्थ हुई है। मनुष्यता की मुखछवि धूमिल हुई है। इस तरह कुल मिला कर यदि हम हिसा-नियन्त्रित/प्रेरित विलम्ब से ही सही यदि हम अपनी परम्परित अहिसामूलक अर्थव्यवस्था की ओर लौटते है तो देखेगे कि देश आत्मनिर्भर हुआ है, उसका सार्वजनिक चरित्र ऊँचा उठा है और उसकी खुशहाली वापिस हुई है।

तय है भारत के हिसा-की-ओर-उठते कदम उसे सुख-सुविधाओ की ओर ले जाने की अपेक्षा दुख-दुविधाओ की ओर ही ले जाएँगे। (२५०/जनवरी, '९५)

सरलीकरण की प्रक्रिया का मूलाधार : सबका, सबके द्वारा, सबके लिए

जब-जब हम मुश्किलों को आसानी की ओर झुकाते है, तब-तब कुछ ऐसी कठिनाइयाँ सामने आ खडी होती है, जिनकी हम कल्पना भी नही कर सकते, क्योकि सरलीकरण की प्रक्रिया रूढ/जटिल/पेचीदा स्थितियो को सार्वभौम/लोकसुलभ बनाने की प्रक्रिया है।

किसी भी वस्तु अथवा स्थिति का सरलीकरण उसकी संपर्क-परिधि को विस्तृत करता है। भगवान् महावीर ने, जनभाषा प्राकृत के माध्यम से, तत्कालीन धर्म और दर्शन का सरलीकरण किया। उनके इस युगान्तरकारी कदम ने तत्कालीन 'विशिष्टो' को भी पसोपेश मे डाल दिया, क्योकि 'सिम्पलीफाई' करने का स्पष्ट अर्थ होता है किसी जीर्ण, जर्जर, बदबूदार परम्परा, ग्रन्थ, दुर्विचार, प्रथा अथवा रीति-रिवाज को पारदर्शी बनाना, उसकी गूढ़ताओं पर से पर्दा खिसकाना, उसकी तमाम छटपटाहटों को सार्वजनिक करना और इस तरह कही भी, कुछ भी धूमिल न रहने देना। असल मे सरलीकरण की प्रक्रिया का मूल आधार है -सब का, सबके द्वारा, सब के लिए। (२५१/फरवरी, '९५)

हिंसा में सक्रिय हिस्सेदारी

अजीब बात है कि हिंसा उत्तरोत्तर बढ रही है और हम निश्चिन्त बैठे है; क्रूरता ने अपने रक्त-पिपासु पंजे हमारी अहिसक और करुणामूलक संस्कृति की देह पर गडा दिये है और हम चुप्प है, हम शायद सोच ही नही पा रहे है कि क्या करें और क्या न करे ? असमंजस और दुविधा की यह घडी न सिर्फ खतरनाक है वरन् हमारे संपूर्ण अस्तित्व के लिए एक जबर्दस्त-करारी चुनौती भी है। हमे इसे जवाब देने के लिए तमाम काम छोड कर कमर कस लेनी चाहिये और देखना चाहिये कि हम अपनी अस्तित्व-रक्षा के लिए क्या कुछ कर सकते है।

असल मे हमने हिसा मे सक्रिय हिस्सेदारी के कारण हिसा-अहिसा की पहचान ही खो दी है। अहिसा को हमने सिर्फ एक औपचारिक पूर्ति या शौक़ बना लिया है। वह 'शो-केस'

[illegible] बन गयी है। हम उसका प्रदर्शन तो करते है, किन्तु उसके अर्थ को अपने जीवन मे [illegible] की कोई कोशिश नहीं करते, यह दुर्भाग्य है, गहन चिन्ता का विषय है। ऐसा क्या घटित हुआ है हमारे जीवन मे कि हममे अब ऐसा साहस नहीं रहा है कि हम अहिसा/करुणा [illegible] और [illegible] सके? हिंसा की जो परिभाषा हमारे चिन्तकों ने दी है, हम उससे सौ फीसदी [illegible] हैं, और हमने उससे बचने के लिए कई बहाने, कई गलियाँ और कई 'शॉर्टकट्स' [illegible] लिये है।

आज सब मे पहला काम यह होना चाहिये कि हम विचार की प्रक्रिया को सही डगर पर [illegible] और जो स्थिति हमारे सामने है उसकी निष्पक्ष और अहिंसामूलक समीक्षा करे। ([illegible]/मार्च, '९५)

वर्ष १९९५ को कई शीर्षक दे कर मनाया जा रहा है, जिनमे-से कुछ है- 'शाकाहार वर्ष' ([illegible] वेजीटेरियन कांग्रेस, मद्रास), 'सहिष्णुता वर्ष' (यूनेस्को), 'विनोबा जन्म-शताब्दी वर्ष', 'गांधी का १२५ वां जन्म-जयन्ती वर्ष'।

हम [illegible] है [illegible] इन वर्षों/शीर्षकों की वैचारिक/सांस्कृतिक/सामाजिक/नैतिक [illegible] और इन [illegible] परिणामों की आशा मे परिकल्पित/प्रस्तावित किया गया है।

शाकाहार वर्ष

लिए-बलि-का-बकरा बनाना, भेदभाव की वृत्ति, बहिष्कार, उत्पीडन, धौस-दपट, निष्कासन, अपवर्जन, दमन, और विनाश के रूप मे अभिव्यक्त असहिष्णुताओ और उत्तेजनाओं की तीव्रता को कम करना तथा उन आशंकाओ से जूझना है जो मनुष्य को एक बेहतर मनुष्य बनने/होने से रोकती है। इसका उद्देश्य सार्वजनिक और वैयक्तिक जीवन मे सहिष्णुता को रचनात्मक प्रवेश देना है, ताकि युद्ध, कलह, संघर्ष आदि को टाल कर शान्ति-समृद्धि की संभावनाओ को उत्साहित किया जा सके।

यूनेस्को के इस कदम और इंडियन वेजीटेरियन कांग्रेस के शाकाहार-अभियान में काफी तालमेल है। दोनो का अन्तिम लक्ष्य मनुष्य मे अहिसा को पुनः प्रतिष्ठित करना है।

विनोबा जन्मशताब्दी-वर्ष

विनोबाजी जीवन-भर विषमता, अन्याय, और भेदभाव की समाप्ति के लिए तिल-तिल जूझते/मिटते रहे। उनका भूदान-यज्ञ समाज की विकृत आबोहवा को बदलने का एक बेहद निष्कलक और ईमानदार उपक्रम था। उन्होंने इस आन्दोलन के माध्यम से ऐसे स्वस्थ नैतिक/सामाजिक आधार खडे किये, जिन पर 'नये मनुज' को शक्ल देना आज भी सभव है। उनके 'जय जगत्' के स्लोगन और यूनेस्को के 'सहिष्णुता वर्ष' मे काफी संगति है। संत विनोबा का संपूर्ण जीवन अहिसा की मुखछबि को नयी आभा प्रदान करने मे लगा रहा।

गांधी का १२५ वाँ जयन्ती वर्ष

गांधीजी ने समाज को जो दिया उसका असर पूरी दुनिया पर हुआ। दुनिया के अधिकांश छोटे-बडे मुल्को ने अहिंसा और सत्य की शक्ति को पहिचाना और उन्हे मैदान मे ला कर जिया। आज बदलाव के इन संवेदनशील क्षणो मे हम गाधीजी के पुनरुज्जीवन की आवश्यकता से इंकार नही कर सकते।

अहिंसा का नया अधिष्ठान

हम देख रहे है कि अहिंसा ने अब नया अधिष्ठान ग्रहण कर लिया है। सुखद है कि मनुष्य ने अपनी भूल/अपने जुर्म को समझा है और वह विज्ञान के जनमगलकारी उपयोग की दिशा आगे आने लगा है। इस तरह हम देखते है कि यदि कोशिश करे तो विज्ञान और आधुनिकता का उपयोग हम अहिसा के चेहरे को अधिक तेजस्वी बनाने मे कर सकते है, प्रश्न सिर्फ सक्रियता का है। (२५३/अप्रैल, '९५)

संदर्भ बदले हैं, मौलिकताएँ यथापूर्व हैं

हमारे सामने एक संकट प्राथमिकताओ के निर्धारण का भी है। हम जो भी करना चाहते है, उसका क्रम नही बना पा रहे है। अक्सर हो यह रहा है कि हम एक मुद्दा हाथ मे लेते है और

जैनाचार की मर्यादाओ को समायोजित करने मे हम चूक गये है

सर्वविदित है कि साधु-जीवन की भी मर्यादाएँ/सीमाएँ है, [illegible] साधु [illegible] निगरानी का दायित्व कोई आचार्य और सामाजिक [illegible] मे [illegible] है।

जैनाचार मे ये तमाम मर्यादाएँ परिभाषित/निश्चित/निर्धारित है। [illegible] कोई मतभेद या शंका-संदेह नही है। फर्क इतना हुआ है कि समय बदला है, किन्तु तदनुसार इन्हे परिभाषित या पुनः तय करने या समायोजित करने मे हम चूक गये है। इस ऐतिहासिक प्रमाद/टालमटूल की वजह से सुराख-छिद्र बढ़ते गये है और क्रमशः उन्होने दरार की शक्ल ले ली है। ऐसे मे सम्पूर्ण परिवेश/क्षेत्र एक [illegible] रणभूमि मे बदल गया है। दुर्भाग्य मे हमने अपने हथियार अन्यो को, आक्रमण के लिए, दे दिये है। मीडिया (माध्यम) ने जैनाचार की तमाम शिथिलताओ और उनके पक्ष-विपक्ष मे उठ खड़े हुए तथ्यो को उजागर कर दिया है। अख़बारो ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि कौन लोग किस तम्बू के है और जैन समाज के नेतृत्व मे कितना दमखम है। (२५५/जून, '९५)

हम लौकिकताओ को ले कर अलौकिकताओं को कलंकित कर रहे है

हम देख रहे है कि देश मे हिसा ओर क्रूरता का दौर अपनी खूनी पराकाष्ठा पर है और हम टुच्चे मुद्दो पर महाभारत जूझ रहे है। हमने अपने तीर्थों को तपस्या और साधना की पुनीत-पावन भूमि न बना कर, उन्हे रणभूमियो मे बदल लिया है। होना तो असल मे यह चाहिये कि हम इन धर्मस्थलो को ऐसी तपोभूमियो मे विकसित करे, जहाँ पहुँचते ही शत्रुताएँ शान्त होती हो और प्रेम, सद्भाव, शान्ति, समता, बन्धुत्व, अहिसा, सत्य और अपरिग्रह की निर्मल धाराएँ प्रवाहित हो पडती हो, किन्तु ऐसा हो कहाँ पा रहा हे ? हम लौकिकताओ को ले कर अलौकिकताओ को कलकित कर रहे है। हम इतने नादान/बेभान हुए है कि कदाचित् यह भी नही जानते कि भगवान् महावीर और उनकी शुभ-शालीन परम्परा को गौरवान्वित कैसे किया जा सकता है ? (२५६/जुलाई, '९५)

रमार्थिक क्रोध'

क्रोध जिस तरह व्यक्ति को आता है, ठीक वैसे ही वह समाज को भी आता है, किन्तु सख्ती और सामाजिक गुस्से में किंचित् फर्क है। व्यक्ति स्वार्थी हो सकता है, समाज, यदि साम्प्रदायिक नही है, तो वह स्वार्थी नही होता। असल मे समाज का पारमार्थिक होना उसकी नियति है। यहॉ हम 'पारमार्थिक क्रोध' की बात कर रहे है। हो सकता है, इस तरह के भाषा प्रयोग पर कुछ लोगो को गुस्सा आ जाए और वे कहने लगे कि 'पारमार्थिक क्षमा' तो हो सकती है; किन्तु 'पारमार्थिक क्रोध' या गुस्सा तो कभी संभव ही नही है।

हमारी दृष्टि मे 'पारमार्थिक क्रोध' शताब्दियो बाद क्षितिज पर आता है, और कुछ ऐसा घटित करता है, जिसकी हम कल्पना भी नही कर सकते। ऐसा क्रोध मूलत. बडा उपयोगी होता है। वह समन्तभद्री क्रोध होता है। वह समाज के तलातल को मथ-मरोड डालता है। वास्तव में ऐसा गुस्सा ही समाज का कायाकल्प करने मे समर्थ होता है। (२५७/अगस्त, '९५)

ीसवीं सदी के लिए

एक जनवरी दो हजार एक का सूरज हमारे द्वार पर आज से लगभग पाँच साल बाद दस्तक देगा। उसकी पगध्वनियॉ हमे सुनायी देने लगी है। इन ध्वनियो की बगल मे हिंसा और क्रूरता के नये घातक हिसक तेवर भी दिखायी दे रहे है। क्या हमे इस विषम-विषंभर स्थिति मे अहिसा और करुणा की शक्तियो को पूरी तरह लैस नही कर लेना चाहिये ? हमारी बदक़िस्मती, किन्तु यह है कि हमने अपने चारो ओर जहर-के-कुण्ड देख कर भी अपनी पराजय और भूलो का कोई निष्पक्ष अहवाल तैयार नही किया है। अतीत को, उसके गौरव को, हम लगभग तहस-नहस कर चुके है। उसे विकृत करने का जुर्म भी हमने किया है। इधर वर्तमान को भी न तो हम ठीक से समझ पाये है और न ही उसके साथ कोई रचनात्मक सलूक का हमारा इरादा है। भावी संभावनाओं पर भी हमारी कोई नजर नही है।

क्या हम अगले पाँच सालो के लिए कोई चरणबद्ध परिणाममूलक योजना बनाने की स्थिति मे है ?क्या हम अपने साधनो और अपने सामाजिक पुरुषार्थ को इस तरह कुछ सयोजित कर पायेगे कि इक्कीसवी सदी मे मंगल प्रवेश के ऐतिहासिक क्षणो मे हम दुनिया को अहिंसा, करुणा, और मैत्री का कोई सुखद और अचूक सदेश दे पाये ?

अन्धविश्वासो, फिजूल के जश्नो, समारोहो, महोत्सवो, संगोष्ठियो, सम्मेलनो तथा इसी तरह केअन्य लक्ष्यहीन आयोजनो के दौर वर्ष १९९५ मे अपनी तरुणाई पर रहे है, किन्तु जो परिवर्तन हमारी पलको तले आ खड़ा हुआ है उसकी ओर हमारा कोई ध्यान नही है।

क्या हम आगामी पाँच वर्षों को इस तरह कुछ संयोजित कर पायेंगे-दिसम्बर १९९५; गहन आत्मावलोकन, १९९६-समाज की आकाक्षाओ और आवश्यकताओ का व्यापक

और सुनियोजित आकलन/सर्वेक्षण, १९९७-सर्वेक्षण की पृष्ठभूमि में पंचसाला योजनाओं की रूपरेखा, उनका परीक्षण, उन्हें लागू करने के लिए कुछ पूर्वाभ्यासी दौरों का गठन, १९९८-निर्धारित योजनाओं का परिणाममूलक क्रियान्वयन, भाग-१, १९९९-क्रियान्वित योजनाओं का पुनरवलोकन, शेष का क्रियान्वयन-भाग-२, २०००-पूरे देश में अहिंसक जीवन-शैली का सक्रिय, सार्थक, सर्वांगत विस्तार, २००१-इक्कीसवीं सदी में सार्थक प्रवेश।

हमे चाहिये कि हम इस सपूर्ण आयोजन के क्रियान्वयन के लिए एक सक्षम/ओजस्वी नेतृत्व की खोज करे, उसे आगे लाये, युवाशक्ति को तैयार करे तथा अधिक लिखा-पढ़ी की अपेक्षा पूरी तैयारी और ईमानदारी के साथ मैदान मे आये। इस दिशा मे हमारा पहला कदम यह हो कि हम एक सौ सदस्यीय राष्ट्रीय समिति का गठन करे और किसी भी तरह की औपचारिकता मे उलझे बगैर स्वस्थ और समन्वित मनोबल की निष्काम छाया मे सक्रिय हों। (२५८/अक्टू.-नव , '९५)

जैन धर्मस्थलों का अवदान

जैन धर्मस्थल अर्थात् जैन मन्दिर, चैत्यालय, उपाश्रय इत्यादि- ये जो भी, जहाँ भी, जितने भी है, अधिकाशत कर्मकाण्ड-स्थल हैं। यहाँ भक्ति-भाव तो है, किन्तु आने वाला कल कैसा होगा इसकी फिक्र यहाँ के आयोजको/व्यवस्थापको/पदाधिकारियो को नहीं है। ऐसा नही है कि तमाम सारे धर्मस्थल एक-जैसी पगडडी पर है, कुछ है, जो समाज को दिशा-दृष्टि देने के अपने दायित्व का निर्वाह भी कर रहे हैं, इनका अपना अवदान/अपनी ऐतिहासिक भूमिका है, किन्तु धर्मस्थलो की जितनी सघन आवादी भारत मे है, उसे देखते इनकी भूमिका सीमित और नगण्य है।

तीर्थोंकी एकीकृत/विस्तृत तालिका आवश्यक

रोज़ ही नये सदर्भ क्षितिज पर आ रहे है। वहुराष्ट्रीय कपनियो के आने से कुछ नये खतरे, कुछ आशकाएँ, कुछ अनहोनियाँ सामने आयी है, किन्तु मुश्किल यह है कि हम इनके बारे मे तनिक भी चिन्तित नहीं है। हम ठीक से यह भी नही जानते कि देश मे मन्दिरो, उपाश्रयो तथा इसी तरह के अन्य धर्मस्थलो की कुल सख्या क्या है ? कभी कोई एकीकृत/समन्वित व्यापक/विस्तृत तालिका इस सवन्ध मे आज तक नही वनायी गयी। कुछ वर्गगत प्रयत्न अवश्य हुए, किन्तु इनका जो लाभ मिलना चाहिये, वह शायद नही मिल सका। वस्तुत किसी योजना के लिए सर्वप्रथम एक निष्काम/निष्कलुष/उर्वर/वस्तुनिष्ठ मस्तिष्क की जरूरत होती है। अधिकाशत. जैनो मे वर्गगत प्रयत्न होते रहे है; अत यही कारण है कि समृद्धियो और विपुलताओ मे भी वे दरिद्र होते रहे है।

जैन धर्मस्थल अपनी ऐतिहासिक/धार्मिक भूमिका निभा सकें

हमे यह देखना होगा कि हमारे धर्मस्थल सिर्फ ककरीट के सभार तो नही बन रहे है ? कही हम सिर्फ इमारते खडी कर तीर्थस्थलो को उनकी पारम्परिक गौरव-गरिमा से तो वचित नही कर रहे है ? कही ऐसा तो नही है कि हम उन्हे सैर-सपाटो की जगहे बना रहे है और प्रकृति के सन्निवेश से काट रहे है ? यदि ऐसा कुछ हो रहा है, तो क्रमश· यह बहुत पीडादायी है और अन्तत जैनधर्म की स्वस्थ/स्वच्छ छवि को धूमिल करता है, इसलिए जहाँ तक संभव हो हमे अपने तीर्थस्थलो को ईंट-पत्थर/सीमेट-कंकरीट से नही पाटना है, अपितु उसके आसपास की खुली जमीन को हरा-भरा रखना है, उसकी सीमाओं पर वृक्षराशि लगानी है ताकि प्रकृति की कृपा बनी रहे और वे तपोभूमियो के रूप मे विकसित हो सके। हमें अपने धर्मस्थलो के इर्दगिर्द की कुछ उपजाऊ भूमि को वनस्पति-विज्ञान-वाटिका के रूप मे भी विकसित करना चाहिये, ताकि देश की दुर्लभ वन-संपदा/वनस्पतियो को उनकी अकाल मौत से बचाया जा सके। इस समय उन जैनो का, जो जीवदया/करुणा के जीवन्त प्रतिनिधि माने जाते है, कर्तव्य बनता है कि वे आगे आये और देश की वृक्ष-सपदा की रक्षा मे अपनी ऐतिहासिक/धार्मिक भूमिका निभाये। सच, यदि हमने सकट के इन क्षणो मे यह काम नहीं किया तो हम एक ऐसे गंभीर अपराध के भागी होंगे, जिसे शब्दो मे कह पाना संभव नही है। (२५९/दिसम्बर, '९५)

स्थितिकरण की प्रक्रिया

स्थितिकरण की प्रक्रिया युगपद् गंभीर और जटिल है। सिर्फ स्थितिकरण की चर्चा से स्थितिकरण सभव नही है, वस्तुत हमे पहले देखना होगा कि स्थितिकरण होता क्या है, और यदि उसे व्यवहार मे लाया जाए तो उसकी क्या सीमाएँ और क्या मुश्किले है ? जैनाचार्यों ने सम्यक्त्व की विवेचना करते हुए उसके छठे अंग के रूप में इसकी विस्तृत समीक्षा की है।

स्थितिकरण और स्थिरीकरण

स्थितिकरण और स्थिरीकरण मे फर्क है। स्थितिकरण मे मान कर चला जाता है कि कुछ ऐसे बन्धु-बान्धव है, जो पहले मौलिकताओ की डगर पर थे, किन्तु किन्ही सास्कृतिक, सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक परिवर्तनो के कारण वे उस मार्ग पर चलने को विवश हुए जो न तो उन्हे प्रिय ही था और न ही उनके स्वीकृत/परम्परित आचरण से कोई तालमेल रखता था। मजबूरी मे उन्हे भिन्न होना पड़ा और एक भ्रान्त मार्ग-उन्मार्ग-पकड़ना पडा।

सराक-समस्या पहले स्थितिकरण और बाद मे स्थिरीकरण

सराक भाइयो के बारे मे हमारे पास जो जानकारी है, उससे पता लगता है कि वे मूलत: जैन थे, किन्तु परिस्थितिवश उन्हें अपनी अस्मिता-रक्षा के लिए भीषणतम संघर्ष मे जैनत्व से स्खलित होना पड़ा। खाई बढ़ती गयी और अब सिर्फ औपचारिकताएँ बच गयी है, गहराइयाँ हाथ से खिसक गयी है। स्पष्टत स्थितिकरण का मतलब है वे साधर्मी जन जो कभी हमारे बीच थे, किन्तु वक्त की मार ने जिन्हे हमसे वियुक्त कर दिया और जो आज फिर से इतजार मे है कि उन्हे छाती से लगाया जाए या जो क्षति समय-की-धारा-मे-बहते उन्हे हुई है, उसकी पूर्ति की जाए और सब कुछ इस तरह व्यवस्थित किया जाए कि वे मूलधारा मे लौट आये। इस तरह स्थितिकरण के अर्थ है अपने मूल पर वापसी।

जहाँ तक स्थिरीकरण का प्रश्न है, वह मौजूदा परिस्थिति मे-से चचलताओ और विचलनो को अलगाने की प्रक्रिया है। अस्थिरताओ को ख़त्म कर असदिग्धताओ के धरातल पर अडिग होना स्थिरीकरण है। जो है, वह रुके, आगे कोई विचलन न हो, इस तरह के प्रबन्धन का नाम स्थिरीकरण है। वापसी का प्रश्न इसमे उतना नही है, जितना जिस बिन्दु पर कोई है, उस बिन्दु पर मजबूत हो पड़ने का है। सराक-समस्या पहले स्थितिकरण और बाद को स्थिरीकरण की है। ध्यान रहे स्थिरीकरण स्थितिकरण के बाद का चरण है। पहले सुस्थित करना और फिर जिस बिन्दु पर उन्हे लौटाया गया है, उस पर उन्हे अडिग करना - इस तरह यदि सभव हो तो इन दोनो क्रियाओ को समानान्तर होने देना चाहिये। सराक-समाज को अपने मूल पर जाना और उन्हे उस प्राप्त बिन्दु पर सुदृढ़ करना - दोनो काम अपनी जगह अहम है-प्रश्न सिर्फ क्रम और पुरुषार्थ का है। (२६०/जन फर , '९६)

समाज-के-मिज़ाज को जानना जरूरी

'कहिये कैसे मिजाज हैं'-किसी व्यक्ति से तो यह सवाल हम अक्सर पूछ रहे है, किन्तु समाज से हम इस तरह की मिजाजपुरसी शायद ही कभी कर पाते है। वास्तव मे आज आवश्यकता इस बात की है कि समाज-के-मिजाज को जाना जाए,पहचाना जाए कि उसका रुख किस ओर है, तलाशा जाए कि वह क्या करना चाहता है, कौन-सी दिशा वह पकडे हुए है, अथवा पकडना चाहता है, यह भी कि आज वह जिस आबोहवा (क्लाइमेट) मे है, क्या वह उसके अनुकूल है, यावह किसी परिवर्तन के लिए छटपटारहा है ? जबतक हमअसलियत का पता नही लगायेगे, यथार्थ से आँख चुराते रहेगे-कोई परिवर्तन हो, यह मुश्किल है।

मिज़ाजपुरसी के वक्त हमारी जिम्मेदारी

क्या समाज के कुशल-मगल की पूछताछ के इस दौर मे हम उससे यह नही पूछना चाहेंगे कि जिस देश मे अहिसा का सूक्ष्मतम विकास हुआ और द्रव्यहिसा/भावहिसा जैसा

विशद वर्गीकरण किया गया, वहाँ आज क्रूरता/हिसा-मुक्त उपभोक्ता-सामग्री प्राप्त करने मे कठिनाई क्यो है ? सच्चाई यह है कि आज हिंसा ने हमारी आज की जिन्दगी मे इतनी सघन/ठोस/प्रहारक घुसपैठ कर ली है कि हमे बाजार मे ऐसे पदार्थ ढूँढ़े भी नही मिल रहे हैं, जो हिंसा/क्रूरता-मुक्त हो और हम जिन्हे निरापद/नि·संकोच स्वीकार कर सके। हमारे खान-पान/रहन-सहन मे हिसा जिस खतरनाक शक्ल मे आ गयी है कि हम उसका अनुमान भी नही कर सकते। मजा यह है कि अब हम पता-लगाने-की-इच्छा-भी लगभग खत्म कर चुके हैं और हमने अहिसा/करुणा को अब सिर्फ शब्दो तक सीमित कर लिया है, उसे जिन्दगी से खदेड बाहर किया है। अहिसा का यह घर-निकाला आगे चल कर जो गजब ढाने वाला है, उसका अन्दाज आज हमे नही है।

हमारा कागज, हमारे वस्त्र, हमारी जिल्दे, हमारे स्नानागार के उपकरण, हमारी औषधियॉ, हमारे बर्तन, हमारे शौक, हमारे देवस्थल, हमारी स्वाध्याय-चौकियाँ, होटले, रेस्त्राँ तमाम हिसा और क्रूरता की भयानक गिरफ्त मे है, ऐसा खौफनाक कुछ हो और फिर भी हम समाजकी मिजाजपुरसी के अपने दायित्व से चूकते हो तो फिर आप ही बताये कि इस रवैये को कौन-सा सबोधन दिया जाए ? (२६१/मार्च, '९६)

प्रभावना : सही दिशा

प्रभावना सम्यग्दर्शन के आठ अगो मे-से आठवॉ अंग है, जिसके मायने है जैनागम के गौरव और माहात्म्य को प्रकट करना, उसका सत्प्रचार करना, लोकमानस पर उसके सत्यार्थ को स्थापित करना-उसकी सार्थकता को तर्कसंगत शैली मे प्रतिपादित करना।

ज्ञानदान अर्थात् विद्यारथ का सारथ्य यह कैसे हो ? इसका सबमे सुगम तरीका है जैनधर्म के बारे में जैनो की निरक्षरता को घटाना, उन्हे जैनधर्म और अध्यात्म की सही समझ और पकड देना। उन तमाम पुस्तको के प्रकाशन पर सामाजिक अंकुश लाना जो निरुद्देश्य या निजी संतोष के लिए प्रकाशित है तथा उन पुस्तको की लाखो-लाख प्रतियॉ साया करना जिनके द्वारा मानवता गौरवान्वित होती है और धरती पर से अज्ञान अथवा मिथ्या ज्ञान का बोझ हल्का होता है। जगह-जगह लायब्रेरियाँ, अध्ययन-कक्ष और स्वाध्याय-मण्डल स्थापित करना। प्रदर्शन के दबाव को कम करना। हर वय-समूह के लिए अलग-अलग किस्म का मनोविज्ञानमूलक साहित्य तैयार करवाना/प्रकाश में लाना। सम्प्रदायातीत प्रशिक्षण शिविर भी इस दृष्टि से कारगर सिद्ध हो सकते है।

स्पष्ट है कि जब तक हम स्वाध्याय के सस्कार को एक तप के रूप मे पुनरुज्जीवित और स्थापित नहीं करेंगे - प्रभावना का न तो सही अर्थ कभी पकड पायेगे और न ही उस दिशा मे ठोस कुछ कर पायेगे। (२६२/सामान्य अक अप्रैल, '९६)

'ॐ' व्यक्ति के चित्त और चरित्र को शुद्ध करने का अचूक साधन

विषमताओ और भीषण टकराहटो के बीच जब हम 'ॐ' की विवेचना करते है-उसमे गहरे उतरते है-उसे उसकी चमत्कारिक शरीर-रचना (अनाटॉमी) मे जानने की कोशिश करते है, तब लगता है कि यह एक अचूक साधन है, जिसके द्वारा व्यक्ति के चित्त और चरित्र को शुद्ध किया जा सकता है-उसे निर्मलताओ की दिशा मे ले जाया जा सकता है। 'ॐ'-जल के माध्यम से हम अपावनताओ को धो सकते है-उन्हे सामाजिक जीवन से निष्कासित कर सकते है। मुश्किले और अड़चने आ सकती है, किन्तु 'ॐ' मे सन्निहित बल के आधार पर हम विपदाओ से सफलतापूर्वक निपट सकते है। (२६३/अप्रैल, ॐ विशेषांक '९६)

जैनाचार्यों द्वारा जैन जीवन-शैली की गुणवत्ता के लिए तीन आधारों का चयन

जैनाचार्यो ने जैन जीवन-शैली की गुणवत्ता, एकरूपता और समग्रता को बनाये रखने के लिए तीन आधार चुने . णमोकार मन्त्र, तत्त्वार्थसूत्र, भक्तामर स्तोत्र। उन्होंने इन तीनो के यथार्थोन्मुख भावनात्मक माध्यम से जो संदेश दिये है, वे अद्वितीय है।

णमोकार महामन्त्र जैन और अध्यात्म का सर्वोत्कृष्ट साराश है। इसमे पचपरमेष्ठी को नमन किया गया है। इस मन्त्र के तल मे गृहस्थ जीवन की सर्वोत्तमता लहरा रही है, क्योकि बगैर सर्वोत्तम श्रावक बने कोई जैन साधु बने, यह असभव है। वस्तुत सर्वोत्तम गृहस्थ ही किसी साधुत्व को गौरवान्वित कर सकता है/करता है। असतुष्ट या निर्बल गार्हस्थ्य साधुत्व को महिमावान् बनाये, यह सभव ही नही है। साधुत्व की सीढ़ी पर पगतली पड़ते ही आध्यात्मिक जीवन के तमाम रहस्य (भेद) खुलने लगते है। साधु-जीवन मोह-क्षय का क ख ग तो है ही क्रमश उससे पूर्णतया मुक्त होने का शिलान्यास भी है। जिस साधु में परमाणु-मात्र मोह है, वह साधु नही है (ऐसा क्षण पूरे दिन मे भले ही एक बार आये, तथापि आये अवश्य)। खयाल रहे साधुवेश और साधुत्व मे अन्तर है। वेश कसौटी नहीं है, सुविधा है। साधुत्व वेशातीत अस्तित्व है। णमोकार महामन्त्र की नीव मे सिर्फ यही है।

तत्त्वार्थ-सूत्र (मोक्ष-शास्त्र) जैनो का एक सर्वसम्मत तात्त्विक ग्रन्थ है, जिसमे जैन दर्शन/आचार की बहुमुखीन/गहन/सक्षिप्त/सारभूत विवेचना हुई है।

भक्तामर स्तोत्र ने सपूर्ण जैन समाज को एक ऐसे भावनात्मक भक्ति-सूत्र मे पिरोया है, जिसकी कोई सानी नही है। यह भक्तिपरक स्तोत्र है। इसका सबन्ध भगवान् आदिनाथ से है। यह आचार्य मानतुंग द्वारा भगवान् आदिनाथ की स्तुति मे लिखा गया है। काव्य-की-दृष्टि से भी यह अप्रतिम है। अध्यात्म की कसौटी पर यह अत्यन्त प्रखर और पुख्ता है। इसका एक-एक हर्फ़ जीवन को निखारने वाला है। ज्यादातर लोग इसका वाच्यार्थ जाने बगैर इसका श्रद्धा-भक्तिपूर्वक पाठ करते है। इसमे तन्त्र-मन्त्र भी है। इसके १०० से अधिक अनुवाद है। यह क्षेत्रकालातीत अद्वितीय काव्य-कृति है। (२६४/मई, '९६)

जैनों द्वारा जैनत्व के मेरुदण्ड पर हमला

अहिसा की अवधारणा को ले कर दुनिया-भर के मुल्को और लोगों मे जैनधर्म की एक विशिष्ट छवि और प्रतिष्ठा है; एक निर्मल और शानदार 'इमेज' है, किन्तु इधर के दो दशको मे खुद जैनो ने जैनत्व के मेरुदण्ड पर बर्बर हमला किया है और इसके युग-युगो से वने ढाँचे को ध्वस्त कर दिया है। उन्होंने जैनाचार को दरकिनार कर सिर्फ पैसे को प्रभु माना और और उसके पीछे पागल हो पडे है। लगता है वे तमाम जैन मर्यादाओं से पल्ला झाड कर उस रास्ते पर चल पडे है, जो जैनाचार का मार्ग तो है ही नही, भारतीय संस्कृति के भी प्रतिकूल है।

हम कल्पना भी नही कर सकते कि वे जैन, जिन्होंने कभी संपूर्ण जगत् को अहिसा की गहरी समझ दी थी, जैनत्व को तलाक दे कर उस भयानक गर्त में उतर जाएँगे, जिसमे सिर्फ अँधेरे के अलावा कुछ नही है। कौन सोचता था कि 'मन-वचन-काय' तथा 'कृत-कारित-अनुमोदन' की सूक्ष्म शब्दावली के इस्तेमाल से जो जैन अहिसा के ताने-बाने बुनता रहा, संपूर्ण विश्व को उसे समझाया रहा, वह खुद जैनत्व की रीढ को एक भीषण खतरे की भट्टी मे झोक देगा। (२६५/जून, '९६)

पर्युषण में अग्नि-परीक्षा

सब जानते है कि अहिसा परम धर्म है। ग्रन्थो तथा निर्ग्रन्थो का भी यही कथन है, अत. यदि वह अनुपस्थित है तो तय मानिये कि कही भी, कुछ भी नही है। पर्युषण अहिसा की डगर चल कर आता है, इसलिए सर्वप्रथम हमे यह देख लेना होगा कि एक पर्युषण और दूसरे पर्युषण के बीच जो फासला था, उस दूरी मे हमारे जीवन मे अहिसा की क्या भूमिका रही ? कही ऐसा तो नही है कि हिसा ने हमारे जीवन मे चुपचाप सैध लगा ली है और हम चादर ताने सोये रहे है ?

इस दृष्टि से हमे यह देखना होगा कि हम रहन-सहन/खान-पान की जिस शैली को अपनाये हुए है, उसमे हिसा की घुसपैठ कितनी हुई है ? मसलन, हम जिस साबुन से हाथ धो कर भोजन पर बैठ रहे है, या जिस नैपकिन से भोजन-पूर्व/भोजनोपरान्त हाथ-मुँह पोछ रहे हैं, उसकी क़िस्म क्या है ? उसके उत्पादन मे क्या किसी अपवित्र/हिसा-जनित वस्तु का इस्तेमाल हुआ है ? क्या जिन वस्तुओ का उपयोग हमारे द्वारा हो रहा है, वे अहिसा के धरातल पर बनी है या उनके निर्माण मे हिंसा हुई है-किन्हीं जीवधारियो के प्राण संकट मे पडे है ? आज साबुन जो हो, नहाने या धोने का, वह चर्बी से रहित नही है। तो क्या आप कत्लख़ानों से प्राप्त चर्बी से हाथ धो कर एकासन के लिए बैठते है ? (यह मात्र उदाहरण है।)

पर्युषण शुरू होने के एक सप्ताह पूर्व हमे, इसीलिए, अपने रहन-सहन/खान-पान की निर्मम जाँच-परख करनी चाहिये और खरे-खोटे की पहिचान बनानी चाहिये।

हम यदि असावधान और निष्क्रिय रहते है तथा पर्युषण को मात्र [illegible] के लिए मनाते है तो यह हमारा ही नहीं अपितु भगवान आदिनाथ से लेकर भगवान महावीर तक विकसित परम्परा का अपमान और दुर्भाग्य है। (२६६/जुलाई '९६)

धार्मिक होने का मतलब

धार्मिक होने का मतलब सिर्फ देव-दर्शन, पानी छान कर पीना, रात को न खाना, पूजा प्रक्षाल करना इत्यादि ही नहीं है - इसके आगे बहुत कुछ है जिसे जानने की जरूरत आज है - हमेशा रही है। कर्मकाण्ड तो धर्म की ऊपरी खोल है। वह असली पूँजी नहीं है। तन्त्र-मन्त्र का भी जैनधर्म के बुनियादी ढाँचे मे कोई तालमेल नहीं है। जैन धर्म/दर्शन की बुनियाद है आत्मोत्थान-आत्मा की प्रच्छन्न शक्तियो की पहिचान और उनका क्रमश प्रकटीकरण। जब कोई साधक साध्य-साधन की निष्कलकता को बरक़रार रख कर आत्मा की बलवत्ता को प्रकट करता है, करने लगता है, तब मानिये कि वह जैनाचार की असली सरहद मे है अन्यथा वह भ्रम मे है और इस सफर मे उसकी मुट्ठियाँ बिल्कुल खाली रहने वाली है।

धर्म के मुख्यार्थ की खोज़ मे दुनिया-भर की खाक छानना या किसी की खुशामद करना ज़रूरी नही है-जरूरी सिर्फ है अपनी आत्मा मे गहरे पैठना और सृष्टि के मूलभूत तत्त्वो को जानना। धर्म का असली मायना, जिससे हम प्राय चूक जाते है, बहुत आसान है। धर्म का प्रथम और अन्तिम अर्थ है वस्तु-स्वरूप की गवेषणा, उसकी सन्निष्ठ/सतत् खोज़, उसकी आराधना। (२६७/अगस्त-सितम्बर, '९६)

जीवन के हर क्षेत्र मे पारदर्शिता अपरिहार्य

आज सब कुछ अ-पारदर्शी है, या उसे अ-पारदर्शी बनाने की कोशिश की जा रही है, क्योकि पारदर्शी की अनेक कठिनाइयाँ और सीमाएँ है। जो पारदर्शी है यानी जिसे किसी भी आयाम अथवा कोण से नग्न देखा जा सकता है, वह सहज ही सर्वशक्ति-सपन्न है, क्योकि नग्न होने का मतलब ही तमाम लोकसत्यो को नग्न देखने की महान् साधना है। यहाँ हम किसी परम्परा को विभूषित या दूषित घोषित करने की कोशिश नही कर रहे है, बल्कि यह कहना चाहते है कि अब वह क्षण हमारे सामूहिक जीवन की देहलीज़ पर पूरी ताकत से आ खड़ा हुआ है, जब हमारे तमाम नेतृत्व को पारदर्शी होना पडेगा-अब यह उसकी अपरिहार्य नियति है। पारदर्शिता अब हमारे सास्कृतिक, सामाजिक, राजनैतिक, नैतिक, धार्मिक, आध्यात्मिक अस्तित्व के लिए एक करारी चुनौती है, जिसका मुक़ाबला करने के लिए हमे हर मोर्चे पर कमर कस लेनी चाहिये, क्योकि हम जितने-जितने पारदर्शी/सुग्राह्य होते जाएँगे, उतने-उतने अधिक बलशाली और पवित्र बनते जाएँगे। पारदर्शिता, मानिये, हमारे जीवन के हर क्षेत्र मे अपरिहार्य हुई है। (२६८/अक्टू., '९६)

वीतरागता के प्रशस्त मार्ग को दूषित करने वाले जय-घोष या कीर्ति-कामना

ध्यान से देखेंगे तो पायेगे कि जयघोष ऐसी हथकडियाँ है जो किसी भी भोले-भाले साधु को अनजाने मे कैद कर लेती है। एक बार कैद साधु को फिर ताज़िन्दगी कैद भोगनी पडती है। श्रावक-वर्ग अपने स्वार्थ के लिए हथकडियाँ डालता है और फिर चाबी गुमा बैठता है। 'मास्टर की' यद्यपि साधु के पास प्रतिक्षण रहती है, किन्तु एक तो उसे इसका बोध नही होता, दूसरे वह उसका उपयोग जान-बूझ कर टाल जाता है।

जय-जयकार का, ध्यान रहे, किसी उत्कृष्ट पारमार्थिकता से कोई रेशे-भर भी संबन्ध नही है। वह अत्यन्त पार्थिव परिग्रह है, जिससे साधु-मात्र को बचना चाहिये, या उसे बचाना चाहिये। जयघोष लोकैषणा की भट्टी का उत्तेजक ईंधन है, जिसे जितना-जितना डाला जाता है, उतना-उतना उत्तेजन उससे मिलता जाता है। साधु इसे जैसे-तैसे/जितना-जितना घटाता है, वैसे-वैसे और उतना-उतना तेजोमय उसका चारित्र हो पडता है। जयघोष या कीर्ति कामना वीतरागता के प्रशस्त मार्ग को दूषित करते है। (२६९/नवम्बर, '९६)

जैन साहित्य के प्रकाशन में वय-समूहों का ध्यान नहीं

गत दो-तीन दशकों मे यह भी हुआ है, कि जो जैन साहित्य प्रकाश मे आया है, वह मात्र प्रौढो, अथवा मुट्ठी-भर विशिष्ट लोगो के लिए है। यहाँ हम इस तथ्य की अक्सर उपेक्षा कर जाते है, कि आज भी जैनो मे धर्म/अध्यात्म को ले कर गहन निरक्षरता है, जिसके उन्मूलन की दिशा में हमने अब तक कोई ठोस क़दम नहीं उठाया है। ज्यादातर हम कर्मकाण्डी साहित्य के प्रकाशन के लिए समृद्ध वर्ग से धन वसूलते रहे है, हमने विभिन्न वय-समूहों के मन-मानस का ध्यान रख कर कोई साहित्य प्रकाशित नही किया है। किशोर और युवा वर्ग के लिए तो हमारे पास कोई साहित्य है ही नहीं; शिशु और बालकों के योग्य भी कोई साहित्य हम अलग से खडा नही कर पाये है। महिलाओ के लिए अलग से हमने कोई साहित्य लिखा हो, इसकी जानकारी भी नही है।

कोई अभिकरण या केन्द्रीय साहित्य भण्डार नहीं

साहित्य को जैन तक पहुँचाने के लिए हमारे पास अलग से ऐसा कोई अभिकरण नही है, जो सपन्न हो और जिसके पास संपूर्ण विश्व में प्रकाशित जैन साहित्य उपलब्ध हो। आज ऐसा कोई साहित्य-भण्डार देश मे नही है, जहाँ समस्त भाषाओ मे प्रकाशित जैन साहित्य प्राप्त हो। क्या हम अपव्यय, पुनरावृत्ति, दिखावा, छपास की अदृप्त भूख इत्यादि को छोड़ कर साहित्य की गुणवत्ता को उन्नत करने के लक्ष्य को सामने रख कर जैन साहित्य को लोकसुलभ बनाने की ईमानदार कोशिश कभी कर पायेगे ?

गुणवत्ता और स्थापित मानको की उपेक्षा

ज्यादातर देखा गया है कि जैन साहित्य के प्रकाशन पर धन का वर्चस्व रहा है, अत सहज ही उसमे गुणवत्ता और स्थापित मानको को नज़रअन्दाज किया गया है, अत हमे हर हालत मे धन पर अधिक ध्यान न दे कर जो कृति हमारे सामने हो उसकी गुणवत्ता पर ध्यान देना चाहिये ताकि हम कम परिमाण मे ही सही ऐसा जैन साहित्य प्रकाशित कर सके जो कालातीत हो और जो जैन समाज की सृजनधर्मिता को रेखाकित करता हो।

हमे विश्वास है, वे लोग, जिन्हे 'इक्कीसवी सदी मे जैन समाज किस रूप मे पाँव रखेगा' इसकी चिन्ता है, अवश्य आगे आयेगे ओर जैन साहित्य-प्रकाशन के क्षेत्र मे एक युगान्तर स्थापित करेगे। (२७०/दिसम्बर, '९६)

जैन जीवन-शैली की उज्ज्वल राष्ट्रीय छवि

जैन जीवन-शैली सर्वप्रथम अध्यात्मपरक है, तदनन्तर सदाचारमूलक और फिर धर्मपरक है। अहिसा से अपरिग्रह तक विस्तृत जेनाचार किसी तगदिली या सकीर्णता मे क़ैद आचार नही है, वरन् उसकी अपनी गौरव-गाथा और अपनी उज्ज्वल राष्ट्रीय छवि है।

शोरगुल से किसी कौम का कद या माथा ऊँचा नहीं उठता

ध्यान रखे, शोरगुल से किसी कौम का क़द या माथा ऊँचा नही उठता है, जव तक उसका चरित्र उदात्त, निर्मल, उदाहरणीय, प्रामाणिक, विश्वसनीय ओर उसके धर्मग्रन्थो मे निरूपित विधि-विधान के अनुरूप न हो, कुछ होता-जाता नही है। क्या जिस 'शीर्ष नेतृत्व' की वात हम करते है, उसे हम पाँच अणुव्रतो की कसौटी पर खरा/सौटच पाते है ? निश्चय ही वैसा नहीं है।

ऐतिहासिक अवसर

क्या कभी अल्पसख्यक आयोग मे प्रतिनिधित्व के लिए प्रयत्न करने से पूर्व, तथाकथित नेतृत्व ने इस बात का पता लगाया है कि देश के विभिन्न हिस्सो मे प्रचलित/स्वीकृत पाठ्यपुस्तको मे जैनधर्म को ले कर क्या पढ़ाया जा रहा है ? क्या उसने शव्दकोशो, विश्वकोशो, तथा अन्य दस्तावेजो मे जैनधर्म को ले कर जो अपरिपक्व, निरर्थक, भ्रान्तिमूलक और अप्रामाणिक है उसे सशोधित कराने की पहल की है ? क्या जेनो के पास ऐसी कोई सर्वसम्मत प्रामाणिककिताव है, जो उनके धार्मिक चिन्तन को निर्विवाद/असन्दिग्ध रूप मे पेश करती हो ? क्या हमने 'मदर टेरेसा', 'महर्षि रमण' या 'स्वामी विवेकानन्द' जैसा कोई व्यक्तित्व देश को दिया है ? सिर्फ अतीत का गुणगान और अपने झण्डे पर 'अहिसा परम धर्म है' लिखवा कर उसे चीखते फिरने का ज़माना अव नहीं है, और न ही ऐसा कोई युग अब है कि दूरदर्शन के छोटे पर्दे पर या अख़वारो मे डका पीट कर हम

अपने प्रदूषित चरित्र को सुभूषित चरित्र मे परिवर्तित कर सके। हम चाहे अल्पसख्यक आयोग या इससे और बडे किसी आयोग मे प्रतिनिधित्व पा ले और उसका कोई उत्सव मना ले, किन्तु यह सच है कि हम देश को, दुनिया को, कथनी-करनी की एकता, धर्म और सार्वजनिक जीवन की समरसता का बहुमूल्य अवदान न दे कर, एक सामने आये ऐतिहासिक अवसर से चूक रहे है।

सांस्कृतिक घाटे का सौदा

एक बात बहुत साफ है कि जैनो की जीवन-शैली का तालमेल जितना हिन्दू जीवन-शैली से है, उतना अन्य किसी जीवन-शैली से नही है। ऐसे मे जब हम स्वय को हिन्दुओ से पृथक् सिद्ध करने की दलीले खडी करते है, तब क्या हम एक नयी सांस्कृतिक दरार को जन्म नही दे रहे होते हैं ? यह एक गभीर प्रश्न है, जिसे इतिहास के गर्भगृह मे अवस्थित तथ्यो को खयाल मे रख कर देखना चाहिये।

क्या अल्पसख्यक आयोग मे बैठ कर हम जैनो मे किसी याचना-वृत्ति का श्रीगणेश नही कर रहे है ? क्या हम नौकरियॉ देने वाली एक गौरवशालिनी कौम हो कर नौकरियॉ ढूँढने वाली कौम बनने का कोई उपक्रम कर रहे है ? क्या पुरुषार्थ, प्रतिभा, और संघर्ष मे आस्था रखने वाली कौम को 'सुविधाभोग' के अवसर खोजने की दरकार थी ? क्या इस सबका हमारे भावी अस्तित्व, स्वरूप और अपनी स्वाधीन चिन्ता-धारा पर कोई असर नही पडेगा ? क्या ऐसा करके हम परमुखापेक्षी जीवन-शैली के लिए खिडकियॉ नही खोल बैठे है ? क्या एक स्वाभिमानी और स्वावलम्बी समाज के लिए यह बहुत बडे सांस्कृतिक घाटे का सौदा नहीं है ?

'गुणोपासक' कौम गुणवत्ता के बल पर गौरवान्वित होने में समर्थ

कौन कहता है कि जब हम अल्पसंख्यक आयोग के सदस्य नही थे तब हमने वह नही किया जो हम अब कर पायेगे ? क्या कागजी रद्दोबदल से कौमो की किस्मते बदलती है ? क्या किसी आयोग की मामूल नुमाइंदगी हमारे वजूद का फैसला कर सकती है ? अत हमे, जो कुछ हुआ है, या हमारी सर्वसम्मति के बगैर जो किया गया है, उसका मुकाबला करना चाहिये और 'बाहुबली की विशालता को सिकुडने से' रोकने का हर संभव प्रयास करना चाहिये। हमे कोशिश करनी चाहिये कि हम अपने वैयक्तिक, सामाजिक, सास्कृतिक और राष्ट्रीय चरित्र को इतना ऊँचा उठायें कि संख्या या परिमाण के ब्यौत छोटे पड जाएँ। ध्यान रहे, जब एक 'गुणोपासक' कौम गुणवत्ता के बल पर स्वयं को प्रवर्तित, स्थापित, पुरश्चरित और गौरवान्वित करने मे असमर्थ हो पड़ती है, तब सच मानिये, उसके ध्वस्त और अस्तित्वशेष होने की दुर्भाग्यपूर्ण शुरूआत होती है। लगता है यह हमारे गिरते हुए चरित्र के ताबूत पर अन्तिम या उपान्तिम खील है। (२७१/जनवरी, '९७)

नये मोड़ (६३/३, जुलाई), ६२ मुक्ति की आकाक्षा (६४/४, अग), ६३ कम-से-कम/अधिक-से-अधिक (६५/५, सित), ६४ एक बूढी किताब सदर्भ, सम्यग्ज्ञान-दीपिका (६६-६७/६-७, अक्टू -नव), ६५ निर्माण नये सिरे से-१ (६८/८, दिस), ६६ खोल के बाहर एक और ज़िन्दगी-निर्माण नये सिरे से-२ (६९-७०/९-१०, जन -फर), ६७ श्रावकाचार क, ख, ग, निर्माण नये सिरे से-३ (७१/११, मार्च), ६८ जय, अन्तिम की (७२/१२, अप्रैल)।

वर्ष : ७ (मई, १९७७ से अप्रैल, १९७८) : ६९ कलम की इज्जत (७३/१, मई), ७० बैलगाड़ी के बहाने (७४/२, जून), ७१ आप कैसे है ? (७५/३, जुलाई), ७२ बाद/एक सदी के जैन पत्र-पत्रिकाएँ-विशेषाक (७६-७७/४-५, अग -सित), ७३ यो/ऐसे (७८/६, अक्टू), ७४ प्रणाम, एक सूरजको चौथमल जन्म-शताब्दी-विशेषाक (७९-८०/७-८, जन दिस), ७५ बधाई ! (८१/९, जन), ७६ इन्दौर मौन जुलूस/जैन कान्फ्रेन्स (८२/१०, फर), ७७ गजरथ/विद्यारथ (८३/११, मार्च), ७८ महावीर-क्रान्ति/ क, ख, ग, (८४/१२, अप्रैल)।

वर्ष : ८ (मई, १९७८ से अप्रैल, १९७९) : ७९ टूटने का सुख, जुड़ने की व्यथा (८५/१, मई), ८० पाँव की आँख प-नाथूलाल शास्त्री/पण्डित-परम्परा-विशेषाक (८८/२, जून), ८१ फिसलते सामाजिक यथार्थ (८७/३, जुलाई), ८२ जड़े कुतरते चूहे (८८/४, अग), ८३ आओ बने भेड़ (८९/५, सित), ८४ एक बात साफ़ है (९०/६, अक्टू), ८५ साधुओ को नमस्कार आचार्य श्री विद्यासागर-विशेषाक (९१-९२/७-८, नव -दिस), ८६ क्या आप हँस सकते है ? (९३-९४/९-१०, जन -फर.), ८७ हारे किताब, जीतें मैदान (९५/११, मार्च), ८८ इतना तो करे ही (९६/१२, अप्रैल)।

वर्ष : ९ (मई, १९७९ से अप्रैल, १९८०) : ८९ सुने, सुबह-सुबह (९७/१, मई), ९० धार्मिक निरक्षरता समाधान की खोज़ (९८/२, जून), ९१ शब्द एलाचार्य मुनिश्री विद्यानन्द शुभागमन अक (९९/३, जुलाई), ९२ सीखे/पक्षियो से (१००/४, अग), ९३ निरुपाय हम (१०१/५, सित), ९४ छोड़िये साहव (१०२/६, अक्टू), ९५ सुनें भी (१०३/७, नव), ९६ हाँ-मे-हाँ (१०४/८, दिस), ९७ तमाशे कितने (१०५/९, जन), ९८ आत्मीयता/औपचारिकता (१०६/१०, फर), ९९ टकराहटे (१०७/११, मार्च); १०० झूठ वोलिये ! (१०८/१२, अप्रैल)।

वर्ष : १० (मई, १९८० से अप्रैल, १९८१) : १०१ तीसरी दुनिया (१०९/१, मई), १०२ पख कटा कपोत (११०-१११/२-३, जून-जुलाई), १०३ णमोकार मन्त्र-विशेषाक (११२-११३/४-५, अग -सित), १०४ अन्धा विश्वास (११४/६, अक्टू), १०५ गहराइयो मे णमोकार मन्त्र विशेषाक खण्ड-१ (११५-११६/७-८, नव -दिस), १०६ और णमोकार मन्त्र विशेषाक खण्ड-२ (११७/जन), १०७ '१०००' गोम्मटेश्वर-विशेषाक (११८/१०, फर), १०८ आगम चक्षु तलाश चश्मे की (११९-१२०/११-१२, मार्च/अप्रैल)।

वर्ष : ११ (मई, १९८१ से अप्रैल, १९८२) : १०९ मनमाड़/सवक, ग्यारहवाँ वर्ष/सकल्प (१२१/१, मई),११० धार्मिक हिसा (१२२/२,जून), १११ लड़ाई-चेहरो की (१२३/३, जुलाई), ११२ स्वाधीनता/शब्द तब, शब्द अब, पर्युषण/यानी आत्मानुशासन, अ-प्रमाणिकताएँ, अपूर्णताएँ/चुनौती (१२४/४, अग), ११३ क्ल की खोज़ (१२५/५, सित), ११४ क़दम रोकते प्रश्न (१२६/६, अक्टू), ११५ अण्डे खाइये !! (१२७/७, नव), ११६ बिखरती-टूटती कौटुम्बिकता (१२८/८, दिस), ११७ एक कालजयी स्तोत्र भक्तामर-स्तोत्र विशेपाक (१२९/९, जन), ११८ साधो, सहजै काया सोधो साध्वीश्री विचक्षणश्री विशेषांक (१३०-३१/१०-११, फर मार्च), ११९ साहुकार सस्थाएँ (१३२/१२, अप्रैल)।

वर्ष १२ (मई, १९८२ से अप्रैल, १९८३) : १२० शिखरों पर बैठे नाम (१३३-१३४/१-२ मई-जून), १२१ पूर्वग्रह-मुक्त सोच (१३५/३, जुलाई), १२२ लोक-कथा जैन भूगोल (१३६/४, अग), १२३ सगोष्ठी आगे अब ? (१३७-३८/५-६, सित -अक्टू), १२४ प्रश्न उपयोग का (१३९/७, नव), १२५ नदी की तरह बहता आदमी आचार्य विनोबा के निधन के निमित्त (१४०/८, दिस), १२६ चुनौतियाँ (१४१-४२/९-१०, जन -फर), १२७ गुरुकुल क्यों ? (१४३/११, मार्च), १२८ ध्यान ध्यान पर अधिक, ध्येय पर कम जैन ध्यान/योग विशेषांक (१४४/१२, अप्रैल), १२९ [illegible] (१४४/१२, अप्रैल)।

वर्ष . १३ (मई, १९८३ से अप्रैल, १९८४) : १३० [illegible] (१४५/१, मई), १३१ श्वास बनी विश्वास (१४६/२, जून) १३२ केवलज्ञान (१४७/३, जुलाई), १३३ अण्डा और [illegible] (१४८/४, अग), १३४ नाम कुछ, काम कुछ, अण्डा और [illegible]-२ (१४९/५, सित), १३५ चातुर्मास/ उसके इर्द-गिर्द (१५०/६, अक्टू), १३६-१३७ समाज-सेवा चुनौतियाँ, अन्य अनुभव फल (१५१-५२/७-८ नव -दिस), १३८ आधा सच (१५३/९, जन) १३९ अब गरीब होने की बारी (१५४/१०, फर), १४० धर्म-में-राजनीति, १४१ टिप्पणियाँ १ हमारी जड़ गल रही है, २ भूगोल-खगोल गौण मुख्य अध्यात्म, ३ भक्ति क्षणभंगुरता में अमरत्व की खोज (१५५/११, मार्च), १४२ उपाधियाँ/पुरस्कार, १४३ टिप्पणियाँ १ जैनसाधक १८८४ से १९८८, २ जो है उसका वैसा होना (१५६/१२, अप्रैल)।

वर्ष १४ (मई, १९८४ से अप्रैल, १९८५) : १४४ विरासत में (१५७/१, मई), १४५ नाम-ही-नाम (१५८/२, जून), १४६ वर्षावास (१५९/३, जुलाई), १४७ दान, या चुनौती (१६०/४, अग), १४८ पर्युषण तैयारी कितनी (१६१/५, सित), १४९ वापसी प्रतिक्रमण/सामायिक विशेषाक (१६२-६३/६-७, अक्टू -नव), १५० जाले से बाहर प्रतिक्रमण शेषाक (१६४/८, दिस), १५१ मौलिक बने, मौलिक बने सामायिक शेषाक (१६५/९, जन), १५२ शुरू करे रसोई घर और बैठकखाने मे (१६६/१०, फर), १५३ प्रश्न-दर-प्रश्न श्रावकाचार-विशेषाक (१६६-६७/११-१२, मार्च-अप्रैल)।

वर्ष · १५ (मई, १९८५ से अप्रैल, १९८६) १५४ अहिंसा है हमारी माँ (१६९/१, मई), १५५ आहार-विज्ञान (१७०/२, जून), १५६ आहार-दर्शन (१७१/३,जुलाई), १५७ 'पूजा' के अर्थ (१७२-७३/४-५, अग -सित), १५८ गरीब अमीर/अमीर गरीब (१७४/६, अक्टू), १५९ जैनधर्म इक्कीसवी सदी (शताब्दी)-१ (१७५/७, नव), १६० जैनधर्म इक्कीसवीं सदी-२ (१७६/८, दिस), १६१ जैनधर्म इक्कीसवी सदी-३ (१७७/९, जन), १६२ जैविकी जैन जविकी विशेषाक (१७८-१७९/१०-११, फर मार्च), १६३ जैनधर्म इक्कीसवीं सदी-४(१७८-१७९/१०-११, फर-मार्च), १६४ जैनधर्म इक्कीसवीं सदी-५ (१८०/१२, अप्रैल)।

वर्ष १६ (मई, १९८६ से अप्रैल, १९८७) १६५ उपवास (१८१/१, मई), १६६ चलो क्रोध करे (१८२/२, जून), १६७ हिंसानन्द (१८३/३, जुलाई), १६८ परमाणु-कथा जैन भौतिकी विशेषाक (१८४-८५/४-५, अग -सित), १६९ हम अन्धे पाँच अन्धे (१८६/६, अक्टू), १७० आँख मिला सकेगे क्या ? (१८७/७, नव), १७१ खायें क्या, क्या नही करे, क्या, क्या नहीं (१८८/८, दिस), १७२ साधुवाद (१८९/९, जन), १७३ सुमतिबाई-अमृत महोत्सव (१८९/९, जन), १७४ माणव-विद्या (१९०-९२/१०-१२, फर -अप्रैल)।

वर्ष . १७ (मई, १९८७ से अप्रैल, १९८८) १७५ गणवेश की गरिमा (१९३/१, मई), १७६ शान्ति की तलाश (१९४/२, जून), १७७ अ-यथार्थ साधु आचार्य लघु विशेषाक (१९५-९६/३-४, जुलाई-अग), १७८ रास्तो के लिए एक रास्ता साधुमार्ग विशेषाक (१९७-९८/५-६, सित -अक्टू)

मरो मारो मरने दो (१९९/७, नव), १८० पानी छानना होगा (२००/८, दिस), १८१ अन्धी स्वीकृतियाँ (२०१/९, जन), १८२ बर्बर मनोरजन (२०२/१०, फर), १८३ जैन शौरसैनी बना रहने दे इसे (२०३/११, मार्च), १८४ जैनी जन तो तेने कहीये (२०४/१२, अप्रैल) ।

वर्ष : १८ (मई, १९८८ से अप्रैल, १९८९) : १८५ एक कदम एकदम (२०५/१, मई), १८६ अहिसा के लिए हिसा (२०६/२, जून), १८७ खालीपन का अहसास (२०७/३, जुलाई), १८८ हाथ-पर-हाथ/हाथ-मे-हाथ (२०८/४, अग), १८९ 'जैन' होने का मतलब (२०९/५, सित), १९० नेता बच्चो . हम (२१०/६, अक्टू), १९१ 'मै' (२११/७, नव), १९२ जीर्णोद्धार पहले किसका ? (२१२/८, दिस), १९३ स्वाधीनता अपनी-अपनी (२१३/९, जन), १९४ रुपया चाहिये (२१४/१०, फर), १९५ पद गुनगुनाये इन्हे जैन पद-साहित्य-विशेषाक (२१५-१६/११-१२, मार्च-अप्रैल) ।

वर्ष : १९ (मई, १९८९ से अप्रैल, १९९०) : १९६ जायके से जूझिये जैन आहार-विज्ञान-विशेषाक (२१७-१८/१-२, मई-जून), १९७ 'जी-जोह' की ज़रूरत (२१९/३, जुलाई), १९८ शब्द करे इन्हे जज़्ब (२२०/४, अग), १९९ एक दो तीन (२२१/५, सित), २०० साधारणीकरण (२२२/६, अक्टू), २०१ नीम और नेता (२२३/७, नव), २०२ मध्यवित्त जैन (२२४/८, दिस), २०३ शब्द घुटने टेक देते हैं जब तीर्थंकर-चिह्न-विशेषाक (२२५-२६/९-१०, जन -फर), २०४ विरासत मे-झूठ या सच ? (२२७/११, मार्च), २०५ वरक और जैन साधु (२२८/१२, अप्रैल) ।

वर्ष : २० (मई, १९९० से अप्रैल, १९९१) : २०६ नेतृत्व का गुर (२२९/१, मई), २०७ जैन पत्रकारिता आगामी कल (२२९/१, मई), २०८ जो हम कर नही पा रहे हैं (२३०/२, जून), २०९ विलम्ब क्यों ? (२३१/३, जुलाई), २१० चाहिये अन्तिम शब्द (२३२/४, अग), २११ भविष्य का आहार (२३३/५, सित), २१२ तो फिर करे क्या ? (२३४/६, अक्टू), २१३ अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण (२३५/७, नव), २१४ खिली धूप मे (२३६/८, दिस), २१५ अ-मगलाचरण (२३७/९, जन), २१६ सामूहिक विवाह स्वरूप और मर्यादाएँ (२३८/१०, फर), २१७ प्रतीक्षा जैन जन जागरण विशेषाक (२३९-४०/११-१२, अप्रैल) ।

वर्ष : २१ (मई, १९९१ से अप्रैल, १९९२) : २१८ भविष्य के लिए आत्मविश्वास (२४१/१, मई), २१९ व्यक्तिगत (२४२/२, जून), २२० शैली का प्रश्न (२४२/३, जुलाई), २२१ गले तक आ पहुँचा है पानी (२४४-४५/४-५, अग -सित), २२२ वरक़ छोड़ें वरक़ जोड़े वरक विशेषाक (२४६-४७/६-७, अक्टू -नव), २२३ समाज गश्त पर है (२४८/८, दिस), २२४ अन्धो के बीच घूमता आईना (२४९/९, जन), २२५ सान्निध्य मे (२५०-५१/१०-११, फर -मार्च), २२६ अनुत्तरित प्रश्न (२५२/१२, अप्रैल)।

वर्ष : २२ (मई, १९९२ से अप्रैल, १९९३) : २२७ खामोशी कैसी, कब तक (२५३/१, मई), २२८ उत्तर तराशते प्रश्न (२५४/२, जून), २२९ अभी वक्त है (२५५/३, जुलाई), २३० नम्रता नफ़रत या इम्तहान (२५६/४, अग), २३१ रेशम-में-हिसा (२५७-५८/५-६, सित अक्टू), २३२ धर्म-निरपेक्षता अग्नि-परीक्षा (२५९-६०/७-८, नव -दिस), २३३ गया साल नया साल (२६१/९, जन), २३४ दम तोड़ता समाज (२६२/१०, फर), २३५ मन्दिर की बढ़ती आबादी (२६३-६४/११-१२, मार्च-अप्रैल) ।

वर्ष : २३ (मई, १९९३ से अप्रैल, १९९४) : २३६ तईसवाँ वर्ष चुनौतियो का चक्रवात (२६५/१, मई), २३७ जैन सोशल ग्रूप्स किधर (२६६/२, जून), २३८ आइये, डायरी लिखें (२६७/३, जुलाई), २३९ महामस्तकाभिषेक अर्थात् (२६८/४, अग), २४० सफेद तालाब के हँस महामस्तकाभिषेक -

विशेषाक (२६९-७१/५-७, सित -नव), २४१ श्रवणबेलगोला शब्द से आगे (२७२-७४/८-१०, दिम -फर), २४२ शाबाश, जैन समाज ! (२७५-७६/११-१२, मार्च-अप्रैल)।

वर्ष २४ (मई, १९९४ से अप्रैल, १९९५) . २४३ आत्मघात/सल्लेखना, एक युगान्त, अहिसा-सिल्क (२७७/१, मई), २४४ अहिसा का अर्थशास्त्र-१ (२७८/२, जून), २४५ अहिसा का अर्थशास्त्र-१२ (२७९/३, जुलाई), २४६ अहिसा का अर्थशास्त्र-३ (२८०/४, अग), २४७ अहिसा का अर्थशास्त्र-४ (२८१/५, सित), २४८ अहिसा का अर्थशास्त्र-४ (२८२-८३/६-७, अक्टू -नव), २४९ अहिसा का अर्थशास्त्र-६ (२८४/८, दिस), २५० अहिसा का अर्थशास्त्र-७ (२८५/९, जन), २५१ सरलीकरण की मुश्किले (२८६/१०, फर), २५२ हिसा मे हिस्सेदारी (२८७/११, मार्च), २५३ विज्ञान अहिसक मोड (२८८/१२, अप्रैल)।

वर्ष २५ (मई, १९९५ से अप्रैल, १९९६) : २५४ चूक रहे है हम लगातार (२८९-९०/१-२, मई-जून), २५५ आखिर कब तक ? (२९१/३,जुलाई), २५६ शर्म आनी चाहिये हमें (२९२/४, अग), २५७ गुस्से मे है समाज (२९३/५, सित), २५८ इक्कीसवीं सदी के लिए (२९४-९५/६-७, अक्टू -नव), २५९ जैन धर्मस्थलो को बनायें प्रकाश-स्तम्भ (२९६/८, दिस), २६० स्थितिकरण भीतर-बाहर मराठा-अक (२९७-९८/९-१०, जन -फर), २६१ सामाजिक मिजाज (२९९/११, मार्च), २६२ प्रभावना सही दिशा सामान्य अक (३००/१२, अप्रैल)। २६३ 'ओम्' का सामाजिक प्रश्न ॐ विशेषाक (३००/१२, अप्रैल)।

वर्ष . २६ (मई, १९९६ से जनवरी, १९९७) · २६४ सफर लम्बा है (३०१/१, मई), २६५ रीढ़ को खतरा (३०२/२, जून), २६६ पर्युषण अग्निपरीक्षा (३०३/३, जुलाई), २६७ धार्मिक होने का अर्थ (३०४-५/४-५, अग -सित), २६८ पारदर्शिता जरूरी (३०६/६, अक्टू), २६९ जयघोषों मे कैद समाज (३०७/७, नव), २७० जैनसाहित्य अनुपात का प्रश्न (३०८/८, दिस), २७१ कद कम होना एक बारूबली का (३०९/९, जनवरी, '९७)।

कोष्टक मे पहली संख्या पूर्णाक की है और उसके बाद की सख्या सबन्धित वर्ष के अक की है।

तीर्थंकर

विचार-मासिक; सद्विचार की वर्णमाला में सदाचार का प्रवर्तन

विगत २५ वर्षों से नियमित प्रकाशित/विविध विशेषांकों के लिए बहुचर्चित

संपादक : डॉ. नेमीचन्द जैन

वार्षिक शुल्क · **पचास रुपये;** द्विवार्षिक **पिच्यानवे रुपये;**

आजीवन **चार सौ रुपये**

शुल्क मनीऑर्डर अथवा बैक ड्राफ्ट 'तीर्थकर' के नाम से भेजे।

प्रबन्ध सपादक, **'तीर्थंकर'**
६५, पत्रकार कॉलोनी, इन्दौर - ४५२००१ (म.प्र.)

तीर्थंकर

विगत २५ वर्षों की सजिल्द फाइलें

वर्ष १, २, ३, ४ (अपूर्ण), प्रत्येक का मूल्य रु ३०.००

वर्ष ५ से २५ तक, प्रत्येक का मूल्य रु. ६०.००

सजिल्द फाइलो के सपूर्ण सेट का मूल्य रु. १,३५०.००

रजिस्ट्री चार्ज हर फाइल रु. १२.००, इसके बाद प्रति फाइल रु. २.०० अतिरिक्त, ट्रान्सपोर्ट द्वारा भजने पर ट्रान्सपोर्ट एव पैकिग चार्जेज रु ६०.००।

वी.पी.पी. नही की जाएगी।

कृपया अग्रिम मूल्य मनीऑर्डर अथवा बैक ड्राफ्ट **'हीरा भैया प्रकाश** नाम से भेजे।

प्रबन्धक, **हीरा भैया प्रकाशन**
६५, पत्रकार कॉलोनी, इन्दौर - ४५२००१ (म.प्र.)